

मनु शर्मा



# कृष्ण की उर्गात्मकथा

॥ खांडव दाह ॥



प्रभात

# कृष्ण की आत्मकथा-5

## खांडव दाह

मनु शर्मा



प्रभात प्रकाशन, दिल्ली  
ISO 9001:2008 प्रकाशक



## आत्मकथ्य

**जी**वन को मैंने उसकी समग्रता में जीया है। न मैंने लोभ को छोड़ा, न मोह को; न काम को, न क्रोध को; न मद को, न मत्सर को। शास्त्रों में जिनके लिए वर्जना थी, वे भी मेरे लिए वर्जित नहीं रहे। सब वंशी की तरह मेरे साथ लगे रहे। यदि इन्हें मैं छोड़ देता तो जीवन एकांगी हो जाता। तब मैं यह नहीं कह पाता कि करील के कुं जों में रास रचानेवाला मैं ही हूँ और ब्रज के जंगलों में गायेँ चरानेवाला भी मैं ही हूँ। चाणूर आदि का वधक भी मैं ही हूँ और कालिय का नाथक भी मैं ही हूँ। मेरी एक मुट्ठी में योग है और दूसरी में भोग। मैं रथी भी हूँ और सारथि भी। अर्जुन के मोह में मैं ही था और उसकी मोह-मुक्ति में भी मैं ही था।

यह सब इसलिए हो सका कि मैंने अपनी उस अस्मिता को पहचाना था, जो जन्म के साथ महांधकार की कारा में मुझे ज्योति किरण की तरह दिखाई दी थी। जब मेघ दहाड़ते रहे, यमुना हाहाकार करती रही और तांडव करती प्रकृति की विभीषिका किसीको कँपा देने के लिए काफी थी, तब भी मैं अपने पूज्य पिता की गोद में किलकारी भरता रहा। तब से नियति न मुझपर पूरी तरह सदय रही, न पूरी तरह निर्दय। मेरे निकट आया हर हर्ष एक संघर्ष के साथ था। मेरा हर प्रभाव टकराव के रास्ते ही आगे बढ़ा।

मैंने इन स्थितियों को कभी नकारा नहीं और न कभी इनसे मुँह मोड़ा। मैंने हर टकराव को चूमा। हर संघर्ष को गले लगाया। मैंने वृक्षों में स्वयं को अश्वत्थ (पीपल) माना। आखिर क्यों? मैं स्वयं को अमृत जैसे फलों से लदा रसाल कह सकता था। देववृक्ष देवदारु कह सकता था। साधारण तौर पर अश्वत्थ तो किसी काम का नहीं। अश्वत्थ काष्ठ तो यज्ञ की अग्नि भी हवि में स्वीकार नहीं करती। इसके फल न हमारे खाने योग्य और न इसकी लकड़ी जलाने लायक। फिर मैंने स्वयं को अश्वत्थ क्यों कहा?

निश्चित ही उसकी जिजीविषा मुझे अद्भुत लगी। हर परिस्थिति में उसके पास जीने की शक्ति है। न वायु की चिंता है, न जल की। मौसम अनुकूल नहीं, कोई परवाह नहीं। मिट्टी नहीं मिली तो पत्थर पर जम लिया। उखाड़कर यदि फेंक दिया गया तो जहाँ गिरा, वहीं अपनी जड़ जमा ली। मैंने अश्वत्थ में अपनी वही जिजीविषा देखी, जिसको नियति ने मथुरा से उखाड़कर जब समुद्र में फेंक दिया तब वहाँ भी द्वारका के रूप में दृढ़ता से जम गई।

## एक

**ज्यों** -ज्यों स्वयंवर का दिन निकट आता गया, राजनीति गरमाती गई। रोज कोई-न-कोई अफवाह उड़ती रही— और एक समय ऐसा आया कि अफवाहों के जंगल में सत्य भटकता दिखाई दिया। ऐसे में सत्य तक पहुँचना बहुत मुश्किल था। इस समय कांपिल्य में मँडरा रहे शीतयुद्ध के बादल भी क्षण-क्षण अपना रंग बदलते रहे।

हमी लोगों में आपस में काफी छितराव था। मेरे मित्र अलग, छंदक अलग और मेरे गुप्तचर अलग वास्तविकता की खोज में लगे थे। जहाँ कुछ भी सूचना मिलती, वे तुरंत उससे मुझे अवगत कराने की चेष्टा करते।

एक प्रहर दिन चढ़ा होगा। मैं अपने पूजन आदि से निवृत्त होकर बाहर निकलने के लिए तैयार हो रहा था कि एक गुप्तचर चुपचाप मेरे शिविर में आ गया।

“कोई विशेष समाचार?” उसको देखते ही मैं बोला।

पहले तो वह चुप था; जैसे वह सोच रहा हो कि यह बात बताऊँ तो बताऊँ कैसे? फिर जोर देने पर उसने बताया, “आज प्रातः गंगा किनारे पांचाली कर्ण से मिलने गई थी।”

“क्या वह अकेली थी?”

“नहीं, उसका सबसे छोटा भाई सुमित्र भी साथ में था।”

इतना सुनना था कि मैं सोच में पड़ गया—हो-न-हो, कोई नई राजनीति जन्म ले रही है। मेरे मस्तिष्क में छाया कुहासा अब और घना होने लगा। मैंने तुरंत दूसरा प्रश्न किया, “तुमने यह सूचना कहाँ से प्राप्त की?”

“मैंने यह सूचना कहीं से प्राप्त नहीं की, मैं स्वयं साक्षी रहा हूँ।” इसी क्रम में उसने बताया—“प्रातःकाल जब मैं यों ही राजमार्ग पर विचरण कर रहा था, तभी बड़ी व्यग्रता से दौड़ता हुआ उसका सारथि दिखाई दिया। मैं अभिवादन कर उसे रोकते हुए बोला, ‘मैं भी स्वयंवर देखना चाहता हूँ।’ तब उसने कहा, ‘कल देख लेना।’

“‘मैं बहुत दूर से आया हूँ। क्या मेरे लिए यह संभव होगा?’ मैं बातों में उसे उलझाना चाहता था; पर शीघ्र ही वह मेरे जाल से छूटकर भागा, ‘मुझे इस समय जल्दी है। फिर मिलना।’

“‘पर कहाँ कब?’ मैं चिल्लाता रहा और वह भाग गया। मेरे कुतूहल ने उसका पीछा किया और किसी तरह मैंने पता लगा लिया कि पांचाली गंगातट पर गिरिजा-पूजन को जाने वाली है।”

गुप्तचर ने आगे बताया, “मैं वहीं से गिरिजा मंदिर की ओर बढ़ गया। मेरे पास कोई वाहन नहीं था। मैं पैदल ही चला। शीघ्रता में राजपथ छोड़कर पगडंडियों से आगे बढ़ा। थोड़ी देर बाद, बहुत दूर से मुझे पांचाली का रथ उस ओर जाता दिखाई दिया।

“गिरिजा मंदिर से पश्चिम, कुछ दूरी पर ही मैं झाड़ियों में चुपचाप बैठ गया। यहाँ से ठीक सामने थोड़ा बाएँ हटकर कर्ण गंगा में स्नान करता दिखाई दे रहा था। थोड़ी दूर पर ही बालुका के दूहे के उस पार उसका रथ भी खड़ा था।”

“क्या वह अकेला था?” मेरी जिज्ञासा और बढ़ी।

“सारथि के अतिरिक्त और कोई नहीं था।” गुप्तचर ने बताना जारी रखा—“वहाँ से गिरिजा मंदिर भी दिखाई दे रहा था। पांचाली गिरिजा-पूजन के बाद अपने रथ की ओर नहीं गई। मुझे और भी आश्चर्य हुआ। वह सीधे वहाँ आई, जहाँ कर्ण स्नान कर रहा था। मुझे तो ऐसा लगा कि वह वहाँ आने के लिए ही योजना बनाकर आई थी।”

“फिर क्या हुआ?” मेरी जिज्ञासा ने पुनः जोर मारा।

“द्रौपदी कर्ण को स्नान करता हुआ देखती रही। उसे देखने से ऐसा लग रहा था कि उसकी अद्भुत शरीरयष्टि के साथ पांचाली की दृष्टि जैसे बँध-सी गई थी। कटि तक जल में डूबा उसका निर्वसन व्यक्तित्व सचमुच बड़ा आकर्षक था, बिल्कुल कामदेव का अवतार। उसके स्वर्णिम कवच एवं कुंडल सूर्य की प्रातःकालीन किरणों से एकदम भभक रहे थे और आँखें बंद कर सूर्य को अर्घ्य देते हुए ‘आदित्य हृदयम्’ का पाठ करता कर्ण इंद्र की आराधना में दत्तचित्त किसी गंधर्व जैसा लग रहा था।” गुप्तचर क्षण भर के लिए रुका। फिर बोला, “कर्ण के इतने मोहक व्यक्तित्व को मैंने पहले कभी नहीं देखा था। यदि आप भी उसे देखते तो देखते रह जाते।”

“यह तो ठीक है।” मैं शीघ्र ही निष्कर्ष पर पहुँचना चाहता था—“उस समय पांचाली क्या कर रही थी?”

“उसकी ललचाई दृष्टि कर्ण के व्यक्तित्व को स्पर्श कर रही थी।”

“यह क्या कह रहे हो?” मेरी आवाज कुछ तेज हुई।

उसे लगा, जो मुझे नहीं कहना चाहिए, वह मैं कह गया। उसकी दबी जबान ने कहा, “क्षमा कीजिएगा, मैंने झूठ नहीं कहा।”

“आगे क्या हुआ?”

“पाठ समाप्त करने के बाद पांचाली ने कर्ण की ओर देखा। उसकी दृष्टि से भी लगा कि उसने भी ऐसी अनिंद्य सुंदरी को इसके पहले कहीं नहीं देखा है। वह भी देखता ही रह गया। वह तो यदि हवा का तेज झोंका न आता, लहरें उसे न झकझोरतीं तो प्रेम का यह मूक संभाषण शायद शीघ्र समाप्त न होता।”

“फिर क्या हुआ?”

“फिर कर्ण ने कहा, ‘मैंने इसके पहले आपको कहीं देखा नहीं है। आप कोई अप्सरा तो नहीं हैं?’ इतना सुनते ही पांचाली खिलखिलाई।”

अब उस गुप्तचर ने एक नादान बच्चे की तरह मुझसे पूछा, “आपने कभी खिलखिलाती हुई पांचाली को देखा है?”

मैं क्या उत्तर देता! केवल मुसकराता रहा। मुझे स्पष्ट लगा कि पांचाली के रूप का जादू कर्ण पर अवश्य प्रभाव कर गया होगा।

मैंने कहा, “और कुछ बताओगे कि मौन संभाषण तक ही अपने को सीमित रखोगे?”

तब उसने कहा, “इसके बाद कर्ण ने पूछा, ‘अच्छा यह बताओ, सुंदरी कि तुम चाहती क्या हो?’

“पांचाली अब भी मौन उसे अपलक निहारती रही। सुमित्र बराबर उसे कुछ कहने को विवश कर रहा था, तब भी वह कुछ नहीं बोली। तब सुमित्र ने ही झुँझलाकर कहा, ‘यदि नहीं बोलती हो, तो चलो।’ पांचाली चुपचाप अपने रथ की ओर लौट आई।”

इतना कहकर गुप्तचर ने अपना निष्कर्ष सुनाया, “मुझे तो दाल में कुछ काला लगता है।”

मैं कुछ बोलने की स्थिति में नहीं था। मुझे लगा कि एक नया ज्वालामुखी अप्रत्याशित रूप में जन्म ले रहा है। फिर मेरी बनाई भूमि काँपने लगेगी। व्यग्रता में मेरे मुख से निकला, “इस समय छंदक कहाँ है?”

“वे तो कहीं दिखाई नहीं दिए। हाँ, कल रात में मैंने उन्हें शकुनि मामा के शिविर में देखा था।”

‘शकुनि मामा के शिविर में!’ मैं सोचने लगा, ‘तब हो-न-हो, उसी की कोई राजनीति हो।’ संभावनाओं के हिलोरों में मेरे चिंतन का जहाज थपेड़े खाने लगा।

“अच्छा, अब तुम जा सकते हो।” गुप्तचर को निर्देश देते हुए मैंने कहा, “पांचाली के महल पर विशेष दृष्टि

रखना।”

वह चला गया। मैं सोचने लगा, अब एक दिन रह गया है। सारी व्यवस्था पूरी हो गई है। ऐसे में ये नए षड्यंत्र तो पूरा परिदृश्य ही बदल देंगे। सारी योजना धराशायी हो जाएगी। अभी तक तो दुर्योधन या जरासंध द्वारा पांचाली के अपहरण की ही समस्या थी। हमें उन्हीं से जूझना था। अब कर्ण को लेकर एकदम रुक्मिणी जैसी स्थिति बन गई है। जैसा गुप्तचर ने बताया है, उसके अनुसार तो पांचाली स्वयं कर्ण के साथ जा सकती है। यह स्थिति बड़ी भयावह होगी। इसका विरोध मैं किस मुँह से कर पाऊँगा?

वस्तुतः मैं बड़ा उद्विग्न था। मुझे लगा कि उद्वेलित सागर के बीच मैं एक ऐसी चट्टान पर खड़ा हूँ, जो किसी भी समय खिसक सकती है। समय ऐसा रंग बदलेगा, इसकी मुझे कल्पना तक नहीं थी।

इस बीच कई लोग मेरे शिविर में आए और मेरी व्यग्र मानसिकता को छूकर लौट गए। आज मेरी मुसकराहट भी सूख गई थी। फिर मेरी मानसिकता पर परदा कौन डालता? अंत में भैया से रहा नहीं गया। वे बोल ही पड़े, “इतने व्यग्र क्यों हो?”

“एक नया धूमकेतु पांचाल के आकाश में उगनेवाला है।”

“तो उगने दो।” उन्होंने बड़े सहजभाव से कहा, “जिसपर हमारा अधिकार नहीं, उसके लिए हम क्यों चिंतित हों?”

“यदि ऐसा होता तो कोई चिंता की बात नहीं थी; पर लगता है, वह मेरी बंद मुट्ठी से छूटकर पांचाल के आकाश में उगने जा रहा है।” मैंने रहस्य को बनाए रखने के लिए प्रतीकात्मक भाषा का उपयोग किया।

भैया ने समझ लिया कि कन्हैया मुझसे भी कुछ स्पष्ट कहने की स्थिति में नहीं है। वे चुपचाप चले गए।

अब मैंने शिविर में रहना उचित नहीं समझा; क्योंकि कोई भी मुझसे पूछता तो मैं क्या उत्तर देता। मैं चुपचाप पैदल ही निकल पड़ा। पर किधर? किस ओर? मुझे कुछ पता नहीं। बस, मुझे इतना ज्ञान था कि मैं राजभवन की ओर बढ़ रहा हूँ।

फिर संयोग मेरे दाहिने हुआ। छंदक आता दिखाई दिया। उसने आते ही कहा, “बड़ा विचित्र हो गया, कन्हैया!”

वह भी काफी व्यग्र था। वह मुझे निकट के वृक्ष की आड़ में ले गया।

“मैंने खेली तो थी दूर की गोटी, पर पासा उलटा पड़ा।” वह वृक्ष के नीचे आकर धीरे से बोला।

“क्या हुआ?” मैंने पूछा तो अवश्य, पर मेरी जिज्ञासा मुझे मिली मेरी सूचना के संदर्भ में ही थी।

उसने बताना आरंभ किया—“कल शकुनि मामा से दो-तीन बार मेरी बातें हुई। उनको आशंका थी कि हो-न-हो, इस प्रतियोगिता में कर्ण ही विजयी हो।”

“तो?”

“उसने शंका की कि कर्ण के विजयी होने पर वह द्रौपदी दुर्योधन को दे देगा? और यदि वह देना भी चाहे तो क्या द्रौपदी उसके लिए तैयार होगी? उसकी इस मानसिकता से स्पष्ट लगा कि हम लोग भी कर्ण को काटना चाहते हैं और शकुनि भी।” छंदक कहता गया—“इस कार्य में शकुनि मुझे अपने साथ लगा। हम दोनों ने मिलकर एक योजना बनाई।”

“केवल स्पर्धा से काटने के लिए तुमने योजना बनाई!” मैंने अपना माथा ठोंका—“अरे मूर्ख! इसके लिए तो मैंने पहले से व्यवस्था कर ली थी। शायद तुम्हें संकेत भी दिया था।”

उसके मौन ने स्थिर दृष्टि से मुझे निहारकर अपनी अनभिज्ञता बताई।

“अच्छा, तो फिर क्या हुआ?”

“हम लोगों ने सोचा कि क्यों न हम कर्ण की प्रतिज्ञा से लाभ उठाएँ। मामा ने ही बताया कि कर्ण प्रातःकाल गंगास्नान के बाद जल में ही खड़े होकर ‘आदित्य हृदयम्’ का पाठ करता है। उस समय उसके पास कोई नहीं रहता। ऐसे समय यदि कोई आ जाए और कर्ण से कुछ माँगे, तो वह उसे कभी निराश नहीं करता। ऐसी स्थिति में यदि पांचाली उसके पास जाए और वह उससे स्पर्धा में भाग न लेने का वचन माँग ले तो वह अवश्य दे देगा।” छंदक ने कहा, “मुझे भी बात समझ में आ गई। अब योजना बनाने का काम शकुनि मामा ने मेरे ऊपर छोड़ दिया और कहा कि देखो, तुम्हारी इस योजना की भनक भी किसी को न लगे, दुर्योधन को तो बिल्कुल ही नहीं।”

“और वहाँ तक द्रौपदी को ले जाने की तुमने सारी योजना गढ़ दी!” मैं बड़ी वितृष्णा से बोला, “तुम अपने जीवन में यदि किसी भूल के लिए सबसे अधिक याद किए जाओगे, तो शायद वह यही होगी।” मन-ही-मन मैं सिर धुनकर रह गया। बोला, “फिर क्या किया तुम लोगों ने?”

“हम पांचाली के छोटे भाई सुमित्र से और पांचाली की दासी जया से मिले। उनसे कहा, ‘हम लोगों का प्रयत्न तो है ही पांचाली को उचित वर मिले; पर इसके लिए तुम्हें देवी-देवताओं से विशेष अर्चना करनी पड़ेगी। सबकुछ अनुकूल होने पर भी जनकनंदिनी तक को अभीष्ट वर पाने के लिए गिरिजा की अर्चना करनी पड़ी थी। इसलिए कल प्रातः पांचाली को गिरिजा-पूजन के लिए जाना चाहिए। उनके आशीर्वाद के बिना अभीष्ट वर पाना थोड़ा कठिन होगा।’ ”

“तब उन दोनों ने क्या कहा?”

“उन्होंने कहा कि कन्हैया से तो बहन आशीर्वाद ले चुकी है।”

इस बार मेरी खीज मुसकराहट में बदली। मैंने व्यंग्य करते हुए कहा, “तुमने मेरे आशीर्वाद के ऊपर गिरिजा माँ के आशीर्वाद को मढ़ने की चेष्टा की! चलो, अच्छा ही किया।”

छंदक ने मेरा व्यंग्य समझा और तुरंत मेरे चरणों की ओर झुकते हुए बोला, “मुझसे बड़ी भूल हुई, प्रभु! क्षमा करो।”

“हाँ, तो फिर क्या हुआ?” मैंने मुसकराते हुए ही बात आगे बढ़ाई।

छंदक ने बताया—“मैंने जया को समझाया कि गिरिजा-पूजन के लिए पांचाली को सलाह दे और तैयार करे तथा उसे प्रातःकाल गंगा के किनारेवाले गिरिजा मंदिर में चुपचाप ले जाए। और सुमित्र से कहा कि तुम साथ रहना। जब पूजन समाप्त हो जाए, तब उसे बाद की योजना चुपचाप कान में बताना। उसे कर्ण की प्रकृति और संकल्प से भी अवगत कराना। संयोग से वह मंदिर भी पास ही है। मैंने सुमित्र को अच्छी तरह समझाया कि द्रौपदी को लाकर मौन वहीं खड़ा रखना, जहाँ कर्ण गंगा में खड़ा होकर पाठ कर रहा होगा। जब वह पाठ करने के बाद कुछ माँगने को कहे, तो तुम स्वयंवर में भाग न लेने का वचन माँग लेना।”

“और यही वह नहीं माँग सकी।” मैंने झुँझलाते हुए कहा, “सुमित्र ने बार-बार उसे माँगने के लिए प्रेरित किया, फिर भी वह मौन रह गई।”

“यह आपको कैसे मालूम?” छंदक चकित था मेरी जानकारी पर।

मैंने हँसते हुए कहा, “इस समय तुममें जनमा आश्चर्य जब समाज में जनमा था, तभी तो मैं भगवान् हो गया। मैंने सदा उस आश्चर्य को बनाए रखा है और इस समय भी बनाए रखूँगा।”

छंदक पहली बार मुझे अपराध-बोध से ग्रस्त लगा। पर यह अपराध कैसा? यह तो मात्र भूल है।

“तुमने अपनी जान में तो मेरा काम ही हलका किया था; पर यदि पासा ही उलटा पड़ा तो तुम क्या कर सकते हो? यह सारा दुःख इसलिए है कि तुमने कर्म के साथ-ही-साथ फल पर भी अपना अधिकार समझा था। उसे मुझपर

छोड़ न सके।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “उसे अब तो मुझपर छोड़ दो।”

फिर भी वह कुछ नहीं बोला। उसके चेहरे पर कोई प्रतिक्रिया भी नहीं दिखाई दी। यह स्थिति मुझे घातक लगी; क्योंकि पश्चात्ताप मनुष्य की क्रियमाण शक्ति को पंगु बना देता है। और इस समय उसकी सक्रियता की मुझे सबसे अधिक आवश्यकता थी। मैंने उसे अगला कार्यक्रम बताते हुए कहा, “अब इस प्रसंग को छोड़ो। भगवान् की इसे भी कृपा ही मानो कि इस संकट का आभास हमें यथासमय हो गया। यदि ऐन मौके पर ही हमें जानकारी मिलती तो हम क्या कर पाते! अब इसका ध्यान रखो कि मात्र एक दिन स्वयंवर को रह गया है; जो कुछ जरासंध को करना होगा, आज रात में वह कर डालेगा।”

“क्या आपको विश्वास है कि वह कुछ करेगा अवश्य?” छंदक बोला।

“यदि उसे कुछ करना न होता तो मगध से और सेना बुलाने की क्या आवश्यकता थी?”

“पर सहदेव तो कल मिला था, उसने मुझे कुछ नहीं बताया!”

मुझे हँसी आ गई—“षड्यंत्र डंका पीटकर नहीं किए जाते।” मैंने उसे यह भी बताया—“आज संध्या या रात्रि के प्रथम प्रहर तक मेघसंधि के नेतृत्व में उसकी वाहिनी यहाँ आ जाएगी।”

“फिर होगा क्या?” छंदक ने चिंता व्यक्त की।

“होगा क्या? मैं आज संध्या से पूर्व ही उससे मिलना चाहूँगा।” मैंने मुसकराते हुए कहा और छंदक मेरा मुँह देखता रह गया।

मैंने उसके विस्मय की अग्नि में मुसकराहट की एक आहुति और दी—“जानते हो, मैं उससे अकेला ही मिलूँगा।”

“ऐसा मत कीजिए।” वह एकदम घबरा गया—“बड़ा खतरनाक व्यक्ति है वह।”

“क्या मृत्यु से अधिक खतरनाक है वह, या महाकाल से अधिक भयंकर?” मैं इस बार थोड़ा जोर से हँसा—“खैर, इस बात की चिंता तुम्हें नहीं करनी है। इस समय तुम्हारा प्रथम कर्तव्य है कि तुम कौरव शिविर में अच्छी तरह प्रचारित करो कि आज संध्या डूबते-डूबते मगध की विशाल वाहिनी आ रही है। इससे कौरवों में खलबली मचेगी ही, साथ ही कर्ण में यदि द्रौपदी के प्रति कोई आत्मीयता पैदा हुई होगी और वह इस संदर्भ में कोई योजना बना रहा होगा, तो वह भी खटाई में पड़ जाएगी।”

“पर वह स्वयंवर में तो उपस्थित होगा ही।”

“होने दो।” मैंने कहा, “गत घटना से तो संकट यह उत्पन्न हो गया है कि कहीं द्रौपदी स्वयं कर्ण का वरण न कर ले और कर्ण उसे लेकर कहीं चल न दे। तब कर्ण को कौन रोक सकेगा?”

छंदक के गंभीर होने के पहले ही मैंने कहा, “इन बातों को छोड़ो। पहले जो मैंने कहा है, उसे करो।”

इतना कहने के बाद मैंने शीघ्र ही रथ मँगवाया और छंदक को साथ लेकर चल पड़ा। मैं और छंदक सीधे पांचाली के प्रासाद की ओर बढ़ चले। जब प्रासाद कुछ दूर रह गया, तब मैंने छंदक को रथ से उतार दिया और स्वयं प्रासाद में अकेला पहुँचा।

मैं धड़धड़ाता हुआ पांचाली के प्रकोष्ठ की ओर बढ़ा। बिना किसी से कुछ पूछे, बिना किसी से कुछ कहे, बढ़ता गया। अपने लहराते उत्तरीय के पंखों पर मैं उड़ा चला जा रहा था। जिस किसी ने भी मुझे देखा, उसने अप्रत्याशित झंझा के झोंके की तरह मेरा स्वागत किया।

पांचाली के कक्ष में पहुँचने के पूर्व ही मुझे उसकी वीणा के स्वर सुनाई पड़े। ये द्रौपदी के आह्लाद के द्योतक थे। मैं उसके कक्ष में घुस गया। पहरे पर खड़ी दासियाँ मुझे देखती रह गईं। मैंने देखा, उसकी अंगुलियाँ वीणा के



तारों से खेल रही हैं। आँखें बंद हैं। अपने में खोई, इतनी तन्मय मैंने पांचाली को कभी देखा नहीं था। अद्भुत था! सामने मैं खड़ा था और वह मुझे भी नहीं देख पा रही थी। वह किसी कल्पनालोक में थी। उसकी परम प्रसन्न आकृति पर एक अपूर्व संतोष का भाव था। उसके लिए कितना कष्टदायक होगा इस स्वप्निल लोक से ढकेलकर उसे धरती पर लाना। मैं काफी देर तक मौन ही खड़ा रहा और वह वैसे ही वीणा बजाती रही।

इस बीच अल्पाहार लेकर उसकी परिचारिका जया ने भी दूसरे द्वार से प्रवेश किया। अपनी स्वामिनी को तन्मय देखकर वह भी कुछ नहीं बोली। मुझे देखकर मुसकराई अवश्य। उसकी कुटिल मुसकराहट मानो कह रही हो, जब अभीष्ट मिल जाता है, तब मन की यही स्थिति होती है।

कुछ समय और बीता। जया ने ही खाँसकर उसकी तंद्रा तोड़ी। मुझे देखकर उसके मुख से अचानक निकला—“अरे आप!” उसने तुरंत वीणा हटाकर किनारे रख दी और खड़ी हो गई। इस समय मेरी उपस्थिति उसके लिए अयाचित, असोचित और अप्रत्याशित थी। उसने कहा भी—“आपका आना तो मैं जान भी न सकी।”

“क्योंकि तुम यहाँ थीं ही नहीं।” मैंने कहा। एक सलज्ज मुसकराहट उसके अधरों पर उभर आई।

“मैंने सोचा, यहाँ से जाने के पूर्व तुम्हें बधाई देता चलूँ।” मैंने बड़े रहस्यमय ढंग से बात आरंभ की; क्योंकि उसकी मानसिकता को मुझे गहरा आघात देना था।

वह मेरे कथन पर अचंभित थी।

“आप जा रहे हैं, मैं कुछ समझ नहीं पाई!” उसने कहा।

“इसमें समझना क्या है!” मैंने अपनी मायावी मुसकराहट उगाई—“मैंने सुना है, तुम्हारा स्वयंवर हो चुका। जब नाटक ही समाप्त हुआ तब द्रष्टा की आवश्यकता क्या!”

उसके विस्फारित नेत्र मानो कह रहे थे—‘यह मैं क्या सुन रही हूँ?’ उसने कई बार और बड़ी गंभीर दृष्टि से जया की ओर देखा भी। मुझे लगा कि उसे संदेह हो रहा है कि जया ने सारी बातें मुझे बताई हैं।

मैंने तुरंत उसकी शंका का समाधान किया—“तुम व्यर्थ ही जया पर शंका मत करो। इसने मुझे कुछ नहीं बताया है; पर धीरे-धीरे इस अफवाह को पंख लगने लगे हैं कि तुमने गंगा के किनारे कर्ण से कुछ न लेकर स्वयं को ही उसे दे दिया है। अब स्वयंवर का नाटक समाप्त हुआ।”

“पर नाटक के सूत्रधार तो आप ही हैं। बिना सूत्रधार के निर्देश या आशीर्वाद के नाटक समाप्त कैसे होगा?” वह कहती और मुसकराती रही।

मैंने अनुभव किया कि बात बहुत आगे बढ़ गई है। मैंने तुरंत अपनी मुद्रा बदली—“मैंने यह नाटक उस द्रौपदी के लिए नहीं रचा था, जो आज प्रातः गंगातट पर थी या जिसका अवशेष अब भी मेरे सामने उपस्थित है। इस नाटक की रचना तो उस याज्ञसेनी के लिए की गई थी, जो प्रतिशोध की अग्नि से पैदा हुई थी; जिसकी ऊष्मा का अनुभव आज भी पूरा आर्यावर्त कर रहा है। इस नाटक की योजना प्रतिहिंसा की धधकती हुई उस ज्वाला के लिए की गई थी, जो महाराज द्रुपद की छाती में निरंतर जलती रहती है।”

द्रौपदी एकदम चुप, हजार चुप।

मैं बोलता रहा—“अब मैं तुम्हें आशीर्वाद देकर महाराज को दिए वचनों के प्रति विश्वासघात तो नहीं कर सकता।” मैं फिर जोर से हँसा—“केवल नाटक समेट सकता हूँ; क्योंकि मैं सूत्रधार हूँ।”

फिर मैं देर तक हँसता रहा—“क्या सोचा था द्रुपद महाराज ने और क्या होने जा रहा है!”

मेरी हँसी की झंझा में उड़ चली अपनी सारी प्रेमिल मानसिकता को पांचाली ने बड़े साहस के साथ एक बार फिर समेटा—“क्या यह नहीं हो सकता कि कर्ण मेरे पिता के प्रतिशोध का दायित्व ले?”

“वह तो पूरे समाज से प्रतिशोध के लिए बैठा है। जब कोई उसे ‘सूतपुत्र’ कहता है, वह तिलमिला उठता है। उसकी अंजुलि तो अपनी ही आग से भरी है, दूसरे की आग की न तो उसे आवश्यकता है और न उसकी अंजुलि में जगह है।”

द्रौपदी फिर चिंता में डूब गई। अब उसने बड़े शांतभाव से सुबह की घटना बतानी आरंभ की—“बात यह हुई कि लोगों ने कहा कि अभीष्ट वर पाने के लिए जब जनकनंदिनी ने गिरिजा-पूजन किया था, तब मुझे भी इस उद्देश्य के लिए गिरिजा माँ की पूजा करनी चाहिए।”

“यह सलाह तो उत्तम थी।” मैंने कहा।

“इसीलिए मैं गिरिजा-पूजन करने गई थी। लौटते समय कर्ण पर दृष्टि पड़ी। मैं तो उसे पहचानती भी न थी।”

“और न वह तुम्हें पहचानता था।” मैंने बीच में ही टोका—“फिर भी तुमने समझा कि गिरिजा माता ने मुझे वर दे दिया।”

उसके मौन चेहरे पर आत्मग्लानि की आभा उभर आई। उसके सलज्ज नेत्र धरती देखने लगे। वह कुछ उखड़ती आवाज में बोली, “मैंने ऐसा तो नहीं सोचा था; पर उसके भव्य व्यक्तित्व को देखकर कुछ शंका हो चली थी।” इस स्वीकारोक्ति के बाद वह फिर मौन हो गई। मैं भी चुप ही था।

जया ने कहा, “आप लोग अल्पाहार ग्रहण करें।”

द्रौपदी उठकर स्वर्ण चषक में मधुमिश्रित दुग्ध उड़ेलने लगी। अभी चषक आधा भी नहीं भरा था कि मैंने उसे रोक दिया, “बस-बस, तुम्हें तो ज्ञात ही है कि मुझे दूध अधिक अच्छा नहीं लगता। मेरा प्रिय अल्पाहार नवनीत है।” वह मुसकराई और फल काटने लगी।

मैंने देखा कि इस बीच भी उसकी आकृति के भाव बदलते रहे। वह अवश्य कुछ सोच रही थी। शीघ्र ही उसका चिंतन मुखर हुआ—“क्या सचमुच कर्ण सूतपुत्र है?”

“इसमें भी कोई संदेह है! वह घोषित सूतपुत्र है। वह स्वयं को ‘राधेय’ कहता भी है। राधा को शायद तुम नहीं जानतीं, वह महाराज धृतराष्ट्र के सारथि अधिरथ की पत्नी है।” मैंने अनुभव किया कि मेरे इतना कहने पर भी कर्ण का व्यक्तित्व उसके मन से उतर नहीं रहा है। अब मैंने और गहरा आक्रमण आरंभ किया—“तुम्हारे पूज्य पिताजी उसे जानते हैं। अनेक बार वे उसके प्रति अपनी अनिच्छा व्यक्त कर चुके हैं। उसे तो वे निमंत्रित भी नहीं करना चाहते थे। मेरे यह कहने पर कि वह दुर्योधन का मित्र है। यदि उसे निमंत्रण नहीं गया तो हस्तिनापुर नाराज हो जाएगा। तब तुम्हारे पिताजी ने निमंत्रित किया। महान् संस्कारी, यज्ञप्रसूत अपनी दुहिता को कभी भी वे सूतपुत्र को सौंपने को तैयार नहीं होंगे, भले ही इसका परिणाम चाहे जो भी हो।”

“परिणाम क्या होगा?” दृष्टि नीची किए वह धीरे से बोली।

“यदि ऐसा हुआ तो वे अपने प्राण भी दे सकते हैं।” मैंने कहा, “उनकी मनःस्थिति कुछ ऐसी ही है।”

“ऐसा!” अब वह थोड़ा घबराई। फिर उसने पूछा, “यदि स्पर्धा उसने जीत ली, तब क्या होगा?”

“इस संदर्भ में तुम्हें अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी।” मैंने विस्तार से बताया—“पहले तो वह मंच पर चढ़ने का साहस ही नहीं करता, वह अपनी जातीय-सामाजिक स्थिति जानता है; पर अब प्रातःकालवाली घटना से उसका साहस अवश्य बढ़ा होगा। वह स्पर्धा में भाग लेने मंच पर तो आ ही जाएगा। तब तुम्हें उद्घोषित करना पड़ेगा कि मैं सूतपुत्र को नहीं वरूँगी।”

“ठीक है, यदि आप सबकी यही इच्छा है तो मैं यही करूँगी। मैं अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध एक पग भी नहीं जा सकती; क्योंकि मैं उनकी पुत्री ही नहीं, आकांक्षा पुत्री हूँ।”

“तब तुम अपनी स्थिति को समझती हो।” मैंने मुसकराते हुए कहा। मुझे स्पष्ट लगा कि पांचाली के मानस में चिपका कर्ण अब नोचकर फेंका जा चुका है। मैंने कहा, “तो तुम्हें पहले से ही अपना रुख कुछ ऐसा ही रखना पड़ेगा।” इसी क्रम में मैंने उसे बताया—“कल जब पूरी सभा सज जाएगी तब तुम्हारी सखियाँ और परिचारिकाएँ तुम्हें सजा-सँवारकर ले जाएँगी। हर उपस्थित नरेश से तुम्हारा परिचय कराया जाएगा। इसी सिलसिले में जब तुम कर्ण के सामने पहुँचना, तब उसका नाम सुनते ही अपना मुँह फेर लेना। शायद तुम्हारी इस उपेक्षा से वह मंच पर ही न आए।”

पांचाली ने मुझे बड़ी गंभीरता के साथ सुना। फिर किसी चिंतन में डूब गई।

“क्या सोच रही हो?”

“अपने अनचीन्हे, अनजाने और अदृश्य भविष्य को देखने की चेष्टा कर रही हूँ। मन अँधेरे में हाथ-पैर मार रहा है।”

“इसके लिए तुम क्यों व्यग्र होती हो? मुझपर भरोसा करो। मैं तो व्यग्र हूँ ही।” मैंने ठहाका लगाया—“अब तो तुमने गिरिजा-पूजन भी कर लिया है। अभीष्ट वर पाने की तुम्हारी संभावना काफी बढ़ गई है।”

मैं हँसता रहा। उसकी गंभीरता मेरी खिलखिलाहट के साथ पंख फड़फड़ाती रही।

□

जब द्रौपदी के भवन से बाहर निकला, सिंहद्वार से कुछ दूरी पर छंदक मेरी प्रतीक्षा करता हुआ मिला। उसके साथ उद्धव भी था। मैंने उससे पूछा, “पांडवों का कहीं पता चला?”

“अभी तक तो नहीं।” छंदक बोला, “पर आप घबराएँ नहीं। वे ठीक समय पर स्वयंवर में उपस्थित हो जाएँगे।”

“यह तुम विश्वासपूर्वक कह सकते हो?”

“मुझे तो विश्वास है ही, क्योंकि उन्होंने मुझसे विश्वासपूर्वक कहा था।” फिर मैंने पूछा, “कर्ण और द्रौपदीवाले प्रसंग में मामा की क्या प्रतिक्रिया थी?”

“मामा भी अफसोस कर रहा था। उसका कहना भी यही था कि पासा उलट गया।”

“तब अब क्या कर रहा है?”

“वह द्रौपदी से जला-भुना तो है ही, उसी के विरुद्ध प्रचार में व्यस्त है। उस समय द्रौपदी ने उसका गंभीर तिरस्कार किया था। वह अपना घायल मन तो किसी को दिखाता नहीं। लोगों से बस इतना ही कहता है कि पांचाली तो उन्मत्त सिंहनी है। जब तक उसके नख-दंत नहीं तोड़े जाएँगे, वह वश में नहीं आएगी।”

“उससे कहो कि उसको वश में करने का सपना कहीं आज रात को ही चूर न हो जाए।” मैंने कहा, “उसे बताओ कि विशाल मागधी सेना लेकर मेघसंधि आ रहा है।”

“लगता है, इसकी भनक उसे लग गई है।” छंदक बोला।

“फिर वह इसे हलके में क्यों ले रहा है?” मैंने कहा, “उसकी भी पूरी तैयारी होनी चाहिए।”

मेरी मंशा लोहे से लोहा काटने की थी। मैं मगध और हस्तिनापुर को बुरी तरह उलझा देना चाहता था। राजनीति भी यही कह रही थी।

“मगध की इस गतिविधि की सूचना महाराज (द्रुपद) को है?” छंदक ने पूछा।

“इसका मुझे ज्ञान नहीं है।” मैंने कहा, “आखिर उनकी गुप्तचर व्यवस्था तो है ही। कुछ-न-कुछ आभास तो उन्हें लगा ही होगा।”

“यदि उन्हें इसकी जानकारी न हो तो उन्हें आभास करा देना चाहिए।”

छंदक के प्रस्ताव पर मैं सोचने लगा और शीघ्र ही द्विविधा की स्थिति में आ गया। मुझे लगा कि यह खतरनाक

भी हो सकता है; क्योंकि मैं द्रुपद को शक्ति संतुलन के केंद्र में रखना चाहता था। मेरे सामने एक आशंका मुँह बाएँ खड़ी थी कि इस सूचना से भयभीत हो द्रुपद कहीं जरासंध की ओर न हलक जाएँ और प्रतिशोध की शर्त पर उससे फिर द्रौपदी का सौदा आरंभ न कर दें।

मैंने उस समय छंदक से इतना ही कहा कि मैं महाराज से मिलनेवाला हूँ। जैसी स्थिति होगी वैसा करूँगा।

उसी समय मेरे मन में एक दूसरी योजना भी आकार लेने लगी। मैंने उन दोनों से पूछा, “तुम्हारे वाहन कहाँ हैं?”

“हम इस समय पैदल ही विचरण कर रहे हैं।” छंदक बोला।

“तब आप लोग मेरे रथ पर ही आ जाइए। आपसे एक गंभीर मंत्रणा करनी है।” मैंने कहा और उन्हें तुरंत रथ पर बैठाया। मेरे दाईं ओर उद्धव था और बाईं ओर छंदक। मैं अपने शिविर की ओर बढ़ चला।

“यह तो आप लोग जानते ही हैं कि इस सारे स्वयंवर को क्या, अपने जीवन को ही द्रुपद ने एक ही दाँव पर लगाया है—और वह है उनका प्रतिशोध। इसके लिए वे कुछ भी कर सकते हैं। जरासंध की ओर भी हलक सकते हैं और दुर्योधन की ओर भी। इस प्रचार से भी वे प्रभावित हैं कि मैंने दुर्योधन को आशीर्वाद दिया है या पुष्कर के लिए मैंने या तुमने (उद्धव) उससे कोई संधि की है। इस बात को मैंने उनके मन से हटाने की बड़ी चेष्टा की है; पर अभी तक उनका मन पूरी तरह साफ नहीं हुआ है।”

“तब हमें क्या करना चाहिए?” छंदक बोला।

“इसी पर तो विचार करना है।”

“इस विषय में आपने कुछ तो सोचा होगा?”

“हाँ, सोच रहा हूँ।” मैंने मुसकराते हुए पूछा, “शिखंडी कहीं दिखाई पड़ा था?”

“हाँ, कल संध्या वह स्थूणाकर्ण के साथ विचर रहा था।” छंदक बोला।

मैं रथ पर ही जैसे उछल पड़ा।

“तब तो काम बन गया। लगता है, छंदक, नियति हमारे साथ है।” मैं प्रसन्नता में बोला।

छंदक और उद्धव दोनों मेरी बात समझ नहीं पाए। फिर भी उन्होंने कोई प्रश्न नहीं किया; क्योंकि मंत्रणा के लिए मैं उनको अपने शिविर में ले ही जा रहा था।

ज्यों ही मैं शिविर में आया, मैंने मुसकराते हुए कहा, “तुम लोगों ने एक बात पर ध्यान नहीं दिया होगा।”

“क्या?”

“जिसने लाक्षागृह को बनाया था, उस वास्तुशिल्पी का नाम कौरवों ने आज तक गोपनीय ही रखा है।”

“क्यों? पुरोचन के बारे में तो जगप्रसिद्ध है!” उद्धव ने तत्काल मेरा खंडन किया।

“तुम लोग भ्रम में हो और इसी भ्रम में पूरा आर्यावर्त है। पुरोचन तो दुर्योधन का म्लेच्छ मंत्री था। वह षड्यंत्र का सूत्रधार था। उसने लाक्षागृह बनवाया था, पर बनाया नहीं था।” इतना कहकर मैं हँसने लगा।

उनके लिए यह एकदम नई बात थी। वे लोग भी बड़े चक्कर में पड़े, आखिर मैं सोच क्या रहा हूँ? उनका विस्मय एकटक मुझे देखता रहा।

“बताइए, किसने बनाया था?” मैंने ही पुनः प्रश्न किया और मैंने ही कहा, “अरे, जब मैं इसका पता नहीं लगा पाया, तब तुम लोगों को क्या पता होगा! यह ठीक है कि आग पुरोचन ने ही लगवाई थी और वह उसमें जल मरा था। नियति ने तत्क्षण दंड दिया था; पर पुरोचन ने लाक्षागृह को बनाया नहीं था।”

“यदि आपकी बात मान भी ली जाए तो लाक्षागृह के निर्माता का नाम इतना गोपनीय रखने में कौरवों की क्या नीति

हो सकती है?” छंदक बोला।

“हो सकता है, उसका नाम विदुर चाचा को ज्ञात हो।” उद्धव बोला।

“यही कौरवों के लिए भी उचित था और यही शिल्पी के लिए भी; क्योंकि यदि कहीं यह पता चल जाता कि इसी शिल्पी ने लाख का भवन बनाया था, जिसमें निर्दोष पांडव बेचारे जल मरे, तो जनता उसे कच्चा चबा जाती और राजद्रोह का ऐसा ज्वालामुखी फूटता कि धृतराष्ट्र का सिंहासन भी लपटों के बीच आ जाता। और रह गई विदुरजी की बात, तो उनसे मेरी कोई बात नहीं हुई है—और मेरा विश्वास है, उन्हें भी ज्ञात नहीं होगा। यह भी हो सकता है कि औरों की तरह उनका ध्यान भी झर न गया हो।”

सब मुझे देखते रहे। मैं बोलता जा रहा था—“इतना बड़ा पाप करने के बाद षड्यंत्र का एक सूत्र भी कौरवों ने खुला नहीं छोड़ा होगा। पुरोचन तो जल मरा, यह कौरवों के लिए अच्छा ही हुआ; पर जिस शिल्पी ने लाक्षागृह को बनाया होगा, उसे भी कौरवों ने जीवित नहीं छोड़ा होगा—और यदि जीवित भी होगा तो कारागार में बंद, हजार प्रहरियों के भीतर। लाक्षागृह का निर्माता छुट्टा घूमता रहे और दुर्योधन तथा मामा चैन की नींद लें, यह असंभव था।” इसी आवेश में मैंने यह भी कह डाला कि “इतना बड़ा पाप यदि मैं करता, तो सुरक्षा की दृष्टि से मुझे भी ऐसा ही करना पड़ता।”

अब भी सब चकित मेरा मुख ही देखते रहे।

“तुम लोग इतने चकित क्यों हो? सत्ता की महत्वाकांक्षा क्रूरता के ज्वालामुखी में रहती है।”

“तब अब आपकी योजना क्या है?”

“मुझे ऐसे व्यक्ति की खोज है, जो द्रुपद के सामने कह सके कि लाक्षागृह मैंने ही बनाया था और दुर्योधन ने मुझसे बनवाया था।”

“इससे क्या होगा?” छंदक बोला।

“इससे द्रुपद के मन में दुर्योधन के प्रति ऐसी घृणा पैदा होगी कि कभी भी अपनी बेटी का हाथ उसे थमाना नहीं चाहेगा।” मैंने कहा, “अभी तक तो कौरवों ने पांडवों के वियोग में दुःख का नाटक किया है। वह षड्यंत्र पर पूरा परदा डाल गए हैं। इस परदे को हटाकर जब कौरवों का वास्तविक रूप दिखाया जाएगा, तब बात कुछ बन सकती है।”

दोनों ने मेरी कूटनीति का लोहा माना। उनकी मुखाकृतियों पर मुसकराहट दौड़ आई।

मैं कहता गया—“मुझे ऐसा व्यक्ति चाहिए, जिसे लोगों ने बहुत देखा-सुना न हो। जिसकी क्षमता पर द्रुपद विश्वास कर सके। इस दृष्टि से मुझे यक्ष स्थूणाकर्ण सबसे उपयुक्त व्यक्ति लगता है।”

“अब स्थूणाकर्ण को खोजना और उसे तैयार करना पड़ेगा?” छंदक बोला।

“तुम कुछ मत करो। केवल शिखंडी से कहो कि वह स्थूणाकर्ण को लेकर शीघ्र मुझसे मिले।” मैंने छंदक से कहा, “हमें सारी बातें अत्यंत गोपनीय रखनी पड़ेंगी; पर समय हमारे पास बहुत कम है। मध्याह्न होने में अब प्रहर भर ही बाकी है और आज का ही दिन है। मुझे द्रुपद से भी मिलना है और जरासंध से भी।”

“जरासंध से आप मिलेंगे!” उद्धव फिर विस्मय में पड़ा।

“अवश्य मिलूंगा।” मैंने बड़े विश्वास से कहा, “और अकेले मिलूंगा।”

“पर वह नासमझ और शक्तिशाली शत्रु है।”

“इसीलिए तो कह रहा हूँ कि अकेले मिलूंगा।” बड़े रहस्यमय ढंग से एक प्रगल्भ हँसी मेरे सुख से छूटी। मेरा अहं स्वयं बोलने लगा—“कर्ण को तो मार्ग से हटा ही चुका हूँ। स्थूणाकर्ण मिला तो दुर्योधन को भी काट दूँगा और



यदि जरासंध भी मेरे चक्कर में आ गया तो फिर बाजी हमारी है।” क्षण भर के अंतराल के बाद मैं और मुखर हुआ —“यदि शकुनि मामा राजनीति को चौसर की तरह खेलता है तो मैं राजनीति को वंशी की धुन पर नचाता हूँ।”

□

मुझे तत्काल स्थूणाकर्ण से मिलने का अवसर मिल गया। पर मैं जो बात चाहता था, वह बात बनी नहीं; क्योंकि मनुष्य को स्वार्थ के लिए झूठ बोलना जितना आसान है, परार्थ के लिए झूठ बोलना उतना ही कठिन। स्वार्थ के लिए झूठ बोलते समय उसकी नैतिकता पता नहीं कहाँ दुबक जाती है, परार्थ के लिए झूठ बोलने के पहले ही वह आकर खड़ी हो जाती है। वह भी अपने बल पर नहीं, तर्क के बल पर। आखिर मैं झूठ क्यों बोलूँ? इससे लाभ क्या है? इसके दूरगामी परिणाम क्या होंगे? और जब तर्क परास्त होता है तब नैतिकता तुरंत धर्म की आड़ लेती है।

स्थूणाकर्ण ने भी अंत में यही कहा, “झूठ बोलना तो धर्म के विरुद्ध है। आप मुझे ऐसा करने के लिए बाध्य मत कीजिए।”

मैंने धर्म की व्यापक व्याख्या की और निष्कर्ष बताते हुए कहा, “धर्म कोई मोम नहीं, जो जरा से झूठ की आँच से गल या सच के हिम से जम जाए। किसी व्यापक सामाजिक हित के लिए यदि हमें झूठ भी बोलना पड़े, तो बोलना चाहिए। इसकी अनुमति हमारा धर्म देता है।”

पर स्थूणाकर्ण तैयार न हुआ। मैंने बात बदल दी; क्योंकि दबाव से हठ और बढ़ जाता है। मैंने पूछा, “आपका कब आना हुआ?”

“मैं तो कल ही आया हूँ।” स्थूणाकर्ण बोला, “शिखंडी ने निमंत्रण भेजा था, इसलिए चला आया। यों स्वयंवर में मेरी कोई विशेष रुचि नहीं है।”

“तो केवल तमाशा देखने की नीयत से आप पधारे हैं?”

“नीयत तो यही है।”

“लेकिन कुछ लोग ऐसे हैं, जो इस तमाशे को भी मजाक बना देना चाहते हैं।” मैंने हँसते हुए यहाँ की स्थिति की भयंकरता को और बढ़ा-चढ़ाकर बताया।

अब वह थोड़ी दहशत में आया। उसके मुख से निकला—“तब तो मैं व्यर्थ यहाँ आया। मुझे इस झमेले से क्या लेना-देना!”

अब मेरी राजनीति कह रही थी कि तुम स्थूणाकर्ण के इस उपेक्षाभाव से ही लाभ उठाओ। मैंने बड़े सम्मान के साथ उसके गुणों की प्रशंसा करते हुए कहा, “सचमुच आप जैसे उच्च कोटि के शल्य चिकित्सक एवं गुणी व्यक्ति से इस कलुषित राजनीति का क्या लेना-देना! आप भला इस झूठ-सच में पड़ने क्यों जाएँ! राजनीति तो न आज आचार्यों की रह गई, न आश्रमों की रह गई और न आप जैसे वैज्ञानिकों की ही रह गई है। अब तो यह महत्वाकांक्षी लोगों का खेल हो गई है।” मैंने यहाँ तक कह डाला कि “मैं यदि इसमें बुरी तरह फँसा न दिया गया होता तो मैं भी शायद इस समारोह में न आता—और आता भी तो समारोह के पूर्व ही लौट जाता।”

लगता है, स्थूणाकर्ण के मन में मेरी यह बात बैठ गई। “इन परिस्थितियों को देखते हुए तो मुझे भी लौट ही जाना चाहिए।” वह बोला।

“यह मैं कैसे कहूँ।” मुझे लगा कि स्थूणाकर्ण अब मार्ग पर आ रहा है। मैंने थोड़ा और जोर दिया—“निर्णय तो आपको लेना है; पर यह सही है कि आपका यहाँ रहना स्वयं आपके लिए कष्टप्रद होगा।”

“क्यों?”

“शायद आपको वह देखना पड़े, जिसे देखने के लिए न तो आपका मन तैयार हो और न कभी आपने उसकी कल्पना की हो।”

अब स्थूणाकर्ण बड़े ध्यान से मेरी ओर देखने लगा।

मैंने अपनी आकृति पर एक विचित्र भयंकरता का भाव चिपकाया और दूर क्षितिज की ओर बड़ी भयंकरता से देखते हुए बोला, “हो सकता है, हम किसी भयानक युद्ध के करीब खड़े हों।”

“ऐसा!” स्थूणाकर्ण के नेत्र विस्फारित हो गए—“मुझे इस सत्ता-संघर्ष से क्या लेना-देना! तब तो मुझे यहाँ से चल ही देना चाहिए।”

“मैं भी ऐसा ही समझता हूँ।” अब मैं निष्कर्ष पर था कि स्थूणाकर्ण की उपस्थिति से जो मैं नहीं कर पाऊँगा, वह उसकी अनुपस्थिति कर देगी। इसीलिए अब मैं एक क्षण के लिए भी उसे पांचाल में रहने देना नहीं चाहता था।

“तब तुमने मुझे बुलाया क्यों?” उसका सीधा प्रश्न शिखंडी से था।

वह कोई उचित उत्तर की खोज करे, उसके पहले ही मेरे मुख से निकल पड़ा—“बेचारा औपचारिकता के चक्कर में पड़ गया।”

“ऐसी भी औपचारिकता क्या, जो इतनी महँगी पड़ जाए!” इस बार स्थूणाकर्ण की मुद्रा कुछ हमारे अनुकूल नहीं थी।

मैं मौन ही रह गया। मेरे साथ ही अन्य लोगों को भी सन्नाटे ने घेर लिया। थोड़ी देर बाद मैंने कहा, “जब आप यहाँ तक आए हैं, तो महाराज से मिल ही लीजिए। उनकी भी उस महान् व्यक्ति को देखने की बड़ी इच्छा है, जिसने उनके पुत्र को पुंसत्व प्रदान किया।”

वह महाराज से मिलने के लिए तुरंत तैयार हो गया और बोला, “मेरा एक ही स्वार्थ था कि शायद समारोह में आचार्य द्रोण के भी दर्शन हो जाएँगे।”

इतना सुनते ही मैंने मायावी अट्टहास किया—“आचार्य द्रोण और पांचाल! यदि ऐसा था तो रोना किस बात का था! प्रतिशोध की अग्नि स्वयं अपना आँचल समेट लेती।”

“तब तो निश्चय ही बड़ी विषम स्थिति है।” स्थूणाकर्ण बोला, “आज मनुष्य जितना द्वेष, घृणा, हिंसा, प्रतिहिंसा से भरा है, हम यक्षों के संसार में वैसा नहीं है। मैं कहाँ से कहाँ आ गया! मेरा तो दम घुट रहा है, एक-एक क्षण मुझे भारी पड़ रहा है।”

मेरे मन ने कहा, ‘अब एक-एक क्षण मुझे भी भारी पड़ रहा है।’

मैंने बड़े सहजभाव से कहा, “घबराइए नहीं, मैं अभी आपके साथ महाराज के यहाँ चलता हूँ।” इतना कहकर मैं अपने वस्त्र बदलने के बहाने अपने शिविर से लगे प्रकोष्ठ में आया।

मैंने संकेत से शिखंडी को भी बुलाया। उससे पूछा, “तुमने स्थूणाकर्ण के आने की सूचना महाराज को दी है या नहीं?”

“मैं कह नहीं सकता।” शिखंडी अपने मस्तिष्क को कुरेदने लगा—“हो सकता है, मैंने न दी हो।”

“तब तुम भी मेरे साथ चलो और महाराज से उसका ऐसा परिचय कराओ कि वह भी सम्मानित अनुभव करे।...जब तुम्हारी बात समाप्त हो जाएगी, तब मैं महाराज से कहूँगा कि अब आप इन्हें यथाशीघ्र ससम्मान विदा कीजिए। मेरे इतना कहते ही तुम जल्दी ही यक्ष को लेकर चल पड़ने की योजना बनाना और पांचाल राज्य के एकदम बाहर ले जाकर उसे छोड़ना। प्रयत्न करना कि फिर वह यहाँ दिखाई न पड़े।”

शिखंडी चकित हो मेरी बात सुनता रहा। वह सोचने लगा कि कन्हैया किस राजनीति की गोटियाँ बिछा रहे हैं। वह किसी निष्कर्ष पर पहुँचे, इसके पहले ही मैंने पूरी गंभीरता के साथ धीरे से उससे कहा, “जहाँ तक हो सके, उसकी बिदाई में उपहार उसकी प्रतिष्ठा से कहीं अधिक दिया जाए; क्योंकि जो कार्य उसकी उपस्थिति से आकार

न ले सका, वह उसकी अनुपस्थिति से लेना चाहता हूँ।”

शिखंडी के लिए यह सब अबूझ था।

मैंने उन दोनों को अपने ही रथ पर बैठा लिया और द्रुपद के प्रासाद की ओर उड़ चला। मार्ग में छंदक, उद्धव आदि कई परिचित चेहरे दिखाई पड़े; पर सब पर एक रहस्य भरी मुसकराहट बिखेरता मैं निकलता चला। अब मेरे लिए एक-एक क्षण का महत्त्व था।

प्रासाद में पहुँचने पर पता चला कि महाराज मध्याह्न का भोजन कर विश्राम पर चले गए हैं। मैंने तुरंत शिखंडी से कहा, “महाराज से कहो और मेरा नाम लो कि मैं एक ऐसे व्यक्ति को साथ लाया हूँ, जिससे मिलने पर उन्हें भी प्रसन्नता होगी। यह भी कहना कि उनका यहाँ क्षण भर के लिए रुकना संभव नहीं है।”

“शिखंडी ने उसी समय महाराज को सूचना दी। अवसर अच्छा था, उनकी आँखें अभी लगी नहीं थीं। शायद अपनी ओर से भी शिखंडी ने दबाव डाला। महाराज तत्काल विशिष्ट कक्ष में पधारे।

आते ही उनकी दृष्टि स्थूणाकर्ण पर गई। मैंने तुरंत उसका परिचय दिया और बताया—“ये अद्भुत गुणी हैं। इस समय आर्यावर्त में इन-सा कोई दूसरा शल्य चिकित्सक नहीं है। इन्होंने शिखंडी को पुंसत्व प्रदान कर पुनर्जीवन दिया है।”

इतना सुनते ही महाराज अपने आसन से उठकर खड़े हो गए और यह कहते हुए कि “यह मेरा परम सौभाग्य है कि आप मेरे आयोजन में पधारे हैं।” वे स्थूणाकर्ण के पास गए और उसे वहाँ से उठाकर अपने सिंहासन पर ले आए तथा अपनी बगल में बैठाया।

मैं उसका बखान करता ही रहा—“इनमें बहुत से गुण हैं, जिनके बारे में मैं बाद में बताऊँगा; क्योंकि मुख पर प्रशंसा करना कुछ मुझे भी अच्छा नहीं लगता और यक्षराज भी इसे पसंद नहीं करते।”

“खैर, बाद में ही सही।” महाराज बोले, “जितना आपने बताया है उतना जानकर ही मैं चमत्कृत हूँ; क्योंकि परमात्मा की भूल को सुधारने की क्षमता रखनेवाला कोई साधारण कलाकार नहीं होगा।” फिर एक क्षण रुककर महाराज ने कहा, “आप जैसे लोगों की उपस्थिति में मेरी पुत्री का स्वयंवर गौरवान्वित हो उठेगा।”

स्थूणाकर्ण कुछ कहता, इसके पहले ही मैं बोल पड़ा, “यक्षराज उसमें उपस्थित नहीं रहेंगे।”

“क्यों?”

“मैं आपको बताऊँगा।” मैंने बड़े रहस्यमय ढंग से कहा, “आपके आमंत्रण का सम्मान करते हुए ये आए तो थे समारोह के लिए ही, पर यहाँ का वातावरण देखकर एकदम चले जाने का निश्चय किया। मैंने कहा कि यदि आप पांचाल में पधारे हैं तो महाराज से मिलते जाइए। शिखंडी ने भी कहा कि पिताजी आपसे मिलकर बड़े प्रसन्न होंगे। यदि आप बिना मिले चले गए तो वे हमें बराबर कोसते रहेंगे। तब कहीं ये प्रासाद में पधारे हैं।”

“बड़ी कृपा की। मैं इनकी उपस्थिति से कृतकृत्य हूँ।” महाराज बोले और पूछा, “तो यहाँ से कब पधारने का निश्चय किया है आपने?”

इस बार फिर मैं स्थूणाकर्ण के मुख खोलने के पहले बोल पड़ा—“अभी, इसी समय।”

“इतनी जल्दी भी क्या है?”

“सारे रहस्य का उद्घाटन क्या इसी समय हो जाए?” मैंने मुसकराते हुए कहा, “अरे, इन्हें सकुशल चले तो जाने दीजिए। उचित समय पर आप सबकुछ जान जाएँगे।” अब महाराज से अधिक रहस्यमय दृष्टि स्थूणाकर्ण की हो गई थी। उसे लग रहा था कि मैं अनावश्यक रूप से उनपर आवरण पर आवरण फेंक रहा हूँ और उसके भीतर से उसे झाँकने का मौका भी नहीं दे रहा हूँ। इसी बीच मैंने शिखंडी से उसकी बिदाई का संकेत किया। वह बिदाई की

व्यवस्था में लग गया।

अब मैंने महाराज से कहा, “जिस याज्ञसेनी के स्वयंवर में ये पधारे हैं, कम-से-कम उस याज्ञसेनी से तो आप इन्हें मिला देते।”

महाराज ने मेरा निवेदन स्वीकार किया और तत्काल अपने तृतीय पुत्र सुकेतु को द्रौपदी को बुलाने के लिए भेजा।

इस स्थिति में मैंने अपनी बुद्धि द्वारा ऐसी घेराबंदी की कि स्थूणाकर्ण अब तक एक शब्द भी नहीं बोल पाया। उसकी बोलने की इच्छा बराबर रही, पर मैंने उसे जवान खोलने का मौका ही नहीं दिया।

बहुमूल्य वसनों और आभूषणों के कई थालों के साथ आरती के कई थाल सजाकर कुछ ब्राह्मण कन्याएँ तुरंत शिखंडी के साथ आ गईं। उन्हीं के पीछे वेदपाठी ब्राह्मण भी थे। लगता है, शिखंडी ने मेरी योजनानुसार यह सारी व्यवस्था पहले से तैयार रखने का संकेत कर दिया था।

“हाँ तो आप लोग अपना कार्य आरंभ करें।” मैंने कहा, “यक्षराज के लिए हर पल बड़ा महत्वपूर्ण है।”

इस जल्दबाजी पर स्थूणाकर्ण निश्चित ही चकित रह गया होगा; फिर भी वह कुछ बोल नहीं पाया।

महाराज ने स्पष्ट कहा, “कन्हैया, तुम इतनी शीघ्रता क्यों दिखा रहे हो, जबकि यक्षराज ने कुछ नहीं कहा?”

“महाराज, आप यक्षराज की प्रकृति नहीं जानते। ये बड़े संकोची जीव हैं। मैं वस्तुस्थिति जानता हूँ। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाएगा, संकट की घड़ी निकट आती जाएगी।”

“यदि ऐसा है, तो आप अवश्य शीघ्रता करें।” महाराज बोले और स्थूणाकर्ण की बिदाई का कार्यक्रम आरंभ हुआ।

आरती उतारी जाने लगी। ब्राह्मणों ने स्वस्तिवाचन आरंभ किया। इसी बीच द्रौपदी भी आ गई। वह मेरी बगल में ही बैठी। लगता है, सुकेतु ने मार्ग में सारी कथा बता दी थी।

आते ही द्रौपदी ने स्थूणाकर्ण को देखा और स्थूणाकर्ण ने उसे। जीवन का यह मिलन दोनों के लिए कुतूहलपूर्ण था। यों भी द्रौपदी की शरीरयष्टि में वह सबकुछ था, जो किसी पुरुष को आकृष्ट करने के लिए आवश्यक है। स्थूणाकर्ण भी द्रौपदी के आकर्षणपाश में बँधने से रह न सका। उसकी इस मनःस्थिति की परिचायिका थी पांचाली पर लगी उसकी एकटक दृष्टि।

स्थूणाकर्ण ऐसा मुग्ध हुआ कि उसे यह पता ही नहीं चला कि कब आरती खत्म हुई और कब ब्राह्मणों का स्वस्तिवाचन समाप्त हुआ। उसकी तंद्रा तो उस समय टूटी, जब महाराज स्वयं उठकर चलने को हुए। अब स्थूणाकर्ण भी उठ चलने के लिए विवश था। फिर भी चलते-चलते उसके मुख से निकल ही गया—“महाराज, आपकी पुत्री तो अनिंद्य सुंदरी है।”

“सब प्रभु की कृपा है।” महाराज आगे बढ़ते हुए बोले।

“वह धन्य होगा, जिसे यह अपना पति वरण करेगी।” स्थूणाकर्ण बोला। मैंने सोचा, यह नाटक जितनी जल्दी समाप्त हो, उतना ही अच्छा हो। मैं तुरंत बोल उठा—“और पांचाली धन्य है कि उसके स्वयंवर में आप पधारे हैं।”

“और मेरा दुर्भाग्य देखिए कि मैं पधारकर भी उसमें भाग नहीं ले पा रहा हूँ।” यह ऐसी सच्चाई थी, जिसे स्थूणाकर्ण आखिर कह ही गया।

“इसका तो हम लोगों को भी दुःख है।” मैंने कहा, “पर हम उन परिस्थितियों को क्या कहें, जिनके कारण आप यहाँ रह नहीं पा रहे हैं।”

अब तक हम प्रासाद के बाहर आ गए थे। मेरी योजना के अनुसार रथ वहाँ पहले से तैयार था। उपहार में मिली

वस्तुएँ बीच में रखी गई। एक ओर शिखंडी बैठा और दूसरी ओर स्थूणाकर्ण।

और रथ हवा में उड़ चला।

यह सब एक अनहोनी घटना की तरह हो गया। जब हम लोग उन्हें द्वार तक पहुँचाकर आए और महाराज अपने सिंहासन पर पुनः बैठे, तब उन्होंने कहा, “स्थूणाकर्ण का यह मिलन एक विचित्र मिलन था। एकदम नाटक की तरह, जिसका सूत्रधार कन्हैया ही रहा।” मेरी ओर देखकर वे मुसकराए भी—“और हम सब तो सूत्रधार से नियंत्रित थे, जिससे नाटक के क्रम में हम अपनी जिज्ञासाएँ भी व्यक्त नहीं कर पाए। शायद सूत्रधार की यही इच्छा रही हो।”

फिर अचानक लोगों की प्रश्नवाचक दृष्टि मेरी ओर मुड़ी। अब मैंने रहस्य पर और गहरा रंग चढ़ाते हुए उसका उद्घाटन अपने ढंग से किया—“बात यह है कि स्थूणाकर्ण हमारे निमंत्रण के प्रति सम्मान व्यक्त करने आ तो गया था, पर जब उसे पता चला कि दुर्योधन—और वह भी पूरी शक्ति के साथ, यहाँ आया है, तब उसने तत्काल यहाँ से लौटने की इच्छा व्यक्त की।”

“आखिर क्यों?” महाराज ने पूछा।

“क्योंकि उसे अपने प्राणों पर संकट का आभास हुआ।” मैंने कहा, “यह बात वह आपसे कह नहीं पा रहा था। इसीलिए सब गोपनीय रखकर मैंने बात शीघ्र समाप्त करने की चेष्टा की।”

“हमारे राज्य में और उसके प्राणों पर संकट! बात कुछ समझ में नहीं आई?” महाराज की जिज्ञासा चरमबिंदु पर थी।

मैं यही स्थिति चाहता था। जिज्ञासा जब चरमबिंदु पर होती है, तब उसके समाधान में आप कोई भी कहानी गढ़ दे सकते हैं; लोग उसपर सहज विश्वास भी कर लेते हैं। अब मैंने अपनी गढ़ी-गढ़ाई कहानी बड़ी गोपनीयता के साथ सुनानी आरंभ की। मैंने कहा, “मैं इस रहस्य का उद्घाटन तो कर रहा हूँ; पर इस विश्वास के साथ कि यहाँ जितने लोग हैं, यह बात उनके अतिरिक्त और किसी के कानोकान तक न पहुँचेगी।”

सबने मुझे आश्चर्य किया। मैंने कहना शुरू किया—“आप लोगों ने लाक्षागृह कांड तो सुना ही होगा। उस लाख के महल का निर्माणकर्ता और इस युग का अपने ढंग का अद्वितीय शिल्पी यह स्थूणाकर्ण ही है।”

“पर उसे तो पुरोचन ने बनवाया था!” द्रौपदी तुरंत बोल उठी।

“बनवाया अवश्य था पुरोचन ने, पर बनानेवाला यह स्थूणाकर्ण ही था।”

“तुम तो कहते थे कि अद्भुत शल्य चिकित्सक है!” महाराज बोले।

“पहले मैं भी इसे मात्र शल्य चिकित्सक ही जानता था।” मैंने कहा, “पर जब यह रहस्य खुला तब मैं भी इसके व्यक्तित्व का लोहा मान गया।”

“तब तो यह बड़ा जघन्य व्यक्ति है।” महाराज बोले, “इसने पांडवों की हत्या की।”

“हत्या इसने नहीं की।” मैंने बात आगे बढ़ाई—“इसने तो केवल वह लाक्षागृह बनाया। वह बहुत बड़ा षड्यंत्र था, जिसकी योजना दुर्योधन के गोपनीय मंत्रणाक्ष में बनी थी—और वह योजना केवल तीन व्यक्तियों के मस्तिष्क की उपज थी। पहले तो पांडवों को वारणावत जाने के लिए बड़े कूटनीतिज्ञ ढंग से राजी किया गया, इसे तो आप सभी जानते हैं। फिर यह योजना बनाई गई कि वहाँ लाख का ऐसा भव्य भवन बनाया जाए, जिसे देखकर जरा भी भान न हो कि यह लाख जैसे ज्वलनशील पदार्थों से बना है।

“इसके लिए शिल्पी के खोजने का काम पुरोचन को सौंपा गया। अब पुरोचन ने बड़े गोपनीय ढंग से शिल्पी की खोज आरंभ की—और वह अंत में स्थूणाकर्ण से मिला। उसको भी यह नहीं बताया गया कि यह क्यों बनाया जा



रहा है और कौन बनवा रहा है? स्थूणाकर्ण का कहना है कि जब-जब मैंने इस संबंध में जिज्ञासा की तब-तब मुझसे पुरोचन ने कहा कि यही समझो कि इसे मैं ही बनवा रहा हूँ। मेरा उद्देश्य एक ऐसी वास्तुकला कृति का निर्माण करना है, जो लोगों को आश्चर्यचकित कर दे। इसके लिए पुरोचन ने उसे मुँहमाँगा देने का वचन भी दिया।”

महाराज बीच में बोल पड़े—“आश्चर्य है कि इतना होते हुए भी स्थूणाकर्ण को इसका आभास नहीं लगा कि मैं एक जघन्य षड्यंत्र का हिस्सा बनने जा रहा हूँ!”

“उसे आभास तो लगा,” मैंने कहा, “पर तब लगा जब वह बहुत आगे बढ़ गया था और अब उस स्थान को दुर्योधन के विश्वस्त सैनिकों ने चारों ओर से अच्छी तरह घेर लिया था। जहाँ वह भवन बनाया जा रहा था, बड़े-से-बड़ा राज कर्मचारी ही नहीं, स्थूणाकर्ण का तो कहना था कि दुर्योधन ने अपने परिवार के व्यक्तियों तक के लिए वह स्थान वर्जित कर दिया था।

“अब स्थूणाकर्ण को विश्वास हो गया था कि मेरी अद्भुत कृति का कोई बड़ा दुरुपयोग किया जाएगा; पर वह कर ही क्या सकता था! वह अधूरा छोड़कर भाग भी नहीं सकता था। ऐसा करने पर तुरंत उसकी हत्या कर दी जाती। मनचाहे स्वर्णखंडों के आकर्षण से आरंभ हुआ यह निर्माण मृत्यु की लटकती तलवार की छाया के नीचे चला आया।”

“आश्चर्य है कि दुर्योधन ने वहाँ पंख भी फटकने नहीं दिया!” महाराज बोले, “कोई जान भी नहीं पाया कि वहाँ क्या बन रहा है!”

“प्रजा तो यही जानती थी कि वहाँ शिवम् (कल्याणकारी) का निर्माण हो रहा है।”(लाक्षागृह का नाम कौरवों ने ‘शिवम्’ ही रखा था।)

और सब तो मेरी बात स्तब्ध हो सुन रहे थे, केवल महाराज ही शंका कर रहे थे। उन्होंने फिर कहा, “मुझे दूसरा आश्चर्य तो यह है कि ऐसा हो नहीं सकता कि तुम यह सब न जानते रहे हो। तब तुमने अपनी भूमिका क्यों नहीं निश्चित की? तुम तटस्थ क्यों रह गए?”

“मैं कहाँ जानता था!” मैंने कहा और जीवन में पहली बार अनुभव किया कि एक झूठ कितने झूठों की नींव पर खड़ा होता है—“मुझे तो सारी कथा कल मालूम हुई, जब शिखंडी ने कहा कि यक्षराज लौट जाना चाहते हैं। जब मैंने उन्हें रोकने की चेष्टा की तब उन्होंने बड़े संकोच के साथ इस गोपनीयता को उद्घाटित किया।”

“फिर अब दुर्योधन से किस बात का भय?”

“षड्यंत्रकारी षड्यंत्र का हर सूत्र मिटा देना चाहता है। पुरोचन तो जल गया। जल नहीं गया वरन् जला दिया गया।”

“वह भी जलाया गया!” इस बार विस्मय से महाराज का मुख खुला-का- खुला रह गया।

“हाँ, महाराज। स्थूणाकर्ण तो ऐसा ही कह रहा था कि यह रहस्य भी किसी-न-किसी समय खुलेगा अवश्य।” मैं भी बातों की डोर को और अधिक बढ़ाना नहीं चाहता था। उसको समेटते हुए बोला, “तब से स्थूणाकर्ण भी सुरक्षा की दृष्टि से कौरवों से हट-बढ़कर ही रहता है।”

“वह मेरे प्रासाद में रह सकता था। मुझपर उसका बड़ा उपकार है।”

“मैंने यह भी उससे कहा था। तब उसने कहा, ‘मैं व्यर्थ यहाँ रहकर क्या करूँगा! मेरे कारण कहीं रंग में भंग हो गया तो यह उचित नहीं होगा।’ ”

मेरी बात समाप्त हुई। सभी मौन थे। उनके सामने एक ऐसे रहस्य का उद्घाटन हुआ था कि वे सन्न रह गए थे।

महाराज बोले, “मुझे लग तो अवश्य रहा था कि पांडवों की मृत्यु का कारण कोई षड्यंत्र है; पर मैं दुर्योधन को इतना नीच नहीं समझता था। वह तो बड़ा भारी पापी है, जिसने अपने भाइयों की हत्या केवल सत्ता के लिए करा दी। ऐसे लोगों का मुँह देखना भी पाप है। भगवान् न करें, ऐसे पापी के हाथों मुझे अपनी प्यारी पुत्री को सौंपना पड़े।”

मैं तो यही चाहता था। मैंने अपने अभीप्सित मोड़ पर लाकर द्रुपद को खड़ा कर दिया था। अब मैंने एक दृष्टि द्रौपदी की ओर डाली। मैंने देखा, उसकी आकृति पर भी पिता से कम घृणा नहीं थी।

अब मेरा काम हो चुका था। कर्ण को मैंने पहले ही रास्ते से हटा दिया था। दुर्योधन भी रास्ते पर होकर भी रास्ते पर नहीं था। ले-देकर अब एक जरासंध रह गया था। अब उसी की दवा करनी थी।

मैंने महाराज से कहा, “संसार बड़ा विशाल है, महाराज! इसमें भयंकर-से-भयंकर लोग हैं। उनके चेहरों पर कितने चेहरे हैं। उन्हें उतारना तो दूर, शायद हम देख भी नहीं सकते। उनपर सोचना भी व्यर्थ है। यह आपके विश्राम का समय है। अब आप विश्राम करें और मैं भी कल की व्यवस्था में लगूँ।” इतना कहकर मैं अभिवादन कर चल पड़ा। और लोग भी उठ गए।

बाहर आकर देखा, रथ के पास छंदक मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। मुझे देखते ही वह मेरी ओर बढ़ा। निकट आकर धीरे से बोला, “सब ठीक है?”

“अभी तक तो सब ठीक ही है।” मैंने कहा, “पांडवों का कहीं पता चला?”

“अभी तक तो कोई पता नहीं है।” छंदक बोला, “पर वे आएँगे जरूर। कल वे निश्चित समय पर अवश्य उपस्थित हो जाएँगे।”

□

उसी दिन संध्या की बात है। मैं अपने शिविर में अकेला बैठा था। मुझे लग रहा था कि पांचाल के राजनीतिक आकाश के सारे बादल छूट गए हैं, केवल पूर्व का क्षितिज ही मेघाच्छन्न है। मगध से उठनेवाली आशंकाओं पर अभी नियंत्रण हो नहीं पाया है। आज रात के प्रथम प्रहर तक मेघसंधि भी अपनी सेना लेकर आ जाएगा। यदि ऐसा सकुशल संभव हुआ तो जरासंध एक बार अपनी पूरी शक्ति लगाकर द्रौपदी के अपहरण की चेष्टा करेगा। सफल भले ही न हो, पर स्वयंवर की सारी योजना एक बार बाधित तो हो ही जाएगी।

इसी समय घबराया हुआ शिखंडी आया। उसने बताया कि गुप्तचरों ने ऐसी सूचना दी है कि मगध से एक विशाल वाहिनी आ रही है।

मैंने पूछा, “वह कब तक यहाँ आएगी?”

“इसकी ठीक सूचना नहीं मिली; पर इतना निश्चित है कि कल के स्वयंवर में कोई खड़मंडल अवश्य होगा।” शिखंडी बोला।

शिखंडी की व्यग्रता पर मैंने मुसकराहट की छींटें डालीं और उसे ढाढ़स बँधाते हुए अपना पुराना वाक्य दुहराया—“मैंने बार-बार कहा है कि इसकी चिंता मत करो। इसे मेरे ऊपर छोड़ो। पर तुम सब ऐसा कर नहीं पाते। शायद मुझपर तुम विश्वास कर नहीं पा रहे हो।”

शिखंडी एकदम हड़बड़ाया—“नहीं-नहीं, ऐसा नहीं है। केवल स्थिति की भयंकरता हमें उद्वेलित कर देती है।”

तब तक मैंने दूर से देखा कि उद्धव को लेकर छंदक आ रहा है। मैं उनसे जिस समस्या पर बात करना चाहता था, उसमें शिखंडी की उपस्थिति बाधक होती। मैंने बात खत्म करने की नीयत से कहा, “तुम केवल इसका पता लगाओ कि मेघसंधि कब पांचाल की सीमा पर पहुँच रहा है। और कोई नई बात हो तो उसकी भी सूचना देना।”

शिखंडी मेरी मंशा समझकर चुपचाप चला गया।

छंदक के आते ही मैंने फिर अपना पुराना प्रश्न दुहराया—“पांडवों का कोई पता है?”

“अभी तक तो कोई पता नहीं है।”

“अब मुझे शंका होने लगी है कि कल वे ठीक समय से उपस्थित हो पाएँगे या नहीं।” मैंने कहा, “यदि वे समय से न आ पाए तो सारी योजना मिट्टी हो जाएगी।”

“ऐसा तो नहीं होना चाहिए। इस संदर्भ में कई बार मैं उनसे मिल चुका हूँ और हर बार उन्होंने पूरी सावधानी के साथ उपस्थित होने का वचन दिया है।”

इतना कहने के बाद छंदक गंभीर चिंतन में डूब गया। कदाचित् उसका मन सभी संभावनाओं को टटोलने लगा। वह कुछ सोचते हुए बोला, “बस एक ही आशंका थोड़ा दम पकड़ती है।”

“क्या?”

“बकासुर की हत्या के बाद पांडवों की गोपनीयता के आस्तरण में छेद हो गया था। यद्यपि उन्होंने बड़ी सावधानी से उसे बंद तो किया था; पर हो सकता है, इसका आभास कौरवों को लगा हो और उन्होंने उनके सामने कोई बाधा खड़ी कर दी हो—और पांडव उसी बाधा को तोड़ने में लगे हों।”

“मुझे तो ऐसा नहीं लगता।” मैंने कहा, “यदि ऐसी कोई बात होती तो कौरव खेमे में कोई सुगबुगाहट अवश्य होती। पांडवों के जीवित होने की सूचना मिले और दुर्योधन तथा शकुनि की सहजता बनी रहे, यह हो नहीं सकता।”

“तब फिर क्या किया जाए?” छंदक ने पूछा।

“मेरे विचार से एक बार फिर तुम्हें उनका पता लगाना चाहिए।” मैंने कहा।

छंदक फिर सोच में पड़ गया। बोला, “मैंने तो अपनी सारी दृष्टि मगध की ओर से आनेवाली सेना पर लगा रखी है।”

“उनके आने की कोई सूचना है क्या?”

“सूचना तो है ही।”

“कब तक वह आ रही है?”

“पहले तो वह आज संध्या तक आ जानेवाली थी। अब सूचना मिली है कि वह रात के अंतिम प्रहर या कल सुबह तक आ जाएगी।” छंदक ने बताया।

“तब तुम इसकी चिंता मत करो। पांडवों का पता लगाओ।”

मेरे इतना कहते ही छंदक उठकर जाने लगा और उसके साथ उद्धव भी। मैंने उद्धव को रोकते हुए कहा, “तुम बैठो। तुम्हारी मुझे बड़ी आवश्यकता है।”

उद्धव ठहर गया और छंदक चला गया।

“आज तुमको मेरे साथ ही रहना पड़ेगा।” मैंने उद्धव से कहा, “और शायद तुम्हें मेरे साथ जरासंध के शिविर तक चलना पड़े।” इसी क्रम में मैंने उसे बताया—“आज रात मैं अचानक मगधराज के शिविर में चलना चाहता हूँ। तुम्हें अपने साथ ले अवश्य चलूँगा, पर शिविर के भीतर नहीं ले जाऊँगा।”

उद्धव मेरे कहने पर चकित था—“तो क्या आप अकेले जाएँगे?”

“बिल्कुल अकेला। वह भी अप्रत्याशित और अचानक उपस्थित होऊँगा। हवा को भी कानोकान खबर नहीं लगेगी।” मैंने बताया—“मैं मध्य रात्रि में सोते हुए जरासंध को जगाना चाहता हूँ, जिससे वह मेरी उपस्थिति से अचंभित हो जाए और अपनी बुद्धि का संतुलन खो बैठे।”

“यह तो आपको ज्ञात ही है कि वह आपका स्थायी शत्रु है। आपके प्राणों का प्यासा।” उद्धव ने मुझे समझाते हुए कहा, “फिर मध्य रात्रि में उसके शिविर में जाकर उसे जगाना महा विषधर को छोड़ना है।”

“किंतु इससे तो मैं किसी रूप में घबराता नहीं।” मैंने कहा, “कालिय के दह में कूदकर मैंने साक्षात् मृत्यु को छोड़ा था। मृत्यु से खेलने का तो मुझे पुराना अभ्यास है; पर आज तुम्हारे साथ मैं मृत्यु को हताश करने की चेष्टा करूँगा।”

उद्धव एकटक मुझे देखता रहा। उसके नेत्रों की निरीहता मानो कह रही थी कि तुम्हें ऐसा जोखिम नहीं उठाना चाहिए। उद्धव जरासंध की शक्ति से भी बड़ा आतंकित था। उसे ज्ञात था कि उसे मारना आसान नहीं है। फिर उसने मुझसे विवाद नहीं किया; क्योंकि वह जानता था कि जो मैं निश्चित कर लेता हूँ, उससे डग भर भी कभी पीछे नहीं आता।

उद्धव दिन भर मेरे साथ लगा रहा। उसने देखा कि मैं अन्य मित्रों के साथ कल संपन्न होनेवाले स्वयंवर की व्यवस्था में ही संलग्न हूँ। संध्या को बड़े सहजभाव से शिविर में लौट भी आया। संध्या-पूजन भी किया। न कहीं व्यग्रता और न असामान्यता। हर जगह वही सहज मुसकराहट। एक बार तो जरासंध के सेनापति से भी भेंट हुई। वही मुसकराता हुआ अभिवादन। सरल भाव से कुशलक्षेम। कहीं पर भी मेरे मन की स्थिति का एक बूँद भी आकृति पर छलककर नहीं आया।

पूजन के बाद मैंने अपने मित्रों के साथ परिहास करते हुए जलपान किया और फिर उद्धव के ही साथ पर्यंक पर आकर विश्राम के लिए लेटा।

उद्धव को गंभीर देखकर मैं बोल पड़ा—“उद्धव! तुम इतने साहसी और धैर्यवान् होकर भी घबरा जाते हो!”

“मैं घबराता इसलिए हूँ कि आप सावधानी नहीं बरतते।”

“किससे, मृत्यु से?” मैंने हँसते हुए कहा, “अरे पगले! वह तो अवश्यंभावी है। जीवन का कटु और अनिवार्य सत्य है। उसे तो एक-न-एक दिन आना ही है। मृत्यु कभी जीती नहीं जाती, उसका भय जीता जा सकता है। मृत्यु के भय को जीतना ही मृत्यु को जीतना है। और इसी भय को जीतने की मैं बराबर सलाह देता रहा हूँ।”

“मेरे सावधान करने का यह मतलब नहीं था। मेरी तो सलाह थी कि आप कुछ और लोगों को साथ क्यों नहीं ले लेते!”

“और किसी को लेने से तो बात खुल जाएगी। बात खुलते ही मेरे अप्रत्याशित मिलन का सारा चमत्कार समाप्त हो जाएगा। तुम्हें भी मैं साथ थोड़े ही ले जाऊँगा। शिविर के बाहर ही छोड़ दूँगा।”

“क्यों?”

“मृत्यु के निकट तो कोई साथ नहीं जाता। हर संगी-साथी छूट जाता है। केवल रह जाता है अपना धर्म और कर्म।” मैंने इतनी गंभीरता से यह व्यंग्य किया था कि वह चकित रह गया। अब थोड़ा गंभीर होकर मैंने उसे समझाया—“मैं चाहता हूँ जरासंध की अत्यंत व्यग्र मनःस्थिति से लाभ उठाना। जब मैं अप्रत्याशित रूप से अकेला उपस्थित होकर उसे जगाऊँगा, तो वह अचानक अपने शत्रु को सामने देखकर घबरा जाएगा। मेरा निर्भीक साहस और मेरी उन्मुक्त हँसी उसे मृत्यु के अट्टहास-सी लगेगी।”

उद्धव मौन हो बहुत देर तक मुझे देखता रहा।

निशीथ की स्तब्धता को चीरता मेरा रथ चला। सारथि तक को पता नहीं कि हमें किधर जाना है। हम राजपथ पर बढ़े चले जा रहे थे। थोड़ा और आगे जाने पर मैंने सारथि से धीरे से कहा, “जरासंध के शिविर की ओर चलना है।”

इतना सुनते ही वह भी सकपका गया। उसने तुरंत अभीषु खींचा और रथ की गति मंद हुई। उसे लगा जैसे उसने मुझे सुनने में कोई भूल की। उसने पुनः निर्देश के लिए आग्रहपूर्ण संकेत किया। मैंने फिर वही बात दुहराई। अब रथ अपने निर्दिष्ट स्थान पर चल पड़ा।

मुझे एक ही बात कचोट रही थी। मैंने यह गोपनीय योजना छंदक को क्यों नहीं बताई? वह तो मेरा ही प्रतिरूप है। मैंने आज तक उससे कुछ नहीं छिपाया। फिर यह तो छिपाना अनुचित था। शायद मैंने यह संकेत उसे दिया भी हो। इसी द्विविधा में मेरा रथ आगे बढ़ता चला जा रहा था कि संयोगवश उधर से छंदक आता दिखाई दिया। अचानक एक-दूसरे को देखकर हम दोनों को आश्चर्य हुआ।

उसने तत्काल मेरा रथ रोकते हुए पूछा, “इस मध्य रात्रि में आप कहाँ?”  
“यही प्रश्न तो मैं तुमसे पूछ सकता हूँ।” मैंने कहा।

“आपके आदेशानुसार मैं मगध की गतिविधि पर दृष्टि रखने में लिप्त था।” उसने बताया।

“अब तक की तुम्हारी क्या सूचना है?”

“अब रात में तो कोई संभावना नहीं दिखती। इस समय पांचाल की सीमा से दूर-दूर तक उसकी सेना का कहीं पता नहीं है; पर सूर्योदय होते-होते वह अवश्य आ जाएगी।” उसने कहा, “पर इस समय आपका निकलना कुछ समझ में नहीं आ रहा है।”

मैंने उसे तुरंत रथ पर बैठाया और कहा, “अभी मौन रहो। बाद में उद्धव से सब जान जाओगे।”

कुतूहल को भीतर-ही-भीतर दबाकर वह एकदम चुप हो गया।

जरासंध के शिविर से कुछ दूर हमने रथ रोक दिया और उसी पर छंदक तथा उद्धव को प्रतीक्षा करने का निर्देश देकर मैं पैदल आगे बढ़ा। दोनों सहमी-सहमी दृष्टि से मुझे देखते रहे।

सबसे पहले मैं सीधे द्वारपाल से टकराया।

“आप किससे मिलना चाहते हैं?” उसने पूछा।

मैंने जवाब दिया—“चक्रवर्ती मगधराज से।”

“यह भी उनसे मिलने का कोई समय है!”

“क्यों?”

“क्योंकि मध्य रात्रि में उन्हें कोई जगा नहीं सकता। उनका स्पष्ट आदेश है।”

“और मृत्यु आए तब भी जगाया न जाए।” मैंने कहा।

अब वह बड़े गौर से मुझे देखने लगा। इस बीच उसके और भी साथी आ गए। शायद मेरे मुकुट से मेरी पहचान का उन्हें आभास लगा। उसने दबी जबान से कहा, “मृत्यु तो स्वयं जगा लेती है, उसे किसी से कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती।”

“और कोई भी प्रतिहारी उसे रोक भी नहीं सकता।” इतना कहते-कहते मैंने एक झटके से शिविर में प्रविष्ट होने की चेष्टा की। इस बार भी प्रतिहारियों ने मुझे रोका—“सुनिए-सुनिए! जरा महाराजकुमार को तो आ जाने दीजिए।”

“कहाँ हैं सहदेव?” मैंने पूछा।

“वे मेघसंधि की प्रतीक्षा करते-करते सरिता तट की ओर गए हैं।” प्रतिहारियों में से एक बोला।

“उन्हें शीघ्र बुलाने की चेष्टा करो। तब तक मैं महाराज को जगाता हूँ। यह उनके जीवन-मरण का प्रश्न है। क्षण भर का विलंब भी घातक हो सकता है।”



अब भी पहरेदार मुझे अकेले जाने देने के लिए तैयार नहीं थे और मेरे साथ-साथ चलने से भी डरते थे; क्योंकि वे अपने महाराज को जगाने का अपराधी होना नहीं चाहते थे। तब मैंने कहा, “विश्वास करो, मुझसे तुम्हारे महाराज को कोई खतरा नहीं हो सकता; क्योंकि मेरे पास कोई अस्त्र नहीं है। यदि कुछ है भी तो बस एक वंशी।”

वंशी का नाम लेते ही उन्होंने मुझे अच्छी तरह पहचान लिया। अब मुझे रोकने का साहस उनमें से किसी में नहीं था। फिर भी एक आवाज उभरी—“शत्रु से शत्रु का मिलन तो घातक ही होता है।”

अब मैं सीधे जरासंध के कक्ष में पहुँचा। वह टूटे हुए स्फीत स्तंभ की तरह पर्यंक पर बेसुध दुलका था। गहरी नींद में उसकी नासिका क्रुद्ध बनैले सुअर की तरह गुर्रा रही थी। वय की लंबी सीमा पार कर लेने के बाद भी उसकी मांसपेशियाँ काफी कसी थीं। अधपके बालोंवाले उसके अनीदार श्मश्रु उसके पौरुष का प्रतीक लग रहे थे। मैंने इतने करीब से और इतनी देर तक एकाकी उसे कभी नहीं देखा था।

“ओ सम्राट्! उठो, देखो तुम्हारा चक्रवर्तित्व खतरे में है।” मैंने एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी आवाज दी। मेरी हर आवाज पिछली आवाज से तेज होती गई। पर मैंने उसके बदन को हाथ नहीं लगाया; क्योंकि किसी शत्रु के सोते समय उसके शरीर को हाथ लगाना धर्म-विरुद्ध था।

आँखें खुलते ही उसने अपने सामने मुझे देखा। मैंने जैसा सोचा था, उसकी मानसिकता वैसी ही हो गई। “अरे, तुम! इस समय और यहाँ!” यह उसकी पहली प्रतिक्रिया थी। फिर उसने अपनी आँखें मलीं। यह सपना तो नहीं है? और उसने सत्य और स्वप्न में कोई अंतर नहीं पाया तो अपनी माँद में गुर्राते सिंह की तरह बोला, “तू यहाँ कैसे चला आया?”

मैंने अपने पैरों की ओर संकेत करते हुए बड़े सहजभाव से कहा, “इन्हीं की कृपा से!” और मुसकराने लगा।

उसकी व्यग्रता मेरी सहजता पर जैसे चिढ़-सी गई। वह तड़पा—“मैंने शिकार को स्वयं माँद में आते नहीं देखा था।”

“तो मैं आज वही दिखाने आया हूँ, जो आपने नहीं देखा है।” मैंने भी मुसकराते हुए कहा।

“तो दिखा।” इतना कहते हुए उसने बगल में रखी असि निकाली और एकदम पर्यंक से मेरी ओर झपटा।

मैं पहले से ही सावधान था। झट से बाई ओर हटकर पुनः मुसकराने लगा और बोला, “बहुत परेशान होने की आवश्यकता नहीं है। मेरे पास कोई अस्त्र नहीं है। मैं आपको मारने नहीं आया हूँ; क्योंकि जो स्वयं मरा हुआ है, मैं उसपर हाथ नहीं उठाता।”

“मैं मरा हुआ!” वह मेरी रहस्यमय भाषा में उलझने लगा।

“आपको याद है, गोमांतक पर्वत पर भी आप मेरे हुए बाँधकर मेरे सामने लाए गए थे और मैंने आपको नहीं मारा। रुक्मिणी स्वयंवर के समय भी मैं आपका वध कर सकता था, पर नहीं किया। और आज भी मेरी कोई ऐसी मंशा नहीं है।”

“तुम्हारी न हो, पर मेरी तो है।” वह पुनः झपटा।

“याद रखिए, इस समय आप स्वयंवर-स्थल में हैं। स्वयंवर-स्थल में किसी का वध करने का परिणाम आप समझते हैं?” मैंने प्रश्न किया और स्वयं उत्तर भी देने लगा—“स्वयंवर में आए सभी राजा मिलकर आपका वध करेंगे। यह परंपरा भी है और धार्मिक व्यवस्था भी।”

जरासंध सोच में पड़ गया।

अब मैंने अपनी आवाज और तेज की—“कितनी बँधी हुई है आपकी तलवार! कितना कुंठित हो गया है आपका आक्रमण! इसीलिए मैं अस्त्र लेकर नहीं आया था; क्योंकि मैं जानता था कि यदि मैंने आपका वध किया तो मुझे भी

वही परिणाम भोगना पड़ेगा, जिसकी चेतावनी मैं आपको दे रहा हूँ।”

“तब तुम यहाँ क्या करने आए हो?” उसका आक्रोश अपनी पूरी शक्ति के साथ तड़पा।

“मैं आपको सूचना देने आया हूँ कि जिन छयासी राजाओं को आपने बंदी बनाकर रखा है, वे सब कल मुक्त हो जाएँगे। आपके चक्रवर्ती बनने का सपना चूर हो जाएगा।”

“यह कैसे हो सकता है?” वह पुनः किटकिटाया।

“यही होगा।” मैंने अपने कथन का विस्तार किया—“कल मेघसंधि मगध की अतिरिक्त वाहिनी लेकर आएगा, तब पांचाल, कौरव, विराट—सभी मिलकर आपका वध करेंगे। एक संभावित चक्रवर्ती का अंत स्वयंवर से पूर्व ही हो जाएगा।”

अब वह चकराया कि मेरी योजना की गोपनीयता गंगी कैसे हो गई।

उसने पूछा, “यह सब तुम्हें कैसे मालूम?”

“आप क्या समझते हैं कि आपकी योजना का आभास किसी को नहीं है? अरे, तुम्हारी हर साँस का हिसाब मेरे पास है।” मैंने इतने प्रभावशाली ढंग से कहा कि वह मुझे विस्फारित नेत्र हो देखता रह गया। हो सकता है, उसमें मेरा ईश्वरत्व भी उसे दिखाई दिया हो।

अब वह पहले से ठंडा था। उसके आवेग का ज्वार उतरने लगा था। फिर भी बुझता दीप एक बार फिर भभका—“तुम मुझे शिक्षा देने चले हो! तुमने स्वयं रुक्मिणी स्वयंवर में क्या किया था?”

“मैंने रुक्मिणी स्वयंवर में जो कुछ किया था, वह धर्मानुसार था। स्वयंवर का पूरा नाटक आप लोगों ने एक विशेष उद्देश्य से रचा था। उसमें रुक्मिणी की सहमति बिल्कुल नहीं थी। रुक्मिणी मेरे पास अपनी इच्छा से आई थी। मैंने रुक्मिणी का हरण नहीं किया था, वरन् अपनी शरण में आई रुक्मिणी को उस स्वयंवर के नाटक से मैंने केवल मुक्ति दिलाई थी।”

अब जरासंध अपने पर्यंक पर बैठ चुका था। मुझे भी अपने सामने के मंचक पर बैठने का संकेत किया।

“अब साफ-साफ बताओ, तुम चाहते क्या हो?” वह बोला।

“मैं चाहता हूँ कि कल के स्वयंवर में किसी प्रकार का विघ्न डालने की चेष्टा आपकी ओर से न हो।” शब्दों से कहीं अधिक मेरे कहने में प्रभाव था। अब वह पूरी तरह मेरी नाटकीयता की छाया में आ चुका था।

कुछ समय तक वह सोचता रहा। शांति रही। मैंने बाईं ओर देखा, मशाल के धुँधलके में शिविर के छिद्र में से झाँकती दो चमकीली आँखें दिखाई दीं। समझते देर नहीं लगी कि यह उद्धव की व्यग्रता है।

“यदि कौरवों ने द्रौपदी को हरने की व्यवस्था की तब?” जरासंध की मुख्य शंका अब मुखर हुई।

“उनके साथ भी हम सब वैसा ही व्यवहार करेंगे और आप विश्वास करें, फिर हस्तिनापुर ऐसा मिटेगा कि आर्यावर्त के मानचित्र पर उसका नाम-निशान भी न रह जाएगा।”

“पर दुर्योधन को तो तुम्हारा आशीर्वाद प्राप्त है।”

“आज समूचा आर्यावर्त इसी भ्रम में है, जिस भ्रम में आप हैं।”

अब भी वह सोच में ही था। आश्चर्य था कि इतनी देर से मेरा-उसका संवाद चल रहा था, पर उसका कोई अंगरक्षक उसे देखने नहीं आया। इसे भी उसने एक चमत्कार ही माना।

अब मुझे आभास लगा कि मेरी ओषधि का आवश्यकता से अधिक ही प्रभाव हुआ। मैंने उसकी एक मात्र और दी—“मेरी आपको एक सलाह और है—मानना, न मानना आपकी इच्छा पर है।”

उसकी मौन मुद्रा सीधे-सीधे प्रश्नवाची हो गई।

“कल की धनुर्विद्या की स्पर्धा आचार्य सांदीपनि ने रखी है। वह इतनी कठिन है कि उसके निकट जाने का मेघसंधि का क्या, आपके पुत्र सहदेव का भी साहस नहीं होगा।”

इतना सुनते ही जरासंध एक बार फिर भभका—“तो तुम क्या समझते हो कि मेरी भी धनुर्विद्या कुंठित हो गई है?”

“मैं यह कब कह रहा हूँ!” मैंने तुरंत दूसरा दाँव खेला—“किंतु आप यह समझिए कि मंच पर जाकर भी यदि आप असफल हो गए तो? फिर आपका क्या रह जाएगा? लोगों की दृष्टि में आपका वह पौरुष अपमान की धूल में धूसरित हो जाएगा, जिसके चक्रवर्ती होने की संभावना पर लोग विचार करते हैं। आप स्वयं किसी को मुँह दिखाने योग्य नहीं रहेंगे। दूसरी ओर जरा आप अपने वय की ओर भी देखिए। लोग यही कहेंगे कि बूढ़े मुहासा, देखे तमाशा। अभी पौत्र अविवाहित है और बूढ़ा विवाह करने चला है।”

“तो तुम क्या मुझे हिम की प्रतिमा समझते हो, जो जरा से ताप से गल जाएगी?” इस बार उसका घायल अहं तड़पा। आवाज इतनी तेज थी कि शिविर के बाहर भी युद्ध की आशंका से खड़बड़ाहट होने लगी।

मैंने अब छेड़ना उचित नहीं समझा। केवल इतना कहा, “मुझे जो कहना था, कह चुका; मानना, न मानना आपका विषय है।” इतना कह मैं तत्काल वहाँ से चल पड़ा और सीधे अपने रथ की ओर आया।

मुझे देखते ही अब तक भगवान् से मेरी कुशलता की कामना करनेवाले छंदक और उद्धव की साँस में साँस आई।

छंदक से मिलते ही मेरा पहला प्रश्न था—“पांडवों का कुछ पता चला?”

“मैं तो तब से यहीं खड़ा हूँ; पर आप विश्वास करें, वे सुबह तक अवश्य आ जाएँगे।”

अब मेरा रथ चला। ब्राह्म मुहूर्त लगभग हो चुका था।



# दो

जरासंध के शिविर से लौटते समय मेरी दृष्टि द्रौपदी के प्रासाद की ओर गई। उसके वातायनों से प्रकाश आ रहा था।

“लगता है, जाग हो गई।” छंदक बोला।

“क्यों? ऐसा नहीं हो सकता कि आज रात सोना ही न हुआ हो!” मैंने कहा, “आज की रात द्रौपदी की सबसे अनिश्चय एवं द्विविधा की रात रही होगी। आज से उसके जीवन का एक नया अध्याय लिखा जाना है। आज उसे एक ऐसे मार्ग पर पग धरना है, जिसका चप्पा-चप्पा उसका अनजाना और अनचीन्हा है। उसके लिए आज का दिन जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही अंधकारमय भी। इस अँधेरे में उसका हाथ अपने हाथ से ही नहीं टकराएगा, वरन् जिस हाथ में जाएगा, उसे वह कभी देख नहीं पाई होगी। अँधेरे से लटकता, बेसहारा एवं अनजान भविष्य उसके मत्थे मढ़ दिया जाएगा। अपने पिता के प्रतिशोध को लेकर वह जलती रहेगी या शांत करने के प्रयत्न में केवल राख ही बटोरती रह जाएगी।”

“या स्वयंवर स्वयं अधूरा ही रह जाएगा।” उद्धव बोला।

“यह क्या कहते हो?” मैंने तत्क्षण उसका विरोध किया—“मैं इसीलिए इतना सब कर रहा हूँ?”

उद्धव हँसा—“जब तक सबकुछ कुशलता से संपन्न नहीं हो जाता, आशंकाएँ तो उठती ही रहेंगी।”

“इन आशंकाओं को मुझपर छोड़कर तुम लोग अपने शिविर में जाओ और घड़ी-दो घड़ी आराम कर लो। आज प्रातः से ही कार्यक्रम आरंभ हो जाएँगे।”

वे दोनों जब मेरे शिविर से गए, मंदिर के घंटे बजने लगे थे। मंगला आरती आरंभ हो गई थी।

मैं भी पर्यंक पर ढुलक गया। शिशिर की बर्फीली हवा का झोंका कँपाए दे रहा था। मैंने आस्तरण पर बाघांबर डाल लिया और आँखें बंद कर लीं; पर मन की विचित्र स्थिति थी। खुली आँखों से जो मैं नहीं देख पा रहा था, बंद आँखें उसे देखने लगी थीं। मेरे सामने द्रौपदी खड़ी थी, मेरे सामने द्रुपद खड़े थे—और सबसे पीछे गहरी उदासी ओढ़े, नितांत टूटी हुई और निराश-सी भानुमती दिखाई दी।

“अब मैं तुम्हारे ही आसरे हूँ, कन्हैया।” द्रौपदी बोली, “मैं अपना सुनहला सपना गंगा में बहा चुकी हूँ। तुम्हें मुझे दिया अपना वचन याद है न?”

“हाँ याद है।” मेरे मुख से स्वतः निकल पड़ा। पर द्रौपदी के कहने के ढंग से कर्णवाला प्रसंग मुझे याद हो आया। मैंने पुनः कहा, “मुझे तो अपना वचन याद है; पर क्या तुम्हें भी अपना वचन याद है?”

“हाँ, याद है।” द्रौपदी बड़ी गंभीर होकर बोली, “मैंने उसे बार-बार रटा है; क्योंकि मुझे बराबर लगता था कि कहीं मैं इसे भूल न जाऊँ। कहो तो तुम्हें भी सुनाऊँ।” इतना कहकर वह एक वितृष्णा भरी मुसकराहट के बीच बोली, “मैं सूतपुत्र को नहीं वरूँगी।”

मुझे हँसी आ गई और द्रौपदी मेरी बंद आँखों के सामने से विलुप्त हो गई।

अब श्मश्रु के श्वेत बालों के बीच से सिंह की तरह चमकती द्रुपद की बोलती आँखें दिखाई दीं कि मैं भी अनिश्चय की स्थिति में हूँ कि मेरा क्या होगा? इसी आशंका में उन्होंने बताया कि शायद द्रौपदी का स्वयंवर सफल न हो।

“क्यों?”

“जो संभावित थे, उन सबकी अनुपयुक्तता तो सिद्ध हो चुकी है। अब तो मुझे कोई दिखाई नहीं पड़ रहा है, जो स्वयंवर की स्पर्धा जीत सके।” उनके स्वर में निराशा और व्यग्रता दोनों थी।

“इस संसार में जो हमें दिखाई देता है, उससे न दिखाई देनेवाला अंश बहुत अधिक है। भविष्य अपना प्रकोष्ठ भी इन्हीं अनजान और अदृश्य अंशों में ही बनाता है।” मैंने कहा।

महाराज चुप हो गए। पर उनकी मुद्रा से स्पष्ट लगा कि वे मेरे उत्तर से संतुष्ट नहीं हैं। उन्होंने कहा, “द्रौपदी के विवाह की मुझे उतनी चिंता नहीं है। विवाह तो उसका कहीं-न-कहीं हो जाएगा ही।”

“तब आप क्यों चिंतित हैं?”

“मेरे प्रतिशोध का क्या होगा?” द्रुपद ने इतना कहा होगा कि एक आग उनके बदन में अचानक भभक पड़ी। मेरी बंद आँखें खुल गईं। दिवास्वप्न टूट गया। अब न द्रुपद थे और न उनकी जलन।

पर मैं उस भानुमती से तो कुछ बोल ही न पाया। मैं यह जानता था कि कहीं कुछ नहीं है। यह सबकुछ मेरे मन का प्रक्षेपण ही है। फिर भी मैं भानुमती की उदासी भूल नहीं पा रहा था।

मैंने पुनः आँखें बंद कीं।

अब भानुमती के गालों पर ढुलके आँसू मेरे सामने थे। वह कंपित स्वर में बोली, “शायद आपको मुझको दिए वचन भी याद होंगे।”

“बिल्कुल याद हैं।” मैंने बड़े विश्वास से कहा, “कन्हैया अपने दिए वचनों को कभी भूलता नहीं है। और उसके दिए वचन तो वह और भी याद रखता है, जो उसमें विश्वास करते हैं।”

मुझे लग रहा था कि मैं अपने से ही बोझिल होता जा रहा हूँ। इन सारे वचनों के नीचे दबा मेरा अहं अब भी पांडवों के लिए छटपटा रहा था। तब तक कुछ ऐसा आभास लगा कि एक अश्वारोही बड़ी गति के साथ मेरे शिविर की ओर चला आ रहा है। मैं पर्यंक से उठा नहीं; पर जिज्ञासा तो थी ही। यह भी लगा कि वह शिविर के द्वार पर ही है। मैंने धीरे से छिद्र में से देखा—अरे, यह तो शिशुपाल है। उसका अहं शायद रुक्मिणी स्वयंवर का बदला लेने के लिए उतावला हो रहा है। हो सकता है, वह मुझे ललकारने के लिए ही यहाँ आया हो।

थोड़ी देर तक उसका अश्व हिनहिनाता और हरकतें करता रहा। फिर भी मैं पर्यंक से उठा नहीं; पर वह भीतर नहीं आया। थोड़ी देर प्रतीक्षा कर लौट गया। एक आशंका भरा मौन मेरे शिविर के चारों ओर चिपक गया।

पुनः मुझे अनेक शंकाओं और आतंक भरी संभावनाओं ने आ घेरा। कैसे संपन्न होगा यह स्वयंवर? एक विराट् प्रश्नचिह्न मेरे सामने लटकने लगा।

इसी बीच उष्ण जल का पात्र लेकर परिचर ने प्रवेश किया। अभी सवेरा नहीं हुआ था, फिर भी मेरे स्नान-पूजन का समय हो गया था।

मैंने परिचर से कहा, “आज यहाँ स्नान नहीं होगा। आज मेरा विचार गंगास्नान करने का है। मेरे सारथि से कहो कि वह रथ ठीक करे।”

परिचर चला गया और मैं उठकर गंगास्नान की तैयारी करने लगा।

जब मैं चला तब भी अँधेरा था। हिमानी वायु के झोंके तीर की तरह लग रहे थे। मैंने सोचा, क्यों नहीं मैं भैया को साथ ले लूँ? क्योंकि उनकी प्रकृति बड़ी विचित्र है। कभी-कभी उनका विवेक अनजान में बड़ा गड़बड़ कर देता था। उनके नियंत्रण के लिए भी यह आवश्यक था और यह जानकर भी उन्हें धक्का लगता कि मुझसे सारी बातें छिपाई जा रही हैं।

जब मैं उनके शिविर में गया, वे सो रहे थे। मैंने उन्हें जगाया तो वे बड़े सहजभाव से बोले, “कोई विशेष बात है?”

“अरे, आज स्वयंवर है।” मैंने कहा।

“वह तो मैं भी जानता हूँ।” भैया ने कहा, “पर इतने दिन हो गए, तुम कभी भी रात को जगाने नहीं आए। आज कोई बात अवश्य है।” इसके बाद उन्होंने अँगड़ाई ली।

मैंने बताया कि अब रात नहीं है। वे मुसकराते हुए बोले, “जब तक सूर्योदय नहीं होता, मेरे लिए रात ही रहती है।”

पहले तो वे उठ नहीं रहे थे, फिर गंगास्नान के लिए तैयार नहीं हो रहे थे। विचित्र था उनका आलस्य। यदि मैं उन्हें जगाता नहीं, तो भी वे दिन निकलते समय तक सोते रहते। अद्भुत था उनका व्यक्तित्व। चिनगारियों के घेरे में भी उनकी निश्चिंतता खरटे ले सकती थी।

किसी तरह मेरे साथ चले। मैंने पहले से ही सारथि को संकेत कर रखा था। उसने रथ की गति मंद ही रखी। मार्ग में मैंने धीरे-धीरे भैया को सारी स्थिति बताई। वे बड़े सहजभाव से सुनते रहे; पर जब मैंने बताया कि हो सकता है, स्वयंवर की स्पर्धा में कोई उत्तीर्ण ही न हो, तब वे एकदम चौंक पड़े—“तब क्या होगा?”

“ऐसे में कुछ लोगों की योजना द्रौपदी को हर ले जाने की है।” मैंने कहा और इस संदर्भ में मैंने जरासंध की भूमिका की विशेष चर्चा की।

भैया जितने शांत थे, उतनी ही जल्दी उन्हें क्रोध भी आता था। उन्होंने किटकिटाते हुए कहा, “मैं तो उस नीच का गोमांतक में ही अंत कर देता। तुम्हें याद है, बंधन में जकड़कर मैं उसे तुम्हारे पास लाया था; पर तुम्हीं ने उसे छोड़वा दिया। अब तुम्हीं उसे भोगो। वह तो जब तक जिंदा रहेगा, हमारे विरुद्ध कुछ-न-कुछ करता रहेगा।”

मैं क्या कहता कि हर व्यक्ति की मृत्यु का एक समय होता है। शायद इसीलिए काल समय का पर्याय भी है। पर मैंने चुप ही रह जाना उपयुक्त समझा। इसी बीच सामने छंदक अश्व पर भागता आता दिखाई दिया। मैं समझ गया कि वह मेरे यहाँ ही जा रहा है। उसकी दृष्टि मेरे रथ के ध्वज की ओर गई ही होगी; क्योंकि उसने अपने अश्व की दिशा बदली और शीघ्र ही मेरे निकट आया।

मैं उत्सुक था ही। मैंने तुरंत रथ रोक दिया। उसने पहली साँस में बताया—“मागधी सेना आ चुकी है।”

“क्या शक्ति होगी उसकी?”

“बहुत विशाल तो नहीं है—और न वह गंगा के इस पार ही है।”

“या यों कहो कि वह आ रही थी, उसे उस पार ही रोक दिया गया है।” मैंने कहा।

“मुझे भी कुछ ऐसा ही लगता है।”

“तब तो कल रातवाली मेरी दवा कुछ काम कर गई है।” मैं मुसकराते हुए बोला, “पांडवों का पता चला?” मेरी जिज्ञासा ने एक बार फिर उछाल मारी।

“अभी तक तो नहीं।” पांडवों के संदर्भ में छंदक की आकृति पर पहली बार चिंता दिखाई दी। कुछ बात अवश्य है, वरना अभी तक कहीं-न-कहीं उन्हें प्रकट हो जाना चाहिए था।

“तो क्या पांडव भी स्वयंवर में आनेवाले थे?”

मैंने मुसकराते हुए कहा, “यह सारा खेल ही उनके लिए खेला जा रहा है! पर अब तो लगता है कि सब मिट्टी हो जाएगा।”

भैया कुछ सोचने लगे। वे बोले, “कल मुझे अर्जुन जैसा एक व्यक्ति दिखाई दिया था। वह तो मृगचर्म पहने,

कमंडलु लिये ब्राह्मण लग रहा था। मुझे देखते ही एकदम मुँह फेरकर अपरिचित-सा चला गया। यदि अर्जुन होता तो अवश्य बोलता।”

“नहीं भी बोल सकता था।” मैंने कहा। और मुझे पहली बार लगा कि मेरी योजना का सूर्य अपने समय से और अपनी दिशा में ही उग रहा है। मैंने भैया से पूछा, “वह कहाँ दिखाई पड़ा था आपको?”

“पांचाल के सुदूर दक्षिण—इस राज्य की सीमा के भीतर ही, जहाँ से अरण्य आरंभ हो जाता है, वहीं कुछ कुम्हारों की झोंपड़ियाँ हैं। उन्हीं के आसपास।” भैया बोले।

“मैं अभी देखता हूँ।” छंदक ने तुरंत अश्व मोड़ा।

मैंने उसे रोका—“अब उधर जाने की आवश्यकता नहीं है। भैया की आँखें धोखा नहीं खा सकतीं। तुम महाराज से मिलो और आचार्यजी को लाने के लिए आश्रम में वाहन भिजवाने की व्यवस्था करो।”

“पर आचार्यजी को तो मैंने अभी-अभी देखा है।” छंदक बोला, “वे महाराज के प्रासाद की ओर जा रहे थे।”

“तब तो तुम्हारा कार्यक्षेत्र केवल स्वयंवर मंडप और उसके आसपास होना चाहिए।” मैंने कहा। अचानक मेरी दृष्टि एक दूसरी ओर गई। मैंने छंदक से पूछा, “मागधी सेनाओं के आगमन की सूचना कौरवों को हुई या नहीं?”

“अभी मैं मामा से मिलकर ही आया हूँ। उनके गुप्तचरों ने उन्हें सूचना दे दी थी और जो रही-सही कमी थी, मैं पूरी करके आ रहा हूँ।”

मुझे हँसी आ गई—“इस बार तो तुमने चिनगारी नहीं, आग ही लगाई होगी!”

छंदक भी हँसा और मेरे निर्देश के अनुसार वह स्वयंवर मंडप की ओर बढ़ा।

हमने जब गंगा में डुबकी लगाई, प्राची में लाली उभरने लगी थी। लगभग इसी समय मैंने देखा कि एक रथ गिरिजा मंदिर की ओर जा रहा था। यद्यपि वह काफी दूर था, कुछ भी स्पष्ट मुझे दिखाई नहीं दे रहा था; फिर भी मुझे वास्तविकता समझते देर नहीं लगी। अब मेरी दृष्टि पश्चिम की ओर गई। एक व्यक्ति कटि तक जल में खड़ा होकर सूर्य की आराधना कर रहा था। अद्भुत थी उसकी तपस्या। इस कँपकँपाते शीत में भी गंगा के हिमानी जल में उसकी आराधना चल रही थी।

पर हम इस शीतल जल का सामना अधिक देर तक कर न सके। जब हम निकले, सूर्य की पहली किरण ने अपनी ऊष्मा से हमें आह्लादित किया। हम वस्त्र पहन रहे थे कि वह रथ गिरिजा मंदिर से लौटते हुए हमारी ओर से ही गुजरा।

मुझे देखते ही रथ रुक गया। द्रौपदी उतरी। हमें देखकर चकित होती हुई बोली, “आप भी रोज गंगास्नान करते हैं?”

“रोज तो नहीं आता। आज चला आया हूँ।”

मेरे इतना कहते ही द्रौपदी की आकृति का भाव बदला। उसका सोचना स्वाभाविक था कि शायद मेरा पीछा तो नहीं किया जा रहा है। उसने बड़े विश्वास से कहा, “आप घबराएँ नहीं, मुझे अपना वचन याद है।”

“तुम भी विश्वास रखो, मुझे भी अपना वचन याद है। मैं गंगा माँ से अपने वचन के निर्वाह के लिए प्रार्थना करने ही यहाँ आया हूँ।” पांडवों की खबर मिल जाने से मेरे स्वर में पहले से अधिक दृढ़ता थी।

मुसकराती हुई द्रौपदी चली गई।

भैया ने पूछा, “क्या बात है?”

मैंने कहा, “कोई बात नहीं, यह सब मात्र संयोग है।”

□

पौष शुक्ल एकादशी थी। सोलह दिन से चल रहे उत्सव का आज अंतिम दिन। याज और उपयाज दोनों आज



आमंत्रित थे। दोनों अपने शिष्यों के साथ पधारे थे। इन्हीं के पुत्रेष्टि यज्ञ से द्रौपदी उत्पन्न हुई थी। आज वही याज्ञिक द्रुपद के पुरोधा थे; लेकिन उनकी भेंट अभी तक मुझसे नहीं हो पाई थी। मुझे भी उन्हें देखने की लालसा थी।

समय हो चला था। मैंने अपने शिविर से ही देखा। राजे-महाराजे स्वयंवर मंडप की ओर जाने लगे थे। मैंने अपने मित्रों से यथाशीघ्र स्थान ग्रहण करने के लिए उद्धव से कहलवाया भी और स्पष्ट निर्देश दिया—“चेकितान, चारुदेष्णा, सात्यकि, कृतवर्मा, श्वेतकेतु और मणिभान—सभी एक साथ ही अपनी पूरी सैन्यशक्ति के साथ वहाँ जाएँ।”

“पर सेना तो स्वयंवर मंडप में नहीं जा सकेगी!”

“मंडप के बाहर तो रहेगी।” कहा, “पर उन्हें उधर की तरफ ही रखना, जिधर की ओर आप लोगों के बैठने का स्थान हो। सेना को पूरी सजगता के साथ हर परिस्थिति का सामना करने के लिए सावधान करना। किसी भी क्षण कोई भी स्थिति पैदा हो सकती है।”

“और आप?” उद्धव बोला।

“हाँ, तुम मेरे सैनिकों को भी साथ लेते जाओ।” मैंने कहा, “और मैं अक्रूर चाचा तथा भैया को साथ लेकर ठीक समय से पहुँच जाऊँगा।”

उद्धव चला गया। मैंने देखा, कुछ क्षणों बाद मेरा भी दल प्रस्थान कर गया। इधर मैंने अपनी तैयारी शुरू की और उधर भैया ने अपनी। हम लोग शीघ्र ही अक्रूर चाचा के साथ एक ही रथ पर चल पड़े।

बात चाचा ने ही शुरू की—“देखो, आज द्रौपदी को कौन भाग्यशाली वरण कर पाता है!”

मैं तो चुप ही था; पर भैया ने बार-बार दुहराए गए इस प्रश्न का नपा-तुला उत्तर सुनाया—“जो स्वयंवर की स्पर्धा जीतेगा।”

“और कोई न जीत पाए तो?” वही बार-बार उठाई गई शंका—“तो क्या द्रौपदी अविवाहिता रह जाएगी?”

“यही तो समस्या है।” मैंने कहा।

“समस्या ही नहीं, चिंतनीय समस्या है।” चाचा बोले, “दो ही व्यक्ति इस समय आर्यावर्त में ऐसे हैं, जो स्पर्धा जीत सकते हैं। एक कर्ण और दूसरा अर्जुन।” पांडवों के जीवित रहने की उन्हें संभावना तो थी, पर सोचते थे कि वे इस समय पता नहीं किस जंगल में और कहाँ हों।

“हो सकता है, यहीं हों।” भैया बोल पड़े। बड़े सहज हैं वे। अपने रहस्य की मुट्ठी वे बहुत देर तक बंद नहीं रख पाते थे।

फिर भी चाचा ने कहा, “मुझे तो यह संभावना कम दिखाई देती है। चारों तरफ दौड़कर मन इसी ओर आ जाता है कि हो-न-हो, भवितव्यता कर्ण के ही पक्ष में हो। यदि ऐसा हुआ तो पांडवों का भविष्य संकटापन्न ही समझिए।” वे कुछ क्षणों के लिए मौन हुए। फिर कुछ सोचते हुए बोले, “कौरवों के पक्ष में द्रुपद के चले जाने का परिणाम समझते हो? सारे आर्यावर्त का शक्ति-संतुलन गड़बड़ा जाना—और यह हम लोगों के लिए भी खतरनाक होगा।”

धीरे-धीरे हम मंडप के प्रवेश द्वार के निकट पहुँचे। हमारे आने की सूचना उद्धव पहले ही महाराज को दे चुका था। वे मुख्य द्वार पर ही हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। हमें देखते ही वे आगे बढ़े। हमने भी रथ छोड़ दिया।

उद्धव का कहना था कि हम दोनों भाई उस समय अत्यंत भव्य लग रहे थे। विपरीत रंगों का अजीब संयोग था। मेरा पीतांबर और भैया का नीलांबर। ऐसा लग रहा था मानो रात-दिन दोनों एक साथ चल रहे हैं। इसी बीच एक सनसनी की तरह मेरे आगमन की सूचना मंडप में पहुँची और मंडप ‘द्वारकाधीश की जय’ से गूँज उठा। लोग मेरे

स्वागत में खड़े हो गए। मैंने चारों ओर दृष्टि घुमाई। याज और उपयाज के साथ ही हमारे आचार्य सांदीपनि भी खड़े थे। मुझे बड़ा संकोच हुआ। मैंने दौड़कर आचार्य के चरणों पर सिर धर दिया।

मेरे आगमन पर बहुत से लोग सम्मान व्यक्त करने के लिए खड़े हो गए थे। कुछ लोग दूसरों की देखा-देखी खड़े हो गए थे। वस्तुतः उनका खड़ा होना स्वतःस्फूर्त था नहीं। उस पूरी सभा में केवल दो व्यक्ति ऐसे थे, जो बैठे ही रह गए; जिन्हें लोगों का खड़ा होना और महाराज द्रुपद का हमें सम्मान देना भी अच्छा नहीं लगा। वे बैठे-बैठे ही कुड़बुड़ाते रहे। ये थे—जरासंध और शिशुपाल। मैंने कान में भैया से यह स्थिति बताई। उन्होंने उपेक्षा भरी दृष्टि से उस ओर देखा और आँखें घुमा लीं।

पर मैं स्वयं जरासंध के पास गया। आखिर वह मेरे मामा का श्वसुर था। मैंने झुककर प्रणाम किया। अब वह एक सलज्ज मुसकराहट के साथ खड़ा हो गया। मुझे वक्ष से लगाया भी। अब मैंने हँसते हुए शिशुपाल का हाथ पकड़कर उठाया और उससे गले मिला। मेरे और शिशुपाल के संबंध को सभी जानते थे। न तो उसे और न भीड़ को यह विश्वास था कि मैं उसके साथ ऐसा आत्मीय व्यवहार करूँगा। भीड़ मेरे इस अप्रत्याशित व्यवहार पर एक बार फिर जय-जयकार कर उठी।

वस्तुतः यह सबकुछ मेरी कूटनीति का ही एक हिस्सा था। मैं तनाव से मुक्त बड़े सहजभाव से उस उत्सव को निकाल ले जाना चाहता था। इसी से अपने मंचक पर बैठने के पहले उसी पर खड़े होकर मैंने चारों ओर घूम-घूमकर हर एक को प्रणाम किया। फिर जय-जयकारा लगा और एक धारणा-सी फैल गई कि इस सारे समारोह का नेता मैं ही हूँ।

अपने मंचक पर बैठते ही मेरी दृष्टि सामान्य जनता के बैठने की ओर गई। मैंने देखा, छंदक वहाँ मुँह लटकाए खड़ा है। मुझे समझते विलंब न हुआ कि पांडव अभी तक नहीं आए हैं। यद्यपि मैं मानसिक रूप से इस स्थिति के लिए भी तैयार था। मैंने रक्ताक्ष और श्वेतकेतु को एकांत में समझा दिया था कि मेरा संकेत पाते ही तुम गड़बड़ी शुरू कर देना। मैं शंख बजा दूँगा, तब तक हमारे साथ आई सेना उत्पात आरंभ कर देगी। आगे मैं देख लूँगा।

मुझे लगा कि हो सकता है, मुझे यही रणनीति अपनानी पड़े; क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि द्रौपदी पांडवों के सिवा और किसी के हाथ लगे। मेरी चिंतातुर आँखें लगातार मुख्य द्वार की ओर लगी थीं। इस बीच धृष्टद्युम्न समारोह को आरंभ करने की आज्ञा लेने दो बार आया। मैंने दोनों बार कुछ और ठहरने के लिए उससे कहा। मेरे विलंब करने का कारण उसकी समझ से परे था; पर वह कुछ कहने की स्थिति में नहीं था। उधर उपस्थित लोगों का दबाव समारोह को शीघ्र आरंभ करने के लिए बढ़ता जा रहा था।

सिंधु तो चंद्रमा को देखकर उद्वेलित होता है, पर मेरा मन तो चंद्रमा की खोज में उद्वेलित था। एक बार तो मैं घबराहट में अपने स्थान से उठकर छंदक के पास तक चला आया। भीड़ की हर आकृति पर मेरी आँखें चिपकती रहीं; पर कहीं पर भी उन्हें संतोष नहीं मिला।

इसी बीच मंडप के मुख्य द्वार पर अचानक कोलाहल हुआ। व्यवस्था में लगे लोग उस ओर दौड़े। शीघ्र ही मुझे सूचना मिली कि द्वार पर कुछ ब्राह्मण खड़े हैं। वे द्वारकाधीश को बुला रहे हैं। मेरे मन का सिंधु कुछ थमने लगा।

मैंने शीघ्र ही धृष्टद्युम्न को बुलाया और कहा, “जरा द्वार पर देखो, कुछ ब्राह्मण हैं। यह सारी गड़बड़ी उन्हीं की ओर से हो रही है। पता लगाओ कि वे क्या चाहते हैं?”

“सुरक्षाधिपति का कहना है कि वे विलंब से आए हैं; पर उनका कहना है कि बहुत पहले से आए हैं, उन्हें प्रवेश नहीं दिया जा रहा है।”

“क्यों? क्या समय का बंधन था?”

“बंधन तो नहीं था, पर भीड़ काफी हो गई है।” धृष्टद्युम्न बोला, “यदि अब रोका नहीं जाएगा तो गड़बड़ी हो जाएगी।”

“गड़बड़ी तो ऐसे भी हो रही है।” मैंने हँसते हुए कहा, “मेरा तो विचार है, उन्हें धीरे से बुलाकर आगे बैठा दीजिए। सारी गड़बड़ी समाप्त हो जाएगी।”

“पर वे आपको बुला रहे हैं।” धृष्टद्युम्न बोला, “उनमें से एक बड़ा उद्यत है, बिना आपके गए शांत नहीं होगा।”

“तुम छंदक को ले जाओ। वह सब ठीक कर देगा।” मैंने कहा और वह छंदक की ओर बढ़ा।

लगता है, मेरे पीछे बैठा दुर्योधन यह सब सुन रहा था।

“अरे, जल्दी समारोह शुरू कराइए। आप इन सब झमेलों में क्यों पड़ते हैं? आखिर जो विलंब से आया है, उसे प्रवेश पाने का क्या अधिकार है?”

उसकी बात सुनकर धृष्टद्युम्न फिर ठिठक गया।

“अभी आप कैसे कह सकते हैं कि विलंब से आए हैं? उनका तो कहना है कि हम कब से खड़े हैं और हमें प्रवेश नहीं दिया जा रहा है।” मैंने कहा, “वस्तुतः यह हमारी भूल है कि हमने समारोह का कोई निश्चित समय नहीं दिया है। केवल ‘पूर्वाह्न’ लिखा है।”

“तब! ऐसे ही लोग आते जाएँगे और आप प्रवेश देते जाएँगे?” दुर्योधन बोला।

“नहीं, स्पर्धा आरंभ होते ही द्वार बंद कर दिया जाएगा।” मैंने कहा और धृष्टद्युम्न को शीघ्रता करने का निर्देश दिया।

वह तुरंत छंदक को लेकर मुख्य द्वार की ओर गया और पाँच ब्राह्मणों के साथ बैठे लोगों के बीच लाँघता-फाँदता आगे आया। उनमें भीम सबसे आगे था। उसकी उद्दंडता स्पष्टतः उसकी पहचान करा रही थी। भैया ने भी मेरा हाथ दबाया। वे पांडवों को पहचान गए; पर औरों के लिए तो वे मरे सिंह थे। शिकार के लिए यहाँ कैसे आते?

उन ब्राह्मणों को एकदम आगे, समारोह-स्थल के निकट आचार्य सांदीपनि जहाँ बैठे थे, वहीं भूमि पर बिछे आस्तरण पर बैठा दिया गया। सभी मुँह नीचा किए चुपचाप ऐसे बैठे जैसे उनसे किसी से कोई मतलब ही न हो।

उनकी सज्जनता दुर्योधन को भी अद्भुत लगी। वह बोल पड़ा—“ऐसे सज्जन लोग क्या उद्दंडता कर सकते हैं? अरे, उद्दंडता करने के लिए भी सामर्थ्य चाहिए।”

मैं मन-ही-मन हँसा और हँसते हुए ही मैंने समारोह आरंभ करने का निवेदन किया।

लोगों ने देखा कि महाराज द्रुपद और आचार्य सांदीपनि में कुछ मंत्रणा हुई। फिर आचार्य स्पर्धा मंच पर आए और घोषणा की—

“महाराज द्रुपद, देश-देश से पधारे नृपतिगण, सम्मान्य अतिथि एवं पांचाल की राजभक्त प्रजा! जैसाकि आप जानते हैं, पांचाल नरेश ने अपनी पुत्री के स्वयंवर के लिए आज का समारोह आयोजित किया है। इसमें धनुर्विद्या की एक स्पर्धा रखी गई है। जो इस स्पर्धा में विजयी होगा, याज्ञसेनी उसी का वरण करेगी। मैं अब समारोह के आरंभ की उद्घोषणा करता हूँ। आप सबका अपनी ओर से और महाराज की ओर से हार्दिक अभिनंदन करता हूँ। साथ ही, धृष्टद्युम्न को आदेश देता हूँ कि वे विधिवत् कार्य आरंभ करें।”

करतलध्वनि और ‘साधु-साधु’ के नारों के साथ कार्यक्रम आरंभ हुआ। पहले ब्राह्मणों ने वैदिक मंत्रों द्वारा देवों का आराधन किया। पंडाल में मौन का अंचल कुछ देर तक मंत्रध्वनि से स्पंदित होता रहा।

प्रार्थना समाप्त होते ही द्रौपदी मंडप में लाई गई। उसके साथ उसकी अनेक सखियाँ और परिचारिकाएँ थीं।

आगे-आगे गंगाजल से भरे दो स्वर्ण कलशों को सिर पर धरे दो सुंदर बालिकाएँ आईं। उन कलशों पर दीप जल रहे थे। उनके पीछे कुंकुम और अक्षत से सजी थाली में दीप लिये नौ कन्याएँ थीं। आते ही उन कन्याओं ने सांदीपनि, याज, उपयाज आदि ऋषियों की आरती उतारी। फिर महाराज द्रुपद की आरती करने सिंहासन की ओर बढ़ीं। मंगल गान आरंभ हुए। इसी बीच मैंने देखा कि महाराज उन कन्याओं से कुछ कहते हुए मेरी ओर संकेत कर रहे हैं।

वे तुरंत मेरी ओर आईं। यह मेरे प्रति द्रुपद की महान् भावना का प्रतीक था। कहीं-न-कहीं मेरा ईश्वरत्व उन्हें प्रभावित कर रहा था। पर इससे मैं बड़े संकोच में पड़ा। सामने धर्मराज बैठे हों और मेरी आरती उतारी जाए। उसी समय मेरे मुख से निकला—“महर्षियों और महाराज की आरती के बाद ब्राह्मणों की आरती होनी चाहिए और फिर राजाओं की। यही आर्ष व्यवस्था है।”

मेरी यह बात जरासंध और शिशुपाल दोनों को अच्छी न लगी। वे तो उसी समय कुड़बुड़ाने लगे थे, जब आरती उतारनेवाली कन्याएँ मेरी ओर बढ़ी थीं। मेरे इस प्रस्ताव पर भी उन्होंने रोष ही व्यक्त किया—“व्यर्थ का यह सब नाटक मत कराइए। स्पर्धा आरंभ कीजिए।”

“स्पर्धा आरंभ तो होगी ही।” मैंने खड़े होकर कुछ ऊँचे स्वर में कहा, “पर ब्राह्मणों की अभ्यर्थना के बाद ही कोई मंगल कार्य आरंभ होना चाहिए। ब्राह्मण देश की मनीषा के अधिष्ठाता हैं। राष्ट्र पर हमारा शासन है; पर राष्ट्र की चिंतना पर ब्राह्मणों का। चिंतना के बिना मनुष्य जानवर है और समाज पानी-मिट्टी के ढेर पर बसा मनुष्यों का जंगल।”

“बस कीजिए, बस कीजिए। भाषण देने के लिए आपको बाद में समय मिलेगा।” यह आवाज सत्राजित् की थी। वह जरासंध की ही बगल में बैठा था।

अभी तक मेरी दृष्टि उधर नहीं गई थी। भैया को यह बहुत बुरा लगा। वे तुरंत उठकर खड़े हो गए। उन्हें जरा भी अपमान सह्य नहीं था।

मैंने उन्हें सँभाला। उनके कान में धीरे से कहा, “ये लोग पूर्व योजना बनाकर गड़बड़ी करने आए हैं। हमें इनकी चाल में नहीं आना चाहिए।”

भैया चुपचाप बैठ गए। आरती करनेवाली कन्याएँ भी ब्राह्मणों की ओर चली गईं। मैंने हँसते हुए सभापति से कहा, “आप ठीक कह रहे हैं। हमें तो अपने भाषण के लिए बार-बार अवसर मिलता रहेगा, पर पांचाली के लिए तो यह एक ही अवसर है।”

मेरी नीति सदा बहुमत की सहानुभूति पाने की रही है। इस समय भी मैं अधिकांश की सदाशयता का आकांक्षी था; क्योंकि जो स्थिति उत्पन्न होनेवाली थी, उसका आभास मेरे सिवा किसी को नहीं था।

इसके बाद धृष्टद्युम्न के साथ पांचाली सभामंडप में सबसे परिचय कराने के लिए ले जाई जाने लगी। चंदन और अंगराग से सुचिक्कन पांचाली की सुघड़ काया किसी की भी दृष्टि को चिपका लेने में स्वयं समर्थ थी; पर इस समय वह स्वर्ण आभूषणों और रेशमी वस्त्रों से ऐसी सजी-सँवरी थी, मानो रति की अनुकृति हो। बालों में लगे फूल ऐसे लग रहे थे मानो मेघों में बिजली जमकर रह गई हो। अलक्तक लगे हाथ जोड़े हुए पांचाली अपने भाई के साथ सभी राजा-महाराजाओं के सामने जाती, धृष्टद्युम्न उन राजाओं का परिचय कराता और पांचाली एक सलज्ज मुसकराहट के साथ आगे बढ़ जाती।

इसी क्रम में वह मेरे सामने भी आईं। आज वह अद्भुत लग रही थी। उस यज्ञपुत्री का संपूर्ण व्यक्तित्व स्वर्णिम ज्वाला की तरह लपलपा रहा था। जिसे मैंने अनेक बार देखा था, उसे आज और अधिक देखने की इच्छा हो रही थी। फिर भी मैंने अपने मन पर नियंत्रण किया और उसे आशीर्वाद देकर आगे बढ़ने का संकेत किया।

पर भैया की आँखें उससे ऐसी चिपकी कि वे अलग होना ही नहीं चाहती थीं। उसके वक्ष पर कसकर बँधे पटुके पर उनकी दृष्टि एकदम लगी थी। मैं भैया की प्रकृति भी जानता था और उनकी दुर्बलता भी। अंत में मुझे टोकना ही पड़ा—“क्या सोच रहे हैं? उसे आशीर्वाद तो दीजिए और वह आगे बढ़े।”

भैया ने इसके पहले द्रौपदी को शायद ही देखा हो। इससे उनका मन नहीं भर रहा था। उन्होंने आशीर्वाद तो दिया, द्रौपदी आगे बढ़ भी गई; पर उनकी मुँदी आँखों में अब भी वह बंद थी। उनका मौन अब भी उससे संभाषण में तल्लीन था।

मैंने उन्हें फिर टीका—“आप क्या सोच रहे हैं?”

“मैं सोच रहा हूँ कि दबाए नहीं दबते उभरनेवाले।” भैया बोले तो बड़ी गंभीरता से, पर एक कामुक हँसी उनके चेहरे पर उभर आई। मैं समझ गया कि भैया पांचाली के वक्ष पर बँधे पटुके के संबंध में कह रहे हैं।

इस बीच धृष्टद्युम्न ने कुछ शीघ्रता की। अब वह द्रौपदी को लेकर कौरवों की ओर चला गया था। उसने सबसे पहले मामा से परिचय कराया।

सुना है, पांचाली मामा को देखकर तुरंत बोल पड़ी—“इनसे तो मैं परिचित हूँ। ये भी मुझे जान गए होंगे।”

मामा कुड़बुड़ाकर रह गया। जब धृष्टद्युम्न दुर्योधन का परिचय कराकर आगे बढ़ा तो उसने केवल इतना कहा, “ये दुर्योधन के भाई हैं।” उसने कई लोगों की ओर संकेत किया। इतने कम समय में सबका परिचय देना संभव भी नहीं था। वह किसका-किसका नाम लेता। दुर्मुख, दुष्प्रधर्षण, विविंशति, विकर्ण, दुःशासन, युयुत्सु आदि सभी उपस्थित थे; पर धृष्टद्युम्न द्वारा इन लोगों के नाम लेने की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई।

इस परिचय पर्व का मुख्य अध्याय उस समय लिखा गया, जब द्रौपदी कर्ण के समक्ष आई। हम सबकी दृष्टि उस ओर पहले से लगी थी। धृष्टद्युम्न ने कहा कि यह अंगराज कर्ण हैं। इतना सुनते ही पांचाली बिना अभिवादन किए और बड़े उपेक्षाभाव से तुरंत आगे बढ़ गई। उसके व्यवहार में अप्रत्याशित परिवर्तन लोगों ने देखा। कौरव वर्ग को तो काफी बुरा लगा। मेरे मित्र चारुदेष्णा ने इसे कर्ण के प्रति अभद्रता की संज्ञा दी। भैया भी कुड़बुड़ाए; पर मैं मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न था। मुझे लगा कि मेरा प्रयास काम आया।

द्रौपदी के आगे बढ़ने के बाद कुछ समय में यह उबाल थम गया। परिचय पूरा करने के बाद पांचाली महाराज की बगल में आकर बैठ गई। शंख और तूर्य बजने लगे। स्वयंवर का कार्यक्रम विधिवत् आरंभ हुआ।

आचार्य सांदीपनि की अनुमति लेकर, महाराज का अभिवादन कर धृष्टद्युम्न खड़ा हुआ और समारोह मंच पर आकर उच्च स्वर में उसने उद्घोषणा की—

“परम पूज्य आचार्य सांदीपनि, याज, उपयाज, पूज्य पिताजी, द्वारकाधीश एवं देश-विदेश से पधारे राजे-महाराजे तथा राजकुमार गण और सामान्य ब्राह्मण वर्ग तथा आत्मीय प्रजाजनो एवं दर्शको!

“आप सबकी उपस्थिति से हम धन्य हुए हैं। हमारा गौरव बढ़ा है। आज पूरा पांचाल आपका हार्दिक अभिनंदन करता है और आपकी उपस्थिति से कृतकृत्य होता है। एक बार फिर हम आप सबका करबद्ध अभिवादन करने के बाद आचार्य की अनुमति से स्पर्धा के लक्ष्य को उद्घाटित करते हैं।” इतना कहकर धृष्टद्युम्न ने कई सेवकों को मंच पर बुलाया। मंच पर ही ढकी एक बहुत बड़ी लौह कड़ाही पर से पट हटाया गया। कड़ाही में तेल भरा था और कड़ाही के बीच में काफी ऊँची एक लौहयष्टि गड़ी थी। उसके ऊपरी छोर पर एक मछली बनी थी, जिसके नीचे एक चक्र चल रहा था। पास ही एक विशाल धनुष रखा था, जिसकी प्रत्यंचा लौह तंतु की थी।

उसे दिखाते हुए धृष्टद्युम्न ने कहा, “इसे आप लोग ध्यान से देखिए। इस धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर जो वीर तेल में परछाई देखते हुए मछली की आँख में बाण मारने में सफल होगा, उसी धनुर्धर के गले में मेरी बहन याज्ञसेनी

वरमाला डालेगी।”

इस घोषणा के बाद कई क्षणों तक सन्नाटा छाया रहा। अब सबकी दृष्टि धनुर्विद्या की परीक्षा के लिए बनाए गए यंत्र की ओर लगी। पीछे की पंक्ति में बैठे लोग भी उचक-उचककर मंच की ओर देखने लगे। किसी को भी ऐसी कठिन परीक्षा का विश्वास नहीं था।

मेरे पीछे बैठे दुर्योधन ने धीरे से मेरे कान में कहा, “आपका आशीर्वाद है न?”

स्वार्थ ऐसा सूत्रधार है, जो मनुष्य को हर नाच नाचने के लिए विवश कर देता है। सीधे मुँह बात न करनेवाला दुर्योधन आज मेरे आशीर्वाद के लिए लालायित था। मैं मन-ही-मन हँसा; पर चुप ही रहा।

फिर मैंने दुर्योधन को शकुनि से बात करते देखा। उधर शिशुपाल भी जरासंध से मंत्रणा कर रहा था। उन दोनों की सशंक दृष्टि मुझपर लगी थी। उनका सोचना था कि इस सारे खेल के पीछे षड्यंत्र है और उसके मूल में मैं हूँ; पर इससे वे संतुष्ट नहीं थे। किसी भी स्थिति में उनका अहं मुझे अपने से अधिक मानने को तैयार नहीं था। मेरे प्रति पांचाल के आदरभाव से भी वे सुलग रहे थे; पर कुछ बोलने की स्थिति में नहीं थे।

जब धृष्टद्युम्न की घोषणा पर कोई मंच पर नहीं आया, तब आचार्य सांदीपनि ने खड़े होकर राजाओं को संबोधित करते हुए निवेदन किया—“अब महानुभाव एक-एक करके मंच पर पधारें और अपना हाथ आजमाने की कृपा करें।”

संयोग कुछ ऐसा कि शिशुपाल और दुर्योधन एक साथ खड़े हुए। दोनों के अहं और आकांक्षाएँ भी लगभग समान थीं; पर जरासंध ने शिशुपाल को हाथ पकड़कर बैठा लिया। अब दुर्योधन मंच की ओर बढ़ा।

दुर्योधन के मंच पर चढ़ते ही कौरव पक्ष से उसका जय-जयकार हुआ। धनुष उठाने पर उसी ओर से ‘साधु-साधु’ की आवाज आई। पर ज्यों ही धनुष की प्रत्यंचा उसने उठानी चाही त्यों ही उसे ऐसा झटका लगा कि वह मंच के नीचे आ गया। इस पर कौरव विरोधियों का अट्टहास फूट पड़ा। मैंने देखा तो नहीं, पर लोगों का कहना था कि इस अवसर पर द्रौपदी की आकृति पर भी मुसकराहट उभर आई थी।

मेरे पीछे कुछ दूरी पर बैठा शकुनि शायद इसे ही देखकर दुःशासन से कह रहा था—“देखा, कैसी वह विष से बुझी है!” पर वे कुछ करने की स्थिति में नहीं थे। उनका सारा सपना दुर्योधन के गिरते ही चूर हो गया था।

किसी तरह दुर्योधन को उठाकर लोग उसके आसन तक ले आए। कर्ण अपने स्थान से उठकर उसके पास आया और उसके कान में कुछ कहा तथा उसकी पीठ ठोंकी। इस ढाढ़स बँधाने के बाद भी दुर्योधन की दृष्टि जो भूमि में गड़ी, सो गड़ी रह गई।

नियमतः अब शिशुपाल को जाना चाहिए था; पर लगता है, उसका साहस नहीं हुआ। वह अभी बैठा ही रह गया। इस बीच शाल्व, शल्य, सत्राजित्—लगभग सभी कौरव पक्ष के लोगों ने अपना हाथ आजमाया; पर वह अद्भुत धनुष किसी के हाथ नहीं लगा। सबकी दुर्योधन जैसी ही दशा हुई। किसी-किसी को तो काफी चोटें आईं।

कौरव पक्ष के लोगों के चेहरे उतर गए। उनकी आकृतियों पर घड़ी भर पहले दिखाई पड़नेवाली सारी हरियाली एक मूक निराशा ने चर डाली। अब कर्ण उठा। वह कौरव पक्ष की अंतिम आशा थी।

उसके उठने पर भी एक हलका सा हर्षनाद हुआ। जयकारा लगा। इस समय सबसे स्थिर, सबसे मौन और कुतूहल से भरी मेरी जिज्ञासा थी। मंच की ओर से सिंह-सा ऊर्जस्वित व्यक्तित्व ऐसे जा रहा था, मानो किसी मृगी को झपटने जा रहा हो।

मैंने पांचाली की ओर देखा। वह भी कर्ण को बड़े गौर से देख रही थी। उसकी दृष्टि में कुछ दूसरा ही भाव था। वह मंच पर भी चढ़ गया। मुझे लगा, पांचाली अब भी कुछ बोलेगी; पर वह चुप ही रही। मैं सत्य कहता हूँ, मेरा

मन घबराने लगा था।

अब कर्ण ने धनुष भी उठा लिया। सभा ने 'साधु-साधु' कहकर उसका अभिनंदन किया। मुझे लगा कि चारों ओर से मुझपर स्वर-पाषाण बरसाए गए। फिर जब उसने प्रत्यंचा चढ़ाई तो ऐसा जयघोष हुआ कि क्या बताऊँ। अब भी द्रौपदी चुप उसे निहार रही थी। किसी तरह मुझे मौका निकालकर संकेत करना पड़ा।

कर्ण लक्ष्य साधने ही वाला था कि द्रौपदी बोल उठी—“मैं सूतपुत्र का वरण नहीं करूँगी।”

उसके इतना कहते ही भीड़ के बीच से एक आवाज पत्थर की तरह मारी गई—“यह सरासर अन्याय है।” इतना कहते हुए एक लौहवर्णी युवक खड़ा हो गया—“यह धनुर्विद्या की स्पर्धा है या जाति की?”

मैंने थोड़ा उचककर देखा, वह एकलव्य था।

इस चिनगारी के बाद ही आग फैलने लगी। कौरव अपने स्थानों पर खड़े हो गए। जरासंध ने भी विरोध का लाभ उठाना चाहा। स्थिति नियंत्रण से बाहर हो, इसके पहले ही आचार्य सांदीपनि मंच पर आए।

अभी कर्ण मंच पर ही धनुष लिये खड़ा था। उसकी दृष्टि न द्रौपदी की ओर थी, न कौरवों की ओर और न भीड़ की ओर। वह एकटक पंडाल के बाहर पूर्व के आकाश में चढ़ते सूर्य की ओर देखता हुआ कुछ बुदबुदा रहा था। ग्लानि, अपमान और क्रोध से उसकी आकृति की अरुणिमा धधकने लगी थी। स्पष्ट लगा, जैसे उसकी आँखों से खून चू पड़ेगा।

आचार्य के आते ही वह धनुष रखकर चुपचाप मंच से उतर गया।

“आप महानुभाव शांत हों। ऐसी कोई समस्या नहीं, जिसका वैचारिक हल ढूँढ़ा न जा सके।”

“मैं समस्या का हल नहीं, मैं अपने उठाए गए प्रश्न पर व्यवस्था चाहता हूँ।” एकलव्य का ऊँचा स्वर पूरी सभा पर भारी पड़ा। सारे विरोधी स्वर या तो मंद पड़ गए या शांत हो गए।

“आपका क्या प्रश्न है? स्पष्ट कहिए।” आचार्य बोले।

“हमारा प्रश्न स्पष्ट है। यह स्पर्धा धनुर्विद्या की है या जाति की? यदि इसमें जाति की महत्ता को स्वीकार करना था तो निमंत्रण में इसका स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए था, जिससे क्षेत्रीतर लोग उपस्थित न होते। न तो निमंत्रण में इसका उल्लेख है और न तो स्पर्धा की घोषणा करते समय महाराजकुमार धृष्टद्युम्न ने ही इसके संबंध में कुछ कहा है। ऐसी स्थिति में अंगराज को 'सूतपुत्र' कहकर क्या उनका अपमान नहीं किया गया है?”

मेरी कूटनीति ने मुझसे कहा, 'किसी धारा की प्रखरता को सामने से रोकना ठीक नहीं है। उसकी गति के साथ चलते हुए या दौड़ते हुए उसे रोकने की चेष्टा करनी चाहिए।' अतएव एकलव्य की माँगी व्यवस्था पर मैंने भी सिर हिलाया। सारी सभा में गुबार तो उठ ही रहा था। लगता है, मेरे सिर हिलाने से आचार्यजी भी घबरा गए। उन्होंने महाराज की ओर देखा। महाराज किंकर्तव्यविमूढ़ थे।

बड़ी विचित्र स्थिति थी। हंगामे का तूफान उठने ही वाला था। एकलव्य ने अपने पूर्ण कथन में संशोधन किया। वह पुनः बोला, “यदि आपको व्यवस्था देने में कोई संकोच हो तो हम द्वारकाधीश की व्यवस्था से भी संतुष्ट हो सकते हैं।”

पीछे से मामा ने भी उसका समर्थन किया—“हाँ, यह ठीक है। अब कृष्ण ही बताएँ कि क्या किया जाए?” मामा सोच रहा था कि कृष्ण की जो भी व्यवस्था होगी, वह कौरवों के पक्ष में ही जाएगी। एकलव्य सोच रहा था कि सामाजिक न्याय का प्रश्न है, द्वारकाधीश की व्यवस्था हलाहल निगल नहीं सकती। चारों ओर का दबाव मुझपर था—केवल जरासंध और उसके साथियों को छोड़कर।

एक बात और थी। द्रौपदी द्वारा कर्ण को अस्वीकार कर दिए जाने पर जरासंध और उसके साथी लोगों के

असंतोष में हँ में हँ तो मिला रहे थे, पर भीतर से प्रसन्न थे। सबकी दृष्टि में एक महत्त्वपूर्ण प्रतिद्वंद्वी मार्ग से हट गया था।

दबाव इतना बढ़ा कि आचार्यजी को भी मुझे मंच पर बुलाना पड़ा। मेरे मंच पर आते ही सभा में सन्नाटा रेंग गया। लोगों की जिज्ञासा बढ़ी।

मंच पर आकर पूरी गंभीरता के साथ मैंने जो कुछ कहा, उसका सारांश था कि “एकलव्य ने बड़े गंभीर प्रश्नों पर व्यवस्था चाही है। न हम और न आज का हमारा समाज इन प्रश्नों की उपेक्षा कर जी सकता है।” मेरे इतना कहते ही लोगों ने करतलध्वनि की। ‘साधु-साधु’ का स्वर उठा।

मैंने देखा कि वातावरण अनुकूल है। अतएव मैंने एक-एक करके एकलव्य के प्रश्नों का उत्तर देना शुरू किया —“पहली बात तो यह है कि निमंत्रण याज्ञसेनी के विवाह का है, किसी धनुर्विद्या की स्पर्धा का नहीं। धनुर्विद्या की स्पर्धा तो विवाह की प्रक्रिया का एक भाग है, इसलिए विवाह के निमंत्रण में धनुर्विद्या की स्पर्धा की शर्तों का उल्लेख करना न तो आवश्यक था और न संभव। संभव इसलिए भी नहीं कि धनुर्विद्या की स्पर्धा कैसी होगी, उसमें कौन-कौन से लोग भाग लेंगे आदि-आदि इस समय बताया जाना चाहिए था। शायद इसीलिए कुछ लोगों को महाराजकुमार धृष्टद्युम्न की घोषणा आधी-अधूरी लगती है; पर वह वैसी है नहीं। यह जगद्-विदित है और इसे शास्त्र भी स्वीकार करते हैं कि सामान्यतः विवाह समान स्तर और समान जाति के बीच ही उपयुक्त होता है।”

मैं अपनी बात पूरी करूँ, इसी बीच एकलव्य बोल पड़ा—“तब क्षत्रीतर जाति के लोगों को बुलाया क्यों गया?” “आप मेरी पूरी बात सुन लें, तब शंका करें। मैं समझता हूँ कि यह अधिक उपयुक्त होगा।” मैं कहता रहा—“मैंने केवल समान जाति एवं समान स्तर की उपयुक्तता की बात कही है। मैं यह नहीं कहता कि असमान स्तर और असमान जाति में विवाह नहीं हो सकता। पहले हमें समान जाति में ही उपयुक्त वर की खोज करनी चाहिए। न मिलने पर हम क्षत्रीतर जातियों के लिए भी स्पर्धा का द्वार खोल सकते हैं; पर यह आचार्यजी की अनुमति से ही होगा। उसका भी क्रम सामाजिक श्रेष्ठता के आधार पर ही होना चाहिए। पहले सजातीय—अर्थात् क्षत्रिय, फिर ब्राह्मण, फिर वैश्य और फिर शूद्र।

“इसका अर्थ आप यह कदापि मत समझिएगा कि मैं किसी जाति को किसी जाति से हीन समझता हूँ। कर्मों द्वारा निर्धारित प्रत्येक जाति स्वयं में महान् है; पर समाज को, इस स्वयंवर को संचालित करने के लिए हमें किसी-न-किसी व्यवस्था को तो अपनाना ही होगा।

“अब रह गया हमारे वरेण्य मित्र कर्ण का संदर्भ। जो कुछ हुआ, उससे मुझे दुःख इस बात का भी है कि जितना हुआ, उससे और अधिक वह समझा गया। याद रखिए, विवाह एक पवित्र संस्कार है। इसमें कन्या की इच्छा सर्वोपरि है। उसकी इच्छा का तिरस्कार कर उसे गाय-बैल की तरह किसी से बाँधा नहीं जा सकता।”

इतना कहते-कहते मुझे लगा कि सुगबुगाहट होने लगी। असंतोष उभरने लगा। जिधर राजे-महाराजे बैठे थे, उधर से कई लोगों ने हाथ उठाकर बोलने की इच्छा व्यक्त की। मैंने उन सबसे आग्रह किया कि वे मुझे पूरा सुनने की कृपा करें। उनमें ही उनका समाधान भी मिल जाएगा।

“एक बात निश्चित है कि विवाह के लिए जोड़े के चयन में हमारी संस्कृति और परंपरा ने जितनी स्वतंत्रता वधू को दी है, उतनी स्वतंत्रता वर को नहीं है। वधू तो अनुगामिनी होती है। आगे चलनेवाला प्राणी पीछे चलनेवाले जीव को चुनेगा या पीछे चलनेवाला जीव आगे चलनेवाले प्राणी को?”

इस बार एक हलकी सी हँसी उस संतोष और असंतोष के मिले-जुले वातावरण पर तैर गई।

मैं भी मुसकराते हुए बोलता रहा—“एक और बात ध्यान देने की है। मान लीजिए, इस स्पर्धा में एक से अधिक



व्यक्ति सफल हो जाते हैं, तब क्या पांचाली सबको अपना पति स्वीकार करने के लिए विवश होगी? अंत में तो उसे किसी एक को ही चुनना पड़ेगा। इसलिए पति के चुनाव में प्रधानता तो उसकी इच्छा को ही दी जाएगी।”

फिर मैंने द्रौपदी के कथन का उल्लेख किया—“द्रौपदी ने कहा है कि ‘मैं सूतपुत्र का वरण नहीं करूँगी।’ उसने यह तो नहीं कहा कि मैं कर्ण का वरण नहीं करूँगी। फिर कर्ण का अपमान कैसा! उस महारथी को अपमानित करनेवाली तो वे सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, जिन्होंने उसे सूतपुत्रत्व के लिए अभिशप्त किया। इसमें उसका भी क्या दोष है?

“मैं समझता हूँ कि द्रौपदी कर्ण का वरण करने को तैयार है, यदि कर्ण मंच पर आकर स्वयं कहें कि वह सूतपुत्र नहीं हैं। वे पधारें और कह दें। सारी समस्या का समाधान हो जाएगा।”

काफी देर तक सन्नाटे की बुदबुदाहट बनी रही। कोई कुछ बोला नहीं और न कर्ण ही मंच पर आया। अब मैं थोड़ा आक्रामक हुआ—“जब कर्ण स्वयं सूतपुत्र होने को अस्वीकार नहीं कर सकता, तो द्रौपदी ने यदि कह दिया और अपनी इच्छा व्यक्त कर दी तो कौन सा अपराध कर दिया? अतएव मैं आचार्यजी की अनुमति से महाराजकुमार धृष्टद्युम्न से कहूँगा कि वे कार्यक्रम को आगे उसी क्रम में चलाएँ जैसा मैंने सुझाव दिया है।”

मैं मंच से उतरने लगा, तब तक शिशुपाल खड़ा हो गया। मुझसे द्वेषवश एक व्यर्थ का प्रश्न उसने उछाला—“यह सुझाव देने का अधिकार आपको दिया किसने है?”

इस अनर्गल प्रश्न का उत्तर देना मैंने उचित नहीं समझा। पर जनता चिल्ला उठी—“चेदि नरेश बैठ जाएँ! चेदि नरेश बैठ जाएँ!”

शिशुपाल अपमानित होकर जहाँ से उठा था, वहीं बैठ गया।

इसके बाद कुछ और राजाओं ने भी मंच पर आकर अपना जोर आजमाया; पर सभी असफल हुए।

अब शिशुपाल उठा। कई बार अपनी भुजाएँ तौलीं और बड़ा इठलाता हुआ मंच पर आया। बड़े ढंग से चारों ओर घूमकर उसने सभी को प्रणाम किया। लगा, जैसे सबके आशीर्वाद से वह विजयी होने जा रहा है। पर उसने जब धनुष उठाया और प्रत्यंचा खींची तो ऐसा झटका लगा कि वह संज्ञाशून्य होकर गिरा।

परिचरों ने उसे तुरंत उठाया। राजवैद्य ने चिकित्सा आरंभ की। होश में आते ही उसने कहा, “इस धनुष में कोई रहस्य है। कल्मष है। स्पर्धा का यह सारा नाटक कृष्ण का एक षड्यंत्र है।”

पर अब शिशुपाल की कोई सुननेवाला नहीं था।

लगभग सारे राजा पस्त हो चुके थे। अब पता नहीं क्या सोचकर जरासंध उठा। भैया ने मुझसे कहा, “पागल हो गया है क्या! अरे, जरा अपने वय की ओर देखता, पांचाली से विवाह करने चला है। पांचाली तो इसके सामने इसकी पौत्री की अवस्था की होगी।”

लोगों में एक सनसनी-सी फैल गई। जरासंध कोई सामान्य व्यक्तित्व नहीं था। उसने तो मेरी नाक में दम कर रखा था। मेरा चिंतित होना स्वाभाविक था; पर प्रत्यंचा चढ़ाने में उसकी वृद्धता काम नहीं आई। वह झटका खाकर मंच के नीचे गिरा। पर किसी की सहायता के बिना उठा और बिना धूल झाड़े सीधे मंडप के बाहर हो गया। उसका लज्जित मुख फिर वहाँ दिखाई नहीं दिया। उसके पीछे-पीछे सहदेव, मेघसंधि आदि सभी चले गए।

अब मुझे पहली बार लगा कि गोटी मेरे हाथ में है। मैं मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न था; पर द्रुपद की मानसिकता लगभग जनक जैसी हो गई थी। वे सोच रहे थे कि हो सकता है, द्रौपदी बिन ब्याही रह जाए। उन्हें द्रौपदी के विवाह न होने का उतना दुःख नहीं था, जितना वे यह सोचकर दुःखी थे कि अब मेरे प्रतिशोध का क्या होगा?

अश्वत्थामा भी असफल हुआ। राजाओं की पंक्ति समाप्त हुई।

“अब क्या होगा?” सांदीपनि के मुख से निकला।

“द्रौपदी कन्हैया को सौंप दी जाएगी।” इस पूरे प्रसंग में शकुनि मामा पहली बार मेरे विरुद्ध लगा—“कन्हैया का यह सारा नाटक केवल द्रौपदी को प्राप्त करने का है।”

“आप भी कैसी बातें करते हैं, मामाजी!” मैंने बड़े आवेश में कहा, “पांचाली को मैंने अपनी छोटी बहन माना है। उसे आशीर्वाद दिया है, इसीलिए कि मैं उससे विवाह करूँ!”

“तब अब क्या होगा? बताओ, अब क्या होगा?”

शकुनि आवेश में बोल ही रहा था कि ब्राह्मणों की ओर से आवाज आई कि द्वारकाधीश की व्यवस्था के अनुसार, अब ब्राह्मण स्पर्धा में भाग लेंगे। लोगों ने देखा कि एक पर्वताकार व्यक्ति ब्राह्मणों में दहाड़ रहा था।

मैंने भैया के कान में धीरे से कहा, “पहचाना आपने! यह भीम है।”

भैया मुसकराए।

“पहले द्रौपदी से पूछा जाए, वह ब्राह्मणों को वरेगी या नहीं!” मामा आक्रोश में बोला।

मैंने हँसते हुए खड़े होकर कहा, “अरे भाई, यह प्रश्न तो उस समय उपस्थित होगा, जब कोई ब्राह्मण इस स्पर्धा में सफल होगा। व्यर्थ में खाँसी आने की संभावना पर अभी से मुँह बाए रहना कहाँ की योग्यता है?”

मेरे तर्क के समक्ष सभी निरुत्तर थे। आचार्यजी ने प्रतियोगिता में भाग लेने की अनुमति ब्राह्मणों को दे दी। फिर विरोध भुनभुनाहट में व्यक्त होने लगा।

“यह हम क्षत्रियों का अपमान है।” शायद यह आवाज दुःशासन की थी।

“जब अश्वत्थामा मंच पर गया तब कोई नहीं बोला। आखिर वह भी तो ब्राह्मण है।” विकर्ण ने तुरंत अपने भाई का प्रतिवाद किया।

तब तक ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन मंच पर चढ़ चुका था। बड़े सहजभाव से उसने अपना उत्तरीय उतारकर मंच पर रखा। फिर बड़ी शांति और विश्वास के साथ उसने धनुष उठाया। बड़ी सहजता से प्रत्यंचा चढ़ाई। इतने पर ही ब्राह्मण लोग मारे उत्साह के उछल पड़े। करतलध्वनि हुई। दर्शकों की ओर से भी ‘साधु-साधु’ के नारे लगे। मैंने देखा, पांचाली बड़े ध्यान से उस ब्राह्मण को देख रही है। पुष्ट मांसपेशियों के बीच स्फीत शिराओंवाला उसका आकर्षक व्यक्तित्व जहाँ द्रौपदी को अपनी ओर खींचे था, वहीं उसके ‘करतब’ से भी सभी स्तब्ध रह गए थे।

फिर नीचे की कड़ाही के तेल में पड़ रही मछली की परछाई देखकर अर्जुन ने सटीक लक्ष्य साधा और क्षण भर में मछली की आँख वेध दी।

अब क्या था, दर्शक उछल पड़े। ब्राह्मणों का वर्ग तो अपना उत्तरीय हवा में उछाल-उछालकर पागलों-सा नाचने लगा।

कौरव समूह के अपमान का चोट खाया नाग फुफकार उठा—“यह राजाओं का अपमान है! क्षत्रियों के पौरुष को ब्राह्मणों की चुनौती है!”

शकुनि भी उन्मत्तों की तरह बड़बड़ाने लगा। उसके स्वर में स्वर मिलाया शिशुपाल ने—“मैं तो पहले ही कह रहा था कि हम लोग बहुत बड़े षड्यंत्र के शिकार हो रहे हैं।”

“हमारा दोष यही है कि हम उस दुष्ट छलिया की चिकनी-चुपड़ी बातों में आ गए।” यह आवाज थी सत्राजित की।

उधर ब्राह्मणों का आनंद नृत्य चल रहा था, इधर सबसे रुष्ट कर्ण था। उसके अपमान का आक्रोश भीतर-ही-भीतर सुलग रहा था। तब तक कौरवों में से कुछ ब्राह्मणों की ओर झपटे। कुछ ने इसका विरोध किया—“अरे,

ब्राह्मणों पर आक्रमण मत करो। उनका क्या दोष? दोषी तो इस नाटक का महानायक द्रुपद है। उसने हम क्षत्रियों का अपमान किया है। अपनी दुहिता का विवाह एक ब्राह्मण के साथ करने जा रहा है।”

असामान्य स्थिति थी। मैंने देखा, सब गड़बड़ हुआ जा रहा है। मैंने तुरंत धृष्टद्युम्न को संकेत किया। अब विलंब किसलिए? उसने उसी समय द्रौपदी के कान में कुछ कहा। वह उठकर मंच पर गई और अर्जुन के गले में वरमाला डाल दी। ब्राह्मणों ने आशीर्वाद दिया। प्रसन्नता में मैं भी करतलध्वनि कर बैठा। पर शीघ्र ही मन ने कहा, ‘यह क्या कर रहे हो? तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।’ हाथ रुक गया; पर हृदय तो बज ही रहा था। अर्जुन ने लक्ष्य पहले वेधा, पर मेरा लक्ष्य तो अब पूरा हुआ।

मैंने भैया से धीरे से कहा, “हमें अब स्थिति सँभालनी चाहिए।”

तब तक कर्ण द्रुपद की ओर बढ़ चला था। वे घबराकर मेरी ओर दौड़े।

अर्जुन ने कहा, “आप कहाँ जाते हैं? इसके लिए तो मैं ही काफी हूँ।”

“ब्राह्मण, तुम हट जाओ।” कर्ण तड़पा—“तुम ब्राह्मण होने से अवध्य हो।”

“ब्राह्मण जब था तब था, अब तो मैं महाराज द्रुपद का जामाता हूँ। फिर भी मैं तुम्हारे लिए तो अवध्य ही हूँ। तुममें इतनी शक्ति कहाँ कि तुम मेरा वध कर सको!” अर्जुन ललकार ही रहा था कि पीछे से एक और ब्राह्मण धनुष और निषंग लिए आगे आया। बाद में हम लोगों ने पहचाना कि यह तो नकुल है। शायद छिपाकर वह अर्जुन का धनुष-बाण रखे था।

धनुष के हाथ में आते ही अर्जुन पूरे उत्साह में आ गया। उसने ललकारते हुए कहा, “अंगराज, इस भीड़ से बाहर निकलो। व्यर्थ समारोह की पवित्रता को नष्ट न करो; क्योंकि तुम्हारे स्वर्ग सिंधारते ही इसकी शुचिता नष्ट हो जाएगी।”

इतना सुनते ही कर्ण ने पंडाल के बाहर छलाँग लगा दी। उसके पीछे-पीछे कौरव पक्ष के कुछ लोग भी चले।

मैंने मामा को दुर्योधन से कहते सुना—“इसकी आवाज तो अर्जुन जैसी लगती है।”

“भ्रम तो मुझे भी लगता है; पर लाक्षागृह में भस्म हो जाने के बाद उसकी उपस्थिति कुछ समझ में नहीं आती।” दुर्योधन बोला।

“पर एक दिन इस कन्हैया को यह कहते सुना था कि मरा घोड़ा भी कभी-कभी घास खाते दिखाई देता है।” शकुनि इतना कहते-कहते मुझसे दूर हो गया था। फिर दुर्योधन और उसमें क्या बात हुई, मुझे ज्ञात नहीं।

बाहर अर्जुन और कर्ण जूझ रहे थे, भीतर भीम और शल्य भिड़े थे। इन दोनों मल्लों का भीषण युद्ध चल रहा था। भीम ने कई बार उठाकर शल्य को उसी मंच पर पटका। देखते-देखते स्पर्धा का मंच अखाड़ा बन गया। शल्य ने कदाचित् कभी सोचा न था कि ऐसे मल्ल से सामना होगा। दर्शक भी बड़े उत्साह से यह मल्लयुद्ध देख रहे थे। हर्षातिरेक से विह्वल ब्राह्मण जहाँ एक ओर भीम का उत्साहवर्धन कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर उसकी विजय की कामना में भी संलग्न थे।

इसी बीच क्रुद्ध सिंहों-सा शल्य उठकर भीम पर झपटा। भीम दौंव बचा ले गया; पर मंच से छलाँग लगाकर वह नीचे आया और पंडाल के बाहर एक विशाल पेड़ को उखाड़कर शल्य पर झपटा।

“हे, हे! यह क्या कर रहे हैं?” कहते हुए हम दोनों भाई बीच में आ गए। हम लोगों ने किसी तरह उन दोनों को अलग किया। शल्य को मैंने समझाया कि यदि यह आपको मार डालेगा तो कुछ नहीं होगा, पर यदि यह आपके हाथ से मार डाला गया तो आपको ब्रह्महत्या लगेगी।

शल्य ने बड़ी गंभीरता से मेरी बातें सुनीं। वह मेरे साथ आकर अपने आसन पर बैठ भी गया। उनके दाँत से

बहते रक्त को मैंने अपने उत्तरीय से पोंछा भी।

इस बीच उन्होंने एक बात बड़ी गंभीरता से पूछी, “कन्हैया, तुम्हें विश्वास है कि यह ब्राह्मण ही है?”  
“लगता तो ब्राह्मण ही है।” मैंने बस इतना ही कहा।

“पर इसके प्रहार तो भीम जैसे ही लग रहे थे।” शल्य बोला।

मैंने ऐसी मुद्रा बनाई जैसे मैंने कुछ सुना ही नहीं।

उधर अर्जुन और कर्ण का युद्ध अभी भी चल रहा था। उनका गर्जन-तर्जन साफ सुनाई पड़ रहा था। सबसे घबराए हुए तो महाराज द्रुपद थे। उन्होंने मुझसे आग्रह के स्वर में कहा, “जरा बाहर जाकर तो देखें।”

अर्जुन के धनुष की टंकार को तो हर कौरव पहचानता था, पर मरे हुए घोड़े को घास खाता देखकर वे स्तब्ध-सा रह जा रहे थे।

सुना है, कर्ण ने कई बार अर्जुन से पूछा था—“आखिर तुम कौन हो? कहीं परशुराम की आत्मा परकाया प्रवेश तो नहीं कर गई है!”

लोग बता रहे थे कि वह ब्राह्मण-योद्धा इस पर भी चुप था। फिर जब कर्ण के कई वार व्यर्थ गए तब उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने धनुष रख दिया और कहा, “कहीं आप ब्राह्मण के वेश में इंद्र या अर्जुन तो नहीं?”

इसपर अर्जुन मुसकराता रहा। वह बस इतना ही बोला, “मैं केवल ‘मैं’ हूँ।”  
“अरे भाई, यह तो ब्राह्मणकुमार हैं।” दर्शकों में से एक ने कहा, “यह अर्जुन कैसे हो सकता है? वह तो वारणावत में भस्म हो गया था।”

अब मुझे मौका मिला। मैंने कहा, “यह व्यर्थ का युद्ध क्यों हो रहा है? आप दोनों में कोई वैमनस्य है?”

दोनों ने सिर हिलाकर कहा, “नहीं।”

“तब आपस में मर-मिटने से लाभ?” अब मैंने दुर्योधन की ओर देखकर पूछा, “क्या आप इस युद्ध के पक्ष में हैं?”

उसने भी नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया। किंतु इतना कहा अवश्य—“हम लोगों के प्रति विश्वासघात हुआ है।”

“इस ब्राह्मणकुमार ने किया है?”

“नहीं।”

“तब आप इसे क्यों मारने पर उतारू हैं?”

“हम लोग तो द्रुपद को मजा चखा रहे थे; पर यह तो व्यर्थ में ही बीच में आ गया।” दुर्योधन बोला।

“क्यों न आता! महाराज का जामाता जो हूँ। मेरे रहते आप उनका बाल भी बाँका नहीं कर सकते।” अर्जुन बोला।

फिर भैया ने भी कुछ कहा-सुना और समझा-बुझाकर युद्ध बंद कराया। यथाशीघ्र मैंने आचार्य से समारोह की समाप्ति की घोषणा कराई। लोग अपने शिविरों की ओर गए। दर्शक प्रसन्न थे और कुतूहल से भरे हुए। उनके लिए आज परिणाम अप्रत्याशित था। चारों ओर नगर में आज यही चर्चा थी कि एक बार फिर परशुराम विजयी और क्षत्रिय पराजित हुए।

□

सूर्य अपराह्न की ओर हुलक चुका था। मध्याह्न के भोजन में देर हो गई थी, फिर भी महाराज ने शीघ्रता की। हर शिविर में भोजन भेजा जाने लगा; पर कौरव और उनके मित्रों ने आज भोजन लेना अस्वीकार कर दिया। उनका कहना था कि हमारे साथ धोखा हुआ है! हमें विश्वास नहीं था कि हम क्षत्रियों को ऐसा नीचा दिखाया जाएगा।

उनका कहना था कि यदि प्रतियोगिता में कोई उत्तीर्ण नहीं हुआ, तो भी द्रुपद को अपनी पुत्री का विजातीय विवाह नहीं करना चाहिए था।

धृष्टद्युम्न ने पहले इस स्थिति की सूचना मुझे दी। मैंने उससे कहा, “तुम व्यर्थ की चिंता मत करो। यदि कोई भोजन नहीं स्वीकार करता, तो न करे। हमने अपना कर्तव्य तो किया। यदि चाहो, तो एक बार जाकर तुम उन सबसे भोजन के लिए विनीत आग्रह भी कर आओ—और क्या कर सकते हो?” मैंने उससे यह भी कहा, “इस स्थिति की सूचना महाराज को मत देना। वे व्यर्थ की चिंता में पड़ जाएंगे।”

इस बीच मैंने द्रौपदी को ब्राह्मणों के साथ बिदा करने के लिए दबाव डाला; क्योंकि मैं किसी तरह उसे वहाँ से हटाने के पक्ष में था।

धृष्टद्युम्न ने शंका की—“विवाह के पूर्व ही बिदाई?”

मैंने मुसकराते हुए उसकी ऐसे पीठ ठोंकी, जैसे उसे किसी गंभीर कूटनीति के पालन की सलाह दे रहा होऊँ। मैं कुछ बोला तो नहीं, पर वह मेरा संकेत समझ गया।

धृष्टद्युम्न ने मेरी बात अपने पिता से कही। उन्होंने तुरंत मुझे अपने पास बुलाया और वही शंका व्यक्त की, जिसे धृष्टद्युम्न व्यक्त कर चुका था—“अभी तो विवाह भी नहीं हुआ, तब कन्या की बिदाई कैसी?”

“महाराज, विवाह तो उसी समय हो गया, जिस क्षण लक्ष्यवेध हुआ और आपकी कन्या ने विजयी को वरमाला पहना दी।” मैंने कहा, “अब तो एक औपचारिकता बाकी है। वह भी उचित मुहूर्त पर हो जाएगी।”

“पर बिदाई का भी मुहूर्त देखना पड़ेगा।” महाराज बोले।

“विवाह के बाद की बिदाई का मुहूर्त देखना पड़ता है। इस समय तो बिन ब्याहे कन्या भेजी जा रही है। बिन ब्याहे द्रौपदी कहीं भी और किसी के साथ जा सकती है।” मैंने कहा।

आचार्य सांदीपनि खड़े थे। याज और उपयाज भी थे। उन्हें मेरी बात विचित्र लग रही थी। तब तक महाराज बोल पड़े—“अभी तक तो हमारे अतिथि जमे हैं। उनका विरोधी तेवर ज्यों-का-त्यों बना है।”

“इसीलिए तो कह रहा हूँ कि मधु को जितना शीघ्र हो, अपने पास से हटाइए। चींटे आपसे आप हटने लगेंगे।” मैंने कहा। लगता है, अब मेरी बात आचार्यों की भी समझ में आ गई। उन्होंने भी सिर हिलाकर मेरा समर्थन किया।

“इसके लिए द्रौपदी और उन ब्राह्मणों को कहीं छिपाया भी जा सकता है।” महाराज बोले।

“छिपाने से वह बात नहीं बनेगी, जो मैं चाहता हूँ। विरोधियों का फिर भी दबाव आप पर बना रहेगा।” मैंने कहा, “आपको चाहिए कि अविलंब आप गाजे-बाजे के साथ बिदाई कर दें। कुछ सैनिकों को भी उन्हें अपने स्थान तक पहुँचाने के लिए साथ कर दें, जिससे लोग देख लें कि सारा खेल खत्म हो रहा है।”

आचार्यों ने पुनः मेरा समर्थन किया। पर महाराज अब भी द्विविधा में थे। वे मुझसे एकांत में बातें करना चाहते थे। वे स्वयं उठकर मेरा हाथ पकड़े अंतःपुर की ओर बढ़े। पीछे-पीछे द्रौपदी भी थी।

मार्ग में उन्होंने मेरे कान में कहा, “मेरी समझ में आपकी बात बिल्कुल नहीं आ रही। मान लीजिए, इधर हमने आपके कथनानुसार बिदा कर दिया और उधर हमारे विरोधियों ने एकजुट होकर आक्रमण कर दिया, तब क्या होगा?”

“वही होगा, जो मैं चाहता हूँ।” मैंने हँसते हुए कहा, “कूटनीति कहती है कि शत्रु को सदा गलत नीति पर चलने के लिए विवश करना चाहिए।” मैंने समझाया—“जहाँ उन्होंने बिदा होती कन्या पर आक्रमण करने की गलती की, तहाँ सारी जनता थू-थू करती हुई उनपर टूट पड़ेगी। हम लोग मिलकर आक्रमण करेंगे।”

महाराज फिर भी मेरा मुँह देखते रहे। उनके भीतर बैठा नाग अचानक फुफकार उठा—“फिर मेरे प्रतिशोध का

क्या होगा?”

“उसी के लिए तो यह सबकुछ कर रहा हूँ, महाराज!” मुझे पुनः हँसी आ गई—“आपकी मनोकामना का हाथी बिल से बाहर निकल चुका है। अब केवल उसकी पूँछ निकलनी बाकी है।”

महाराज अब भी कुछ समझ नहीं पा रहे थे।

मैंने फिर बड़े विश्वास से कहा, “आपको दिए गए वचन का ही मैं पालन करने में लगा हूँ। हो सकता है, आपका प्रतिशोध ही आपका शरणागत हो जाए।”

“चलो, जो तुम कहते हो, उसपर विश्वास करता हूँ।” महाराज बोले और लौट पड़े।

“यह विश्वास का संकट ही तो आपको परेशान कर रहा है।” मैंने कहा, “आप इससे मुक्त होइए महाराज, और मुझपर भरोसा कीजिए।”

महाराज लौट पड़े। पर द्रौपदी कुछ कह नहीं पाई थी। वह मौन निष्क्रिय श्रोता मात्र रही। उसकी मानसिकता अंधकार के उस सागर में डूबती-उतराती दिखी, जिसमें एक तिनका भी नजर नहीं आ रहा था; फिर वह सहारा किसका लेती! वह मुझसे बहुत कुछ कहना चाह रही थी; पर किसी तरह इतना ही बोल पाई—“मेरे लिए आपकी क्या आज्ञा है?”

“तुम यथाशीघ्र अपने पति के साथ जाने की चेष्टा करो।”

“पर मुझे दिए वचन तो याद हैं?”

“खूब याद हैं।” मैं जोर से हँसा। मैंने सोचा, इससे इस समय कुछ अधिक कहना तो उचित नहीं होगा; पर ढाढ़स के लिए कुछ संकेत तो कर ही देना चाहिए। मैंने उसके कान में धीरे से कहा, “मैं जो कहता हूँ, वह करती जाओ। विधाता तुम्हारे दाहिने हैं। तुम क्या समझती हो कि इतना कठिन लक्ष्य वेधनेवाला कोई ब्राह्मण है!” इसके बाद मैं बड़े रहस्यमय ढंग से मुसकराया। इस बार वह भी मुसकराई। स्पष्ट लगा कि उसका तनाव ढीला पड़ा।

अभी भी वह अंधकार में थी। प्रकाश की एक स्वप्निल किरण की लकुटी उसे थमा दी गई थी। उसी को टेकता उसका शंकित मन आगे बढ़ा।

मेरे बार-बार दबाव देने से द्रौपदी की बिदाई कर दी गई। तूर्य, प्रणव और जय मंगल (एक वाद्ययंत्र) के साथ सेना की एक टुकड़ी ने उसे संप्रति बिदा दी। राजप्रासाद के द्वार पर ही आचार्यगणों ने उसे आशीर्वाद दिया। मुझे ठीक याद है, जब द्रौपदी ने उपयाज के चरण छुए तब विह्वलता में उनके मुख से निकला था—“तुम्हारे जीवन का उद्देश्य पूरा हो।”

“अब मुझे भी आशीर्वाद दीजिए कि मेरे यज्ञ कराने का भी उद्देश्य पूरा हो।” यह व्यग्र ध्वनि द्रुपद की थी। घायल सर्प की तरह उनका प्रतिशोध सदा छटपटाता ही दिखा। इस समय पुत्री के बिछोह के करुणार्द्र वातावरण में भी वह फुफकारने से बाज नहीं आया।

हम लोगों ने द्रौपदी की सखियों और परिवारवालों को भी राजप्रासाद से बाहर जाने नहीं दिया; क्योंकि युद्ध की आशंका हर क्षण बनी थी। क्षत्रियों का चोट खाया अहं किसी समय कुछ भी कर सकता था।

अर्जुन और द्रौपदी एक ही रथ पर सबसे आगे चले। उसके पीछे के रथ पर धर्मराज अपने भाइयों के साथ थे। कुछ दूर तक हम लोग भी उनको पहुँचाने आए।

दर्शक और पांचालवासी भी अपनी राजपुत्री को बिदाई देने के लिए आतुर दिखे; पर उन्हें यह कहकर रोक लिया गया कि अभी तो कन्या अपनी सास के चरण छूने और आशीर्वाद लेने जा रही है, वास्तविक बिदाई तो विवाह के बाद होगी।

मेरी योजना चुपचाप इन्हें राजधानी से हटा देने की थी, जिससे लोग समझ लें कि आयोजन समाप्त हो गया। उबाल आने के पहले ही मैं आग हटा देने के पक्ष में था। इसके लिए मेरे व्यक्तित्व ने अपनी भूमिका शुरू कर दी थी। मेरे मित्र अपने शिविरों को खाली करने का नाटक आरंभ कर चुके थे, जिसे देखकर और लोगों ने भी प्रयाण की तैयारी आरंभ कर दी।

मैं यह नहीं चाहता था कि पांडवों के जीवित रहने का रहस्य इस समय खुल जाए। इस रहस्य को अभी रहस्य बने रहने में ही हमारी भलाई थी।

कितना विचित्र था, न तो द्रुपद अपने जामाता की वास्तविकता को अभी तक पहचान पाए थे और न पांचाली अपने पति को। एक अनचीन्ही और अनजानी संभावना को वे मेरी मुठ्ठी में बंद बड़े रहस्य से देख रहे थे। शायद जीवन में किसी को उन्होंने ऐसा विश्वास न दिया होगा।

मैं प्रासाद द्वार पर ही खड़ा था कि विकर्ण का रथ आता दिखाई दिया। विकर्ण था तो दुर्योधन का भाई, पर आचार-विचार, प्रकृति आदि में एकदम उससे अलग। उसपर व्यंग्य करते हुए उसके भाई ही बहुधा कहते थे कि इसपर तो महात्मा विदुर की छाया पड़ गई है। बिल्कुल महात्मा हो गया है।

वह साहसपूर्वक सारे व्यंग्य बाण झेलता था और जिसे उचित समझता था, उसे विरोधी माहौल में भी बड़ी हिम्मत से कहता और करता था। इसीलिए धृतराष्ट्र पुत्रों में विकर्ण की एक अलग ही पहचान थी।

उसने आते ही मुझसे कहा, “सुना है, आप भी जा रहे हैं?”  
“सोचता तो यही हूँ।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “अब यहाँ रहकर क्या करूँगा? सारा नाटक तो खत्म हो गया।”  
“आप भी इसे नाटक ही कहते हैं!” विकर्ण बोला, “आपके विरोधी तो इस सारी स्पर्धा को आपका रचा नाटक मानते हैं और कहते हैं कि इस सबके पीछे आपका ही मस्तिष्क है। आप किसी बड़े षड्यंत्र की अवतारणा में लगे हैं।”

“हर व्यक्ति की अपनी-अपनी दृष्टि होती है। हर व्यक्ति अपने ढंग से सोचने के लिए भी स्वतंत्र है। मैं न उसकी दृष्टि बदल सकता हूँ और न उसका चिंतन।” फिर मेरी मायावी खिलखिलाहट छूटी और मैं दार्शनिक मुद्रा में बोला, “मैंने नाटक एक व्यापक अर्थ में कहा है। यह सृष्टि एक नाटक ही तो है। हम सब उसके पात्र हैं। हमारी अपनी भूमिकाएँ भी निश्चित हैं। हम उन्हें निभाएँगे और चले जाएँगे। यहाँ भी अब हमारी क्या भूमिका रह गई है?” मैंने उसे बताया—“मैं द्रुपद का अतिथि हूँ। उनकी अनुमति की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। जहाँ अनुमति मिली कि प्रस्थान किया।”

“उस ब्राह्मण के विषय में पता चला?”

“किस ब्राह्मण के बारे में?”

“अरे! वही, जिसको पांचाली ने वरमाला पहनाई!”

“मैंने कुछ जानने की चेष्टा नहीं की और क्यों करता?” मैंने कहा, “जितना जानूँगा, उतना परेशान होऊँगा। इससे अच्छा यही है कि जो जैसा है, उसे वैसा ही रहने दिया जाए। व्यर्थ परेशानी क्यों मोल ली जाए!”

फिर वह एकदम चुप हो गया। बहुत देर तक मेरी ओर मौन देखता रहा; जैसे वह कुछ कहना चाहकर भी कुछ कह नहीं पा रहा हो। फिर उसने एकदम मेरी ओर से दृष्टि हटा ली। पदत्राण से धरती कुरेदता और भूमि देखता रहा।

मैंने भी कुछ कहा नहीं। जो स्वयं फूटकर बहने की स्थिति में हो, उसे छेड़ने से लाभ क्या! एक बोझिल मौन हम दोनों के बीच कुछ क्षणों तक बना रहा। अंत में उसकी भरी-भरी आँखें ऊपर उठीं और भीगे स्वर में वह बोला,

“क्या सचमुच वे जल मरे?”

मैं समझ गया कि इसका संकेत पांडवों की ओर है। ज्ञातव्य है कि कौरवों में विकर्ण ही ऐसा था, जो पांडवों के भस्म हो जाने की सूचना पाकर सबसे अधिक दुःखी हुआ था। उसने कई दिनों तक भोजन नहीं किया था और रोता रहा था।

आज वह कर्ण और दुर्योधन की बहस सुनकर मेरे पास आया था। उसे पांडवों के जीवित रहने की सूचना से सबसे अधिक प्रसन्नता होगी; पर यह सूचित करने की स्थिति में मैं नहीं था। मैंने उसे टालने की नीयत से पूछा, “किसके जल मरने की बात करते हो?”

“पांडवों के।”

“इसमें भी कोई संदेह है!” मैं हँसा।

“संदेह है, इसीलिए तो आपके पास आया हूँ।” विकर्ण ने अब कर्ण और दुर्योधन की बहस का सारांश बताया—“कर्ण को विश्वास है कि स्पर्धा जीतनेवाला अर्जुन के सिवा कोई दूसरा नहीं हो सकता। मामा का भी कहना है कि यद्यपि वह लंबे केश और श्मश्रु से पहचान में नहीं आ रहा था; पर उसकी आवाज एकदम अर्जुन से मिल रही थी। धनुष से स्पष्ट अर्जुन के धनुष की टंकार निकल रही थी। कर्ण का कहना है कि मैंने कई बार उसके बारे में पूछा, पर हर बार उसने टालनेवाला ही उत्तर दिया।”

“भाई, कर्ण से तो उसका युद्ध ही हुआ है।” अब मैंने कहा, “उसकी दृष्टि धोखा नहीं खा सकती। यदि यह सत्य हो जाए तो हम लोगों से अधिक प्रसन्न इस संसार में कौन होगा!” मेरे इतना कहते ही विकर्ण खिलखिलाकर मेरे तन से लिपट गया।

“यदि यह सत्य हो तो लाक्षागृह में जला कौन था?” मैंने पूछा।

“यही तो बात समझ में नहीं आती।” विकर्ण बोला।

“इस संबंध में दुर्योधन की प्रतिक्रिया क्या है?” मैंने पुनः पूछा।

“वे बहुत दुःखी हैं।” विकर्ण ने बताया—“प्रतिस्पर्धा से लौटकर आँधी से टूटी डाल की तरह धरती पर न गिरकर पर्यंक पर पड़े हैं; जैसे उनके शरीर में अब शक्ति ही न रह गई हो। लेटे-लेटे ही कर्ण से मंत्रणा कर रहे हैं। वहाँ माता के अतिरिक्त और किसी के जाने पर रोक है।”

इसी क्रम में उसने यह भी बताया—“भैया को प्रतिस्पर्धा में हुई दुर्गति का दुःख तो था ही, जब से उन्हें पांडवों के जीवित रहने की संभावना का आभास लगा है, तब से उनके अहं का हिमालय पिघलकर आँखों से बह रहा है।”

“चलो, यह ठीक ही हुआ। अहं का हिमालय यदि पिघलेगा तो गंगा ही बहेगी। उसमें डुबकी लगाकर उसका मन शुद्ध हो जाएगा।”

“पर मेरे भाई के भाग्य में ऐसी गंगा नहीं है।” छूटते ही विकर्ण बोला, “उसका अहं पिघलेगा तो कर्मनाशा ही बहेगी। मुझे तो कुछ ऐसी स्थिति लगती है कि हो सकता है, वह अपना ही विनाश न कर ले।”

“हो सकता है,” मैंने कहा, “वह उन ब्राह्मणों पर आक्रमण करने की योजना बना रहा हो।”

इस बार विकर्ण खिलखिलाया—“क्या कहते हैं आप भी! ऐसी कमर टूटी है कि आक्रमण करना तो दूर, सिंह दहाड़ भी नहीं सकता। अब तो उसे बस यही चिंता है कि पांडव यदि जीवित हुए तो मैं संसार को क्या मुँह दिखाऊँगा! वह आँखें बंद भी करता होगा तो लाक्षागृह की लपटें ही दिखाई देती होंगी। अकेला जब होता होगा तो भस्म हुआ पुरोचन प्रेत की तरह आ जाता होगा। उसकी मानसिकता का आप अनुमान नहीं लगा सकते, कन्हैया!”



“यदि पांडव उसे कहीं जीवित दिखाई पड़ गए तब तो हो सकता है, वह पागल न हो जाए।” मैंने ऐसे खिलखिलाकर कहा कि विकर्ण को भी भुनी मछली जल में तैरती दिखाई दी और वह ठहाका मारकर मुझसे लिपट गया।

□

रात भर में अधिकांश शिविर खाली हो गए। मेला उठ गया था। जिसे जब अवसर मिला, अपनी सुविधा के अनुसार प्रस्थान कर गया। प्रातः गंगातट की ओर जाते समय पता चला कि आज कौरव पक्ष भी प्रस्थान कर रहा है।

मैं गंगातट पर छंदक के साथ स्नान करने गया था। छंदक बड़ा प्रसन्न था, विजय की मानसिकता में विह्वल। मैं मार्ग में उसे समझाता रहा कि विजय का उन्माद और हार का पश्चात्ताप दोनों बड़े घातक होते हैं। हो सकता है, गंगा किनारे इन दोनों मनःस्थितियों का टकराव हो जाए। इसलिए तुम गंभीर ही बने रहना; जैसे किसी से तुम्हारा कुछ लेना-देना ही न हो। छंदक ने मेरे आदेश का अक्षरशः पालन किया। कई लोग मिले, पर सभी से अभिवादन के अतिरिक्त कुछ नहीं बोला। स्नान कर जब मैं चलने को हुआ तब मेरी दृष्टि दूर जल में खड़े होकर सूर्याभिमुख पाठ करते कर्ण पर पड़ी। ऐसे भी उसका व्यक्तित्व आकर्षक और मोहक था। जल पर पिघले सोने की तरह पसरे उसके स्वर्ण कवच के प्रतिबिंब पर सूर्य की किरणों से प्रदीप्त उसकी आकृति यज्ञकुंड की धधकती आग से अधिक तेजस्वी लग रही थी।

पता नहीं क्यों, मैं उसकी ओर बढ़ गया और तट पर खड़े होकर बहुत देर तक उसे पाठ करता देखता रहा। जब उसका पाठ बंद हुआ, उसकी आँखें खुलीं और उसने मेरी ओर देखा, मैंने उसे प्रणाम किया। आखिर वह वय में तो मुझसे बड़ा ही था; और भी बहुत कुछ उसमें था, जो मेरे लिए प्रणम्य था।

उसने बड़ी श्रद्धा से मेरे अभिवादन का उत्तर दिया और मुसकराते हुए ठहरने का संकेत किया। शीघ्र ही अर्घ्य देकर उसने अपनी पूजा समाप्त की और भीगे वस्त्रों में लथपथ मेरे पास आकर विनयावनत हो बोला, “मैं हार स्वीकार करता हूँ। अद्भुत हो, प्रभु! जिसे अपना लेते हो, उसके लिए कुछ भी कर सकते हो।”

आज पहली बार कर्ण शायद मेरे ईश्वरत्व से प्रभावित दिखा। मूलतः वह उतना अप्रिय व्यक्ति था ही नहीं, जैसा पांडव पक्ष के लोग उसे समझते थे। वस्तुतः सामाजिक अन्याय सहते-सहते उसका सूतपुत्रत्व इतना हठी और दुराग्रही हो गया था कि उसका बहुत कम लोगों से मेल खाता था।

उसके इस व्यवहार से तो साफ लगा कि कौरव पक्ष संप्रति पस्त है। शायद ही वह अब कुछ कर पाए। कर्ण कुछ और कहता कि अश्वारोही ने आकर मुझे सूचना दी कि आपके शिविर में बैठे आचार्य धौम्य आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

मैं तुरंत वहाँ से चल पड़ा।

सीधे शिविर में आया और आचार्य के चरण स्पर्श करते हुए बोला, “बड़ी कृपा की कि आप पधारे, अन्यथा अर्जुन के विवाह का पौरोहित्य कौन करता!”

“पौरोहित्य तो कोई भी कर सकता है; पर अब जो समस्या खड़ी हो गई है, उसका निदान कौन करेगा?”

मेरी प्रश्नवाची मुद्रा एकदम आचार्य की आकृति पर लग गई। यह अप्रत्याशित क्या हो गया? इसी संदर्भ में महर्षि धौम्य ने जो सुनाया, उससे तो मैं अवाक् ही रह गया।

उन्होंने कहा, “स्वयंवर का निमंत्रण तो मुझे भी था; पर जब मुझे पता चला कि पांडव उसमें सम्मिलित होने जा रहे हैं और आपने उनके भाग लेने की उचित व्यवस्था कर दी है, तब मैं नहीं आया। क्योंकि आपके निश्चय के अनुसार, पांडवों को अपनी गोपनीयता बनाए रखनी थी और मेरे उपस्थित होने से उस गोपनीयता पर संदेहचिह्न

लग सकता था। झूठ कहने या राजनीतिक उत्तर देने की अपेक्षा मैंने उपस्थित न होना ही उपयुक्त समझा।”

थोड़ी देर के लिए मौन हो जाने के बाद उन्होंने कहा, “स्पर्धा की सारी सूचना जब मुझे मिली और यह भी पता चला कि पांडव द्रौपदी को लेकर कुहनार की कुटिया में आ गए हैं, तब मैं कल संध्या उनके पास पहुँचा। वहाँ एक दूसरी ही समस्या पैदा हो गई थी।”

“क्या?” मेरी जिज्ञासा शिखर पर थी।

“यह शायद आपको मालूम न हो कि कांपिल्य की सीमा छोड़ते ही पांडव रथ से उतर गए थे और अपने साथ आई सेना और गाजे-बाजे आदि को उन्होंने लौटा दिया था। फिर पैदल ही द्रौपदी को लेकर आगे बढ़े थे, जिससे उनके आरण्यक साथियों को किसी अनहोनी का आभास तक न हो।”

“इसकी तो मुझे सूचना मिली थी।” मैंने कहा।

“पर इसके बाद जो कुछ हुआ, उसकी सूचना आपको नहीं मिली।” धौम्य बोले और सिर हिलाकर मैंने उनकी बात का समर्थन किया।

अब मेरी जिज्ञासा ने अगला चरण बढ़ाया—“फिर क्या हुआ?”

धौम्य की मुद्रा गंभीर हो गई। उन्होंने बताया—“युधिष्ठिर प्रतिदिन की भाँति पहले भीतर गए। चारों भाई द्रौपदी के साथ बाहर खड़े रहे। भीतर जाकर युधिष्ठिर ने अपनी माँ से कहा, ‘बाहर चलकर देखो माँ हम लोग क्या लाए हैं!’ ”

“कुंती उस समय धान कूटने में लगी थी। पहले तो उसने ध्यान नहीं दिया। उसने सोचा कि मेरे बेटे भिक्षा में जब कोई विचित्र वस्तु लाते हैं, तभी मेरे पीछे लग जाते हैं।” महर्षि धौम्य बताते चले जा रहे थे—“जब कई बार युधिष्ठिर ने माँ से कहा, तो कुंती अपने काम में लगी हुई बड़ी सहजता से बोल उठी—‘जो कुछ ले आए हो, उसे सभी भाई मिलकर बाँट लो।’ ”

“इतना सुनना था कि सभी भाई स्तब्ध रह गए। उन्होंने अपनी माँ की कभी अवज्ञा नहीं की थी। आज तक माता कुंती के मुख से जो निकला, वह होकर रहा। अब क्या किया जाए? क्या द्रौपदी का विभाजन संभव है! पांडवों का कहना है कि हम अपनी माँ के वचनों का उल्लंघन कैसे करें! युधिष्ठिर इसी पश्चात्ताप में डूबे हैं कि भावातिरेक में मुझसे ऐसा कैसे हो गया!”

“फिर उन लोगों ने कुंती बुआ को वास्तविकता नहीं बताई?” मैंने पूछा।

“बताई।” महर्षि बोले, “कुंती तो अपने वचन वापस लेने को तैयार थी; पर अर्जुन ने ही कहा कि धनुष से छूटा हुआ बाण और मुख से निकली हुई वाणी कभी वापस नहीं होती।”

“फिर क्या हुआ?”

“होता क्या! लोग विचित्र मानसिकता में पड़े हैं।” महर्षि ने बताया—“संयोग कुछ ऐसा कि मैं ऐसी ही स्थिति में वहाँ उपस्थित हुआ। समस्या मेरे सामने रखी गई और निदान सुझाने के लिए कहा गया। मैं क्या करूँ! ऐसी स्थिति में किसी निष्कर्ष पर पहुँचना तो दूर, पांचाली की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी सोचा नहीं जा सकता था।”

“तब आपने पांचाली से पूछा?”

“वह चरण स्पर्श करने तो बाहर आई थी, पर उसकी आकृति इतनी लाल और आँखें इतनी भरी-भरी थीं कि मैं कुछ पूछ नहीं पाया।”

“क्या पांचाली को इस बात का पता चला कि मेरे पति पाँचों पांडव हैं?” मैंने पूछा।

इस विषय में महर्षि धौम्य ने अनभिज्ञता व्यक्त की। पर अनुमान के आधार पर उन्होंने कहा, “इस बारे में अब

तक उसे जानकारी हो जानी चाहिए।” इसी क्रम में उन्होंने पूछा, “क्या इस विषय की वास्तविकता महाराज को मालूम हुई?”

“अभी तक तो मैंने पता नहीं होने दिया है।” मैंने कहा।

महर्षि बोले, “पर अभी-अभी ज्ञात हुआ है कि कौरव पक्ष भी यहाँ से चला गया है। अब महाराज को सब बात बता देनी चाहिए।”

इसके बाद उन्होंने एक दूसरी सूचना दी—“आचार्य सांदीपनि, याज, उपयाज आदि तो यहाँ हैं ही। मैंने वेदव्यासजी को बुला लाने के लिए शिष्य भेजा है। क्योंकि यह ऐसी समस्या है कि इसका शास्त्रीय पक्ष अवश्य प्रस्तुत होना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि यज्ञकुंड से प्रसूत उस धधकती अग्नि (पांचाली) में तुम्हारा सारा स्वप्न ही सुलगने लगे।”

इसके बाद धौम्य चुपचाप उठे और चले गए। जाते समय मैंने उनसे पूछा तो नहीं कि वे किधर जा रहे हैं, पर मेरा अनुमान है कि वे पांडवों की ओर ही लौटे होंगे।

अब मेरी भी गतिशीलता बढ़ी; क्योंकि अब पांडवों के जीवन का नया अध्याय लिखा जाना था। अब समय आ गया था, जब हमें रहस्य का अवगुंठन एकदम हटा देना चाहिए। मैंने सबसे पहले चेकितान और चारुदेष्णा को बुलाया। मैंने उन ब्राह्मणों की असलियत बताई कि वे ब्राह्मण नहीं, पांडव हैं।

“पांडव हैं! लाक्षागृह में सचमुच वे भस्म नहीं हो सके!” सभी चकित थे और प्रसन्न भी। सबके मन में शंकाओं के बादल उमड़ते जा रहे थे। पर मैंने उन्हें अनुमानों की भूलभुलैया में ही छोड़ रखना उचित समझा और कहा, “मेरी सलाह है कि आप इसी समय अपने-अपने राज्यों को प्रस्थान करें। यह तथ्य जब कौरवों को ज्ञात हो जाएगा, तब वे पागल हो जाएँगे। इस पागलपन में वे कुछ भी कर सकते हैं। इसलिए आप लोग यथाशीघ्र अपने राज्यों में जाकर शासन सँभालिए और प्रचारित कर दीजिए कि पांडव जीवित हैं। कौरवों के हजार प्रयत्नों के बाद भी वे मारे नहीं जा सके।”

मध्याह्न के पूर्व ही चारुदेष्णा, चेकितान और कृतवर्मा पांचाल से कूच कर गए। अब वे ऐसे सत्य के साधक थे, जो कभी सपना था। इस बार वे यथार्थ के पंख पर उस आकाश में उड़ रहे थे, जो कल्पना से अधिक आकर्षक और ऐंद्रजालिक जगत् से अधिक मोहक था।

मैं भैया को लेकर महाराज के पास पहुँचा। इसके पूर्व ही मुझे सूचना मिल चुकी थी कि जो कुछ हुआ, उससे महाराज प्रसन्न नहीं हैं। अतएव बड़ी नाटकीयता के साथ मैंने उन्हें बधाई दी।

“आखिर यह बधाई किसलिए?” दुःखी स्वर में ही महाराज ने पूछा, “अंधकार में भविष्य को टटोलने के लिए बधाई!”

“उस अंधकार का एकदम जल उठने के लिए बधाई।” मैंने हँसते हुए कहा। मेरा उद्देश्य था, महाराज की चरम उत्कंठा के समय रहस्योद्घाटन का; क्योंकि मैं जानता था कि महाराज असीम आनंद के क्षणों में ही नई समस्या का सामना कर सकते हैं।

मैंने महाराज से कहा, “जिसके द्वारा द्रोण ने आपका अपमान कराया था, आज वही आपके चरण स्पर्श करने की स्थिति में है।”

“यह तुम क्या कह रहे हो?” महाराज को जैसे विश्वास ही न हो।

“पर सत्य यही है, महाराज! स्पर्धा में जिसने लक्ष्यवेध किया है, वह कोई ब्राह्मणकुमार नहीं वरन् अर्जुन है।”

“अर्जुन!” क्षण भर में महाराज की आकृति ने कई रंग बदले—“आखिर द्रोण का शिष्य ही।”

“और अब आपका पुत्र!” मैंने मुसकराते हुए कहा, “अंततः जामाता तो आपका पुत्र ही हुआ न!”

महाराज के अधरों पर मुसकराहट उभरी।

“इससे बड़ी अब आपकी विजय क्या हो सकती है?” मैंने कहा, “आपकी साधना सफल हुई।”

“अब तो द्रौपदी की साधना आरंभ होगी।” भैया बीच में ही बोल उठे। उनकी उतावली ने बात को एक खतरनाक मोड़ पर ढकेल दिया था। पर भगवान् की कृपा थी कि महाराज ने उसपर ध्यान नहीं दिया। वे आँखें बंद किए पता नहीं किस विचार में डूबे रहे।

थोड़ी देर बाद महाराज ने आँखें खोलीं। बोले, “पांडवों के विनाश के लिए कौरवों ने क्या नहीं किया! पर वाह रे प्रभु! तू भी कितना चमत्कारी है! आज पांडवों का जीवन एक चमत्कार है, चमत्कार!”

“यह चमत्कार तो होना ही था; क्योंकि आपकी पुत्री अपने भाग्य में चमत्कार लेकर ही तो आई है।” मैंने कहा और महाराज हँस पड़े।

□

देखते-देखते इस वास्तविकता की दुंदुभी सारे पांचाल में बज गई। अदृश्य दृश्य हो गया। जो सुनता, वही मगन होता। सारा पांचाल उत्सवी माहौल में डूब गया। जहाँ पांडवों के जीवित रहने की सूचना पर लोग नाच-गा रहे थे, वहीं कौरवों की नीचता पर लोग थूक रहे थे। इस आनंदविभोरता का सामना मुझे भी करना पड़ा। थोड़ी देर बाद ही कांपिल्यवासियों की भीड़ मेरे शिविर के पास आ गई और नाचते-गाते हुए उसने हमें बधाई दी।

मैंने अपनी वंशी निकाली और उनके आह्लाद नृत्य के साथ ही बजाने लगा। अब क्या था! उनकी प्रसन्नता पर जादुई असर हुआ और हम कुछ क्षणों तक स्वयं को भूल गए। पर शीघ्र ही मुझे ऐसा लगा कि सारी भीड़ द्रौपदी की आकृति में बदल गई है। उसकी रात भर जागी और सूजी हुई आँखें मुझे एकटक देखती हुई मानो मुझसे पूछ रही हों कि तुम कांपिल्य के आनंद के ही भागीदार हो या मेरे दुःख और मेरी समस्या के भी?

तुरंत मेरी वंशी का स्वर थमा और उसके स्वर में बँधा लोगों का नृत्य भी। उस भीड़ से एक बूढ़ा बोल पड़ा—“हम लोगों के लिए पांडवों के जीवित बचने का समाचार आकाशकुसुम के स्वतः झरकर हमारी हथेलियों पर आ गिरने जैसा है। एक सपना तो साकार हो सकता है; पर यह सपना भी नहीं था, जो साकार हुआ। एक अनहोना हो गया। हम इसके लिए आपका अभिवादन काते हैं और बधाई देते हैं।”

“आपका अभिवादन मैं बड़ी विनम्रता से स्वीकार करता हूँ; पर बधाई का पात्र मैं नहीं हूँ। बधाई का पात्र तो वह परमेश्वर है, जिसने हर प्रकार से मारे जाने के बाद भी पांडवों को जीवित रखा।”

“हम लोगों ने उस परमात्मा को देखा तो नहीं है।” बूढ़े की मुसकराहट में बड़ी गंभीरता थी—“शायद उसे जीवन में कभी देख पाऊँगा या नहीं; पर आपको तो देख रहा हूँ और परमात्मा को देखने का ही आनंद अनुभव कर रहा हूँ। इसलिए आपको ही बधाई देने चला आया।”

अपने प्रति उन भोले-भाले नगरवासियों के देवत्वभाव के प्रति मैं नतमस्तक था।

“पर अपने नीच कर्म के लिए कौरवों को कोई दंड नहीं मिलेगा?” उस बूढ़े की आवाज में जनसमूह की घृणा समवेत हो गई—“आपने अनेक अवसरों पर कहा है कि मनुष्य को अपने कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता है।”

“मैंने कहा तो है।” मैं मुसकराया—“पर फल तो भगवान् ही देगा न! आपके प्रश्न का सही उत्तर तो वही दे सकता है।” मुझे हँसी आ गई और भीड़ भी हँसने लगी।

शीघ्र ही लोगों को बिदा कर मैं शिविर में आया। थोड़ी देर बाद छंदक से ज्ञात हुआ कि महर्षि वेदव्यास प्रासाद में पधारे हैं और धृष्टद्युम्न द्रौपदी को पांडवों के साथ लिवाने गए हैं। सुना है, वेदव्यास ने आते ही आचार्यों की बैठक की। उन्हें वर्तमान स्थिति से अवगत कराया। उनका निष्कर्ष था कि महाराज को सारी परिस्थिति बताई जाए

कि भवितव्यता हमारे हाथ में नहीं है। ये सारी स्थितियाँ नियति का खेल हैं, जिनके समक्ष हम विवश हैं।

“इससे तो हमारी असमर्थता ही व्यक्त होगी।” आचार्य सांदीपनि बोले, “हमें यह सोचना चाहिए कि इस स्थिति में हम कर क्या सकते हैं? हमारा धर्म क्या व्यवस्था देता है? हमारी परंपरा क्या है? अतीत में कभी ऐसी स्थिति पैदा हुई या नहीं? यदि हुई, तो उसका निदान क्या दिया गया?”

आचार्यजी का स्पष्ट मत था कि महाराज के समक्ष हमें असमर्थ नहीं दीखना चाहिए। यदि हमीं असमर्थ दिखे तो समस्या गंभीर हो जाएगी। हमें तो इतिहास और धर्म से समाधान देना होगा।

आचार्यजी की इस बात को सभी ने माना। यह निश्चित हुआ कि हममें वेदव्यासजी सबसे वरिष्ठ, अनुभवी और योग्य हैं। हम लोगों की ओर से महाराज को वे ही परिस्थिति की वास्तविकता बताएँ और धर्म के अनुकूल निदान प्रस्तुत करें।

“यह तो ठीक है।” वेदव्यासजी बोले, “मैं आप लोगों की राय का पालन करूँगा। पर इससे भी आवश्यक है द्रौपदी को संतुष्ट करना; क्योंकि सारी समस्या तो उसी की है और उसी के लिए है। मान लीजिए, महाराज संतुष्ट हो भी जाएँ तो द्रौपदी का असंतोष तो जलता रहेगा।”

इस संदर्भ में आचार्य सांदीपनि का यह सुझाव था कि पांचाली से कन्हैया बात करें और हम लोग महाराज से विचार-विमर्श करें। बड़ी योग्यता से उन लोगों ने इस समस्या का सामना करने के लिए महाराज को द्रौपदी से अलग कर दिया; क्योंकि हर जलती लकड़ी को यदि अलग-अलग कर दिया जाए तो उसकी आँच तो कम होती ही है, साथ ही उन्हें बुझाना भी आसान हो जाता है।

इसके कुछ देर बाद ही धृष्टद्युम्न के साथ पांडव आ गए। आते ही वे महाराज से मिले और उनका अभिवादन किया। इससे महाराज के अहं को कितनी संतुष्टि मिली, सो मैं कैसे बताऊँ। शायद उन्होंने जीवन में पहली बार अपने प्रतिशोध को अपने समक्ष नतमस्तक होते देखा। एक अपरिमित संतोष था उनकी आकृति पर। प्रतिहिंसा के उद्वेलित सागर में उनकी मानसिकता का ज्वालामुखी एक हरे-भरे टापू में बदल चुका था।

मैंने अनुभव किया कि पाँचों भाइयों के पीछे खड़ी द्रौपदी अब भी धधक रही है। यदि उसे सँभाला नहीं गया तो हो सकता है कि उससे चिनगारियाँ छूटने लगें। मैंने महाराज को तुरंत संबोधित करते हुए कहा, “अब आपके प्रति तो मेरा काम पूरा हुआ। अब मुझे केवल द्रौपदी दिखाई दे रही है।”

इतना कहकर मैं द्रौपदी का हाथ पकड़कर अंतःपुर की ओर चला। अपने कक्ष के पास आते ही वह एकदम मुझपर फूट पड़ी। उलाहने पर उलाहने देने उसने आरंभ किए; जैसे सारा दोष मेरा ही हो। पहले तो मैं उसे सुनता रहा। अचानक फूटे आक्रोश के व्रण को बह जाने दिया। फिर बड़ी गंभीरता से बोला, “इतना तो जानो, द्रौपदी, मैं कर्ता नहीं हूँ। मैं मात्र करण हूँ। कर्ता के हाथ का माध्यम हूँ।”

“पर मैं तो आपको ही कर्ता समझती थी और समझती हूँ।”

“यह मेरे प्रति तुम्हारी श्रद्धा है।” मैंने कहा, “पर यह स्पष्ट समझो। मैं सबकुछ कर सकता हूँ, पर तुम्हारी भवितव्यता नहीं बदल सकता।”

“तो क्या मेरी भवितव्यता पाँच पुरुषों की पत्नी बनना ही है?” पांचाली अब भी आक्रोश में थी—“और मैं न बनना चाहूँ तो?”

“इसके आगे तो कोई बात ही नहीं है।” मैंने कहा, “पर यह तो तुम्हारा परिस्थिति से भागना होगा। एक वीरांगना परिस्थिति का सामना करती है, उससे भागती नहीं।”

“तो मैं क्या करूँ? पाँच पतियों की पत्नी बनकर समाज में कुलटा कही जाऊँ?” द्रौपदी रो पड़ी।

जब आक्रोश आँसुओं में बहने लगता है, तब दृष्टि भी साफ होने लगती है। मनुष्य समझ के कुछ निकट आता है।

मैंने कहा, “कुछ सोचने की चेष्टा करो।”

वह एकदम झल्ला उठी—“क्या चेष्टा करूँ, अपने को पाँच भागों में काटकर एक-एक पति को सौंप दूँ?” “यह तो तुम्हारा आत्मघाती प्रयास होगा।” मैंने फिर मायावी मुसकराहट उगाई—“तुम्हारा स्वयं को काटना तो विध्वंसात्मक होगा; पर अपने पाँच पतियों को एक कर सकना रचनात्मक।”

द्रौपदी मौन हो मुझे देखती रही। मैं बोलता गया—“नारी का प्रेम क्या नहीं कर सकता! क्या वह पाँच शरीरों में बैठे पाँच पतियों को एक नहीं देख सकता? आज तुम्हारी क्षमता को नियति ने चुनौती दी है। तुम उसे स्वीकार करो।”

“यदि मैं स्वीकार भी करूँ तो संसार क्या कहेगा?”

“वह स्वीकार न करने पर भी कुछ-न-कुछ कहेगा। संसार की जबान तो पीपल का पत्ता है। हवा के रुख पर रुख बदलता है। फिर तुमने स्वयं पाँच पतियों का प्रस्ताव नहीं किया था। यह सत्य और धर्म के बीच में आई ऐसी स्थिति है, जिसमें तुम्हें संतुलन बैठाना है।” मेरी आवाज कुछ और गंभीर हुई—“नारी की बुद्धिमत्ता, उसका त्याग, उसका समर्पण तथा एक लता की तरह कई वृक्षों को लपेट लेने की उसकी क्षमता को आज की एक विशेष परिस्थिति ने ललकारा है। अब देखना है, वह परिस्थिति की विषमता के समक्ष नतमस्तक होती है या अपनी धारदार बुद्धि से उसका सामना करती है।”

वह कुछ समय तक सोचती रही। मैं मौन रहकर भी अपने व्यक्तित्व का प्रभाव द्रौपदी पर डालता रहा।

वह अचानक घबराकर बोल पड़ी—“कुछ समझ में नहीं आ रहा कि क्या करूँ!”

“तुम्हें यह स्वयंवर समझ में आया? तुम्हें यह समझ में आया कि ब्राह्मण इस स्पर्धा में विजयी कैसे हुए और वे ब्राह्मण अंत में पांडव कैसे निकल आए?” मैं क्षण भर के लिए रुका—“आज तुम्हीं नहीं, कोई भी यह नहीं समझ पा रहा है कि पांडव कैसे जीवित हैं? वे भी नहीं समझ पा रहे हैं, जिन्होंने उन्हें जलाया था। यह सब भवितव्यता का रहस्य है। इन्हें समझने की चेष्टा करना ही सबसे बड़ी नासमझी है। इन्हें नियति का खेल समझकर शिरोधार्य करो, द्रौपदी!”

“और एक इतिहास लिखूँ कि द्रुपद कन्या के पाँच पति थे!” द्रौपदी बीच में ही बोली।

मेरा अट्टहास फूट पड़ा—“तुम इतिहास लिखोगी! ह! ह! ह! अरे नासमझ, कोई इतिहास लिखता नहीं है। इतिहास तो स्वयं को लिखता है। हम सब तो उसका अभिलेख बनाते हैं।”

“हम यह तो देख सकते हैं कि उस अभिलेख में हमारी जैसी कोई और आकृति है या नहीं।” द्रौपदी बोली।

मैंने अनुभव किया कि अब वह परिस्थिति का सामना करने के लिए स्वयं को तैयार कर रही है। वह अपनी धरती बनाने से अच्छा किसी पुरानी भूमि पर खड़ा होना समझती है। इसी से उसका मन अतीत में घटे किसी ऐसे अवसर की खोज में लग गया।

मैंने बताया कि महाराज के साथ आचार्यगण इसी समस्या पर विचार कर रहे हैं। अब वह बिना कुछ कहे महाराज के कक्ष की ओर बढ़ी। स्पष्ट लगा कि वह परिस्थिति की धूप-छाँह से जूझने का अपना मन बना चुकी है, केवल एक छतरी की तलाश में है।

हम लोगों को देखते ही महाराज के कक्ष में बैठे सभी लोगों की आकृतियों पर मौन चिपक गया। इस अप्रत्याशित सन्नाटे में महाराज की मुद्रा बड़ी विचित्र लगी। वे चुपचाप हम लोगों को देखते रहे; जैसे वे कुछ कहना चाहकर भी

बोल नहीं पा रहे हों। नियति की डोर से बँधी कठपुतलियों की तरह पांडव एक-दूसरे को देखते हुए भी शांत बैठे रहे; पर आचार्य सांदीपनि स्थिति को समझ रहे थे। उन्होंने हमें देखते ही समझ लिया कि हमने द्रौपदी को तैयार कर लिया है।

मौन आचार्यजी ने ही तोड़ा—“लीजिए अब कन्हैया भी आ गए और पांचाली भी। इस स्थिति का सामना जिसे करना है, हमें उसकी इच्छा भी जाननी चाहिए।”

अब वेदव्यासजी ने सारी स्थिति स्पष्ट की। द्रौपदी को संबोधित करते हुए कहा, “बेटी, ये पाँचों देखने में पाँच हैं, पर हैं एक ही। ये पाँचों धागे से बँटी एक डोर है, जिनपर तुम्हें संतुलन स्थापित करते हुए चलना है।”

सबकी दृष्टि एकदम द्रौपदी की ओर लग गई। वह अब भी सिर नीचा किए मौन थी। थोड़ी देर बाद गंभीर सोच में डूबी हुई उसकी वाणी फूटी—“अत्र भवान् मुझे कोई आश्रय चाहिए।”

“आश्रय तो एक नहीं वरन् पाँच-पाँच का तुम्हें मिल रहा है।”

“इनका तो आश्रय है ही, पर मुझे अतीत का आश्रय चाहिए, इतिहास का आश्रय चाहिए। क्या इतिहास में एक पत्नी के कई-कई पति होने के उदाहरण मिलते हैं? या ऐसी मैं आर्यावर्त की पहली स्त्री होऊँगी?”

“नहीं, बेटी, इस परिस्थिति का सामना करनेवाली तू ही पहली स्त्री नहीं है। इसके पहले भी गौतम मुनि की पुत्री जटिला का विवाह सात ऋषियों से हुआ था। अपने युग के महान् धर्मात्मा और अप्रतिम धनुर्धर दस प्रचेतस भाइयों की एक ही पत्नी थी।”

इतना सुनते ही द्रौपदी की चिंताग्रस्त आकृति पर एक सहजता उभरी और उसने बड़ी शालीनता से कहा, “तब इस परिस्थिति को शिरोधार्य करने में मैं अपना सौभाग्य समझती हूँ।”

आचार्यों के मुख से ‘साधु-साधु’ निकल पड़ा।



## तीन

**जी**वन का एक महत्वपूर्ण अध्याय समाप्त हो चुका था। सजी-सँवरी कांपिल्य भी सामान्य हो रही थी। रंगशाला का वैभव भी समेटा जा चुका था। कुछ शिविर अब भी रह गए थे। उनमें अधिकतर वे ही लोग थे, जिन्हें द्रौपदी स्वयंवर से कुछ लेना-देना नहीं था। केवल कौतुकी स्वभाव उन्हें यहाँ तक खींच लाया था। उनमें कई तो ऐसे थे, जिनका कार्यक्रम अपने राज्य में न लौटकर कहीं और जाने का था। द्रुपद का छोटा बेटा सत्यजित् उनकी सेवा में निरंतर लगा था।

इधर द्रुपद महाराज ने अपने जामाताओं सहित माता कुंती को उस कुम्हार के घर से राजभवन में बुला लिया था। अब वे ब्राह्मणकुमार न रहकर पूर्ण क्षत्रियकुमार हो गए थे। इस स्थिति को लेकर भी एक राजनीति पैदा हो गई थी।

बात यह हुई कि कौरवों के लौटने के पहले ही हस्तिनापुर को वास्तविकता की गंध लग चुकी थी। सुना है, सबसे पहले सूचना विदुरजी को मिली। उन्होंने पितामह भीष्म से और प्रपितामही सत्यवती से इसकी चर्चा की। सत्यवती तो जानती ही थीं कि पांडव जीवित हैं; पर पितामह भीष्म को इसका अनुमान भी नहीं था। पहले तो उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ। उन्होंने विदुरजी से यहाँ तक कहा कि जब तक यह समाचार पुष्ट न हो जाए, तब तक इसकी चर्चा किसी से भी नहीं करनी चाहिए।

“तात, आप कहते तो ठीक हैं।” विदुरजी ने कहा, “पर कभी-कभी संसार में अकल्पनीय भी घटता है; क्योंकि हमारे चिंतन की तरह हमारी कल्पना की भी एक सीमा होती है; पर यह संसार तो असीम है। यह उसकी कृति है, जो हमारी कल्पना से परे है। ऐसे सर्वशक्तिमान् के करतब भी यदि कल्पनातीत हों तो आश्चर्य क्या!”

पितामह ने परम प्रसन्नता में विदुरजी की ये बातें तो सुन ली थीं, पर उनका संकेत वे समझ नहीं पाए थे। उनका सोच विस्मय में ही उलझा रहा। वे व्यक्तिगत रूप से चाहते थे कि न तो आधी-अधूरी सूचना किसी को दी जाए और न किसी प्रकार की प्रसन्नता ही व्यक्त की जाए।

तब तक मुँह लटकाए हारी-थकी दुर्योधन की गोल भी पहुँची। शकुनि सीधे धृतराष्ट्र से मिला। उसने पहली बात यही कही कि हम लोगों को कृष्ण ने धोखा दिया और फिर कुछ श्वेत व श्याम मिलाकर अपने ढंग से सारी कथा सुनाई।

विदुरजी बता रहे थे कि उनकी बातें चल ही रही थीं कि लोगों के लौटने की सूचना पाकर पितामह के पेट का पानी कहाँ पचनेवाला था। वे सीधे महाराज के प्रकोष्ठ में पहुँच गए और अपनी प्रसन्नता को छिपा नहीं पाए। वहाँ उपस्थित लोगों की मानसिकता पर ध्यान दिए बिना ही वे बोल पड़े—“यह सब प्रभु की कृपा है। वारणावत कांड से हमारी प्रतिष्ठा जो धूल में मिल गई थी, वह पुनः लौट आई है। हमें आगे बढ़कर उसका स्वागत करना चाहिए।”

भीतर से तो लोग जल-भुन रहे थे, पर ऊपर से पितामह के सुझाव का किसी ने विरोध नहीं किया। महाराज भी कुछ क्षणों तक गंभीर रूप से मौन रहे। तब पितामह ने पुनः कहा, “आखिर पांचालपुत्री हमारे ही परिवार में आई है। उसका स्वागत करना हमारा धर्म है। पांडवों को ससम्मान बुलाना चाहिए।”

“इसमें बुलाने की क्या आवश्यकता है?” शकुनि बोला, “हमने उन्हें कोई निकाला तो था नहीं। वे स्वयं गए थे। उन्होंने वारणावत जाने की इच्छा अपने से व्यक्त की थी। उन्हें स्वयं आना चाहिए—और यदि आएँगे तो हम उन्हें



निकाल थोड़े ही देंगे!”

“तुम अपने ढंग से ठीक ही कह रहे हो; पर जानते हो कि हस्तिनापुर क्या सोच रहा है?” पितामह की ध्वनि गंभीर हुई—“उसके सोच के अनुसार, पांडवों के साथ षड्यंत्र किया गया था। उन्हें लाक्षागृह में जलाकर मार डाला गया था। हमें भले ही दिखाई न दे रहा हो, पर जनता ने इस कांड को लेकर हमारे मस्तक पर कलंक का टीका लगाया है। आज उस कलंक को धोने का अवसर है। यदि हम चूक गए तो बड़ी राजनीतिक भूल कर बैठेंगे।”

“आप कहते तो ठीक हैं।” धृतराष्ट्र बोले। सुना है, गांधारी ने भी उनका समर्थन किया। पर महाराज मन-ही-मन घोर विस्मय में थे कि जली रस्सी सर्प कैसे बन गई! षड्यंत्र में हाथ न होते हुए भी बाद में वे सारे षड्यंत्र को जान गए थे। जो कुछ भी हुआ, वे उसका समर्थन तो नहीं करते थे; पर लाक्षागृह की घटना को अप्रिय समझते हुए भी उससे अपने पुत्रों को निष्कंटक हो जाने के रूप में देखते थे। पर अब चारों ओर उन्हें कंटक और कलंक ही दिखाई देने लगा था। उन्हें लगा कि इतना सब होने पर भी यदि शव जी उठे हैं, तो दैव ही प्रतिकूल है।

अपराध से अधिक अपराध-बोध हमें परेशान करता है। यह अपराध-बोध धृतराष्ट्र को व्यग्र किए हुए था। वे कहीं-न-कहीं स्वयं को भी इस षड्यंत्र से जुड़ा हुआ पा रहे थे। इस व्यग्र मानसिकता में ही वे पितामह से पूछ बैठे—“अब हमें क्या करना चाहिए?”

“बहुत सारे उपहार देकर हमें महामात्य को पांडवों को बुलाने के लिए पांचाल भेजना चाहिए।” पितामह ने कहा, “और इस खुशी में हस्तिनापुर को सजाना चाहिए। पूरे सप्ताह दीपावली मनानी चाहिए।”

विदुरजी के कथनानुसार इस विषय में जब महाराज ने शकुनि से पूछा तो वह बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से बोला, “हाँ, यदि हमारे भीतर की जलन कुछ दीपों को बाँट दी जाए तो कुछ लोगों का जी हलका हो जाएगा।”

विदुरजी बता रहे थे कि इसपर पितामह एकदम भभक पड़े। उन्होंने कहा, “मैं तो चाहता हूँ कि जली हुई आग बुझे और तुम चाहते ही कि दावाग्नि बनकर वह हस्तिनापुर को ही निगल जाए! तो जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो।” इतना कहकर पितामह वहाँ से उठे और अपने प्रासाद में चले आए।

कहते हैं, इस प्रसंग में गांधारी ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उसने सबको समझाया कि हमारा हित इसी में है कि हम पितामह के कहे के अनुसार करें। और तब विदुर को इतने सारे उपहारों के साथ पांचाल भेजा गया।

पांचाल में पैर धरते ही उन्होंने सबसे पहले मेरे बारे में जानकारी प्राप्त की और सीधे मेरे शिविर में पधारे। प्रसन्न तो थे ही, उसी प्रसन्नता में हस्तिनापुर का सारा समाचार सुनाया। उनकी बातों का बस एक ही निष्कर्ष था कि जलकर राख हुआ लाक्षागृह अब भी कौरवों के हृदय में जल रहा है। और सबसे अधिक छटपटाहट कर्ण को है। वह तो चोट खाया विषधर हो गया है; जिसको देखता है, उसी को फुफकारता है।

विदुरजी ने बताया—“यहाँ से लौटने के बाद वह सीधे मेरे कक्ष में आया और बिना किसी अभिवादन या भूमिका के बड़े रोष में बोला, ‘नमक खानेवाला व्यक्ति थाली का अहित नहीं सोचता।’

“मैंने मुसकराते हुए ही कहा, ‘नमक न खाकर भी मैं थाली का हित ही सोचता हूँ।’

“‘महात्माओं जैसी बातें करके आप दूसरों को धोखा दे सकते हैं, पर मुझे नहीं।’ जाते-जाते कर्ण ने मुझसे यह भी कहा, ‘जानते हो, महात्मा, संसार में हर पाप का प्रायश्चित्त है, पर कृतघ्नता का नहीं।’”

“‘हो सकता है, लाक्षागृह के संदर्भ में आपकी भूमिका की गंध वह कहीं से पा गया हो।’ मैंने कहा।

“‘हो सकता है।’ विदुरजी बोले और पूछा, ‘पर वह आपसे इतना नाराज क्यों है?’”

मैंने बात हँसकर टाल दी; पर मेरे मन में वे सारे कुचक्र उभर आए, जो मैंने स्वयंवर के समय उसके विरुद्ध रचे थे। इसी समय द्वारपाल ने सूचित किया कि एक रथ शिविर को ओर चला आ रहा है। लगता है, उसपर पाँचों

पांडव सवार हैं।

“मालूम होता है कि आपके आने की सूचना प्रासाद में पहुँच गई।” मैंने विदुरजी से कहा।

थोड़े अचरज में उनके मुख से निकला—“एक रथ पर पाँचों।”

मुझे परिहास सूझा। मैंने कहा, “आखिर द्रौपदी तो एक ही है।”

इसके बाद मैं जोर से हँसा। विदुरजी मुसकराए। उनकी शिष्टता और गंभीरता ने हँसी का एक छींटा भी बाहर छलकने नहीं दिया।

आते ही पाँचों भाई दंडवत् प्रणाम के लिए धरती पर लेट गए। विदुरजी उन्हें झुकने के पहले ही वक्ष से लगाना चाहते थे; पर अब भूमि से उठाकर छाती से लगाने में उनकी फजीहत हो गई। किंतु यह दृश्य अद्भुत था। कृतज्ञता, कृपा, करुणा, आत्मीयता और त्राण के भाव से अभिभूत पांडवों की आँखें बरस रही थीं। शब्द अपनी असमर्थता में जाने कहाँ लुप्त हो गए थे।

मानो उनका रोम-रोम कह रहा हो—‘चाचाजी, यदि आपकी कृपा न होती तो हम धरती पर न होते।’

विदुरजी भी आत्मविभोर थे। उनकी भी आँखें भर आई थीं। वस्तुतः वह उन्हें देख रहे थे, जिन्हें देख पारने की आशा संसार छोड़ चुका था। भरत-राम मिलन से अधिक ऐसा प्रेमाद्र दृश्य मेरी कल्पना ने कभी नहीं देखा था। जहाँ भाषा लुप्त थी, केवल भाव रह गया था। बुद्धि यह निश्चय नहीं कर पा रही थी कि कौन बैठे, कहाँ बैठे और कौन किससे बैठने को कहे।

इस विह्वलता में अनेक क्षण बीत गए।

अंत में विदुरजी ने ही मौन तोड़ा—“भाभी कुंती कहाँ हैं?”

“वे तो अपनी बहू के साथ महल में ही रह गई हैं; पर आपके आने के समाचार से विह्वल हैं।”

“मैं भी उनके चरण स्पर्श करना चाहता हूँ।” विदुरजी ने कहा और इसके बाद ही लोग उसी रथ से लेकर उन्हें चले गए।

अब मेरे सामने हस्तिनापुर की स्थिति साफ थी। जनता तो पांडवों को देखते ही गद्गद हो जाएगी। उसकी खुशी का ठिकाना न होगा। प्रसन्नता तो राजप्रासाद भी व्यक्त करेगा, पर भीतर की जलती हुई आग को छिपाकर। केवल पितामह अप्रत्याशित आनंद का अनुभव कर रहे होंगे। प्रपितामही को तो पांडवों के जीवित रहने की सूचना थी ही। उनकी खुशी पांचाली को स्पर्धा में जीत लाने तक ही सीमित होगी।

पराजित हुई ईर्ष्या चोट खाई नागिन होती है। फिर दुर्योधन और शकुनि को तो उनके षड्यंत्र की असफलता इतने दिनों बाद अचानक दिखाई पड़ेगी। उनका पागल होकर काटने दौड़ना स्वाभाविक ही है। दूसरी ओर, मुझे कर्ण की स्थिति का अनुमान था ही। विदुरजी के कहे के अनुसार, अब मैं उसके क्रोध के ताप का भी अनुभव करने लगा था।

ऐसी स्थिति में हस्तिनापुर की राजनीति का सामना करना पांडवों के वश की बात मुझे नहीं लगी। बत्तीस दाँतों के बीच फँसी जीभ की तरह अकेले विदुरजी बेचारे क्या कर पाएँगे! क्योंकि मैं पितामह की प्रकृति को अच्छी तरह जानता हूँ। वे पूरी सहानुभूति के बावजूद कभी खुलकर पांडवों के पक्ष में नहीं आएँगे। ऐसे में विदुरजी के साथ क्या अकेले पांडवों का हस्तिनापुर जाना उचित होगा?

और फिर द्रौपदी क्या अनुभव करेगी? मुझे इन परिस्थितियों से झुलसने के लिए कन्हैया ने यहाँ भेजा है? मैंने उसी समय निश्चय किया कि मुझे भी हस्तिनापुर चलना चाहिए। मैंने अपना मन बना लिया। पर बिना किसी आग्रह के मैं उनके साथ लग जाऊँ, न तो यह मेरी गरिमा के अनुरूप होगा और न उचित ही।

मैं ऐसे ही चिंतन में मग्न अपनी शय्या पर पड़ा था कि द्वारपाल ने आकर सूचना दी कि काशी के राजकुमार सुशर्मा पधारे हैं।

मैंने तुरंत उन्हें बुलाया।

“अरे, आप अभी कांपिल्य में ही हैं?” मैंने पूछा।

“कुछ ऐसा विचार बना कि हम लोग कुरुक्षेत्र की तीर्थयात्रा के बाद ही अब काशी लौटें।” सुशर्मा ने अपने साथ आई एक सुंदरी की ओर देखते हुए कहा। पहले तो मैंने उसे उनकी पत्नी समझा, पर उसके व्यक्तित्व में सौभाग्यवती होने का कोई चिह्न दिखाई नहीं दिया। फिर पत्नी को लेकर स्वयंवर में आर्य की बात भी मन में नहीं बैठती।

तब तक वह सुंदरी स्वयं बोल पड़ी—“मैं आपको धन्यवाद देने आई हूँ।”

मैंने मुसकराते हुए पूछा, “आखिर ऐसी कृपा क्यों?”

“आपने मेरी बहन का बहुत बड़ा संकट दूर कर दिया।” वह बोली, “वह आप पर विश्वास भी बहुत करती है।”

मैं अब भी अनुमान के रास्ते पर भटक रहा था। मैंने सोचा, निकट की तो नहीं हो सकती। हो सकता है, पांचाली की कोई दूर की संबंधी हो। इसी मनःस्थिति में मैंने कहा, “मैं न तो कुछ कर सकता हूँ और न मैंने कुछ किया है। यह सब तो महाराज द्रुपद के पुण्य, पांचाली के भाग्य और उसकी तेजस्विता का परिणाम है।”

वह सुंदरी सकपकाई। उसे आभास लग गया कि मैं उसे पहचान नहीं रहा हूँ। पर वह कुछ कह नहीं पाई। उसने मुसकराते हुए सुशर्मा की ओर देखा।

“लगता है, आप इसे पहचान नहीं रहे हैं।” सुशर्मा ने कहा, “यह मेरी सबसे छोटी बहन बलंधरा है। यह अपनी बड़ी बहन भानुमती की ओर से आपको धन्यवाद देने आई है।”

“ओ!” मैंने अपनी झेंप मिटाते हुए कहा, “आपके परिवार से मिले भी बहुत दिन हो गए। अब देखिए, मैं बलंधरा को भी पहचान नहीं पाया; जबकि इसकी आकृति भानुमती से कुछ मिलती है।”

वह बीच में ही बोल पड़ी—“जीजी जब आपसे मिलने गई थीं, तब मैं हस्तिनापुर में ही थी। जब पुष्कर और चेकितान के विषय में आपका संदेश आया था, तब भी मैं वहीं थी।” बलंधरा बोलती गई—“जीजा (दुर्योधन) को विश्वास था कि आपकी कृपा होगी और उन्हें द्रुपदसुता को अपनी पत्नी बनाने में सफलता मिलेगी।” इसके बाद वह अपने भाई की ओर देखकर खिलखिलाई। बोली, “विचित्र स्थिति थी, जीजा का जितना विश्वास बढ़ता था, उसी अनुपात में जीजी की घबराहट बढ़ती जाती थी—‘यह द्रौपदी मेरी सौत बनकर आएगी तो मैं कहीं की नहीं रह जाऊँगी।’” बलंधरा कहती गई—“उनका सोचना गलत भी नहीं था। एक बार तो उनकी स्थिति खराब हो ही जाती। एक दिन इस संबंध में जीजा से उनकी झड़प भी हो गई थी। इसके बाद कई रात वे सो नहीं पाई थीं। तब वे आपसे मिली थीं। इसके बाद उन्हें कुछ शांति अवश्य मिली। उनका कहना था कि कन्हैया ने कोई आश्वासन तो नहीं दिया है, पर मेरी व्यथा को उन्होंने बड़ी गहराई से समझा है। मेरे लिए यही बहुत है।”

मैंने अनुभव किया कि मुझे अपने व्यक्तित्व को परिस्थितियों की कसी डोर पर नट-सा चलाना पड़ता है—हर क्षण संतुलन बनाए हुए। मैं इसे नियति की कृपा मानता हूँ; पर लोग इसे मेरी शक्ति और सामर्थ्य से जोड़ते हैं। बलंधरा का मेरे प्रति सोच कुछ ऐसा ही था।

फिर भी मैंने उससे कहा, “लोगों के प्रति मेरा विश्वास ही फलदायी होता है। मैं कुछ करता-धरता नहीं। लगता है, भानुमती का मेरे प्रति विश्वास दुर्योधन के विश्वास से अधिक था। इसी से उसकी आकांक्षा पूरी हुई और दुर्योधन को असफलता मिली। अब तो वह मुझे धोखेबाज भी समझता होगा।” इतना कहने के बाद मैं मुसकराया। मेरी

मायावी मुसकराहट में उसे मेरा ईश्वरत्व ही दिखाई दिया।

बहुत देर तक बलंधरा एवं सुशर्मा—दोनों कुछ बोले नहीं। बड़े श्रद्धाभाव से मुझे देखते रहे। अंत में बलंधरा ने ही पूछा, “अब आपका क्या कार्यक्रम है?”

“न पहले कोई कार्यक्रम था, न अब कोई कार्यक्रम है।” मैं उसी मायावी स्वर में बोलता गया—“हाँ, द्वारका लौटने की इच्छा जरूर है; पर देखिए होता क्या है!”

“वही होगा, जो आपकी इच्छा होगी।” बलंधरा बोली।

“यह भ्रम बड़ा लुभावना है, तुमसे अधिक मेरे लिए।” इसके बाद मेरी मुसकराहट हँसी में बदल गई। भाई-बहन दोनों मेरी हँसी में खो गए।

अब मेरी दृष्टि पुनः बलंधरा पर गई। वह मुझे भानुमती से ज्यादा सुंदर लगी। उसके वर्ण में तो उस जैसा निखार नहीं था, पर उसकी शरीरयष्टि उससे बहुत अधिक सुघड़ थी। रेवती की तरह अवयव की दृढ़ मांसपेशियाँ सहज ही किसी को आकृष्ट कर सकती थीं।

“कभी आप मेरे यहाँ भी पधारें।” सुशर्मा बोला, “द्वारका को अपने यहाँ देखकर काशी विह्वल हो जाएगी।”

“यही बात तो द्वारका भी काशी के लिए कहती है।” मैंने हँसते हुए कहा और मेरी हँसी में उनकी हँसी भी शामिल हो गई।

“फिर भी मेरा आग्रह है कि आप काशी आने का कार्यक्रम बनाएँ।” सुशर्मा बोला।

“सोचता तो मैं भी हूँ।” मेरी दृष्टि फिर बलंधरा की ओर घूमी—“अब इसके स्वयंवर में आऊँगा। भगवान् करे, इसका वर भी इसके अनुकूल मिले।”

मेरी इस शुभाशंसा को सुशर्मा ने आशीर्वाद की तरह लिया; पर बलंधरा की सलज्ज दृष्टि धरती में गड़ गई।

थोड़ी देर बाद शिविर के द्वारपाल ने सूचना दी कि अर्जुन पधारे हैं।

पार्थ के प्रवेश करते ही सुशर्मा अभिवादन कर अपनी बहन के साथ चला गया।

अर्जुन चुपचाप आकर बैठ गया। उसका मौन अप्रत्याशित रूप से गंभीर था। उसके मस्तिष्क का उलझन भरा सन्नाटा उसके चेहरे पर उभर आया था। बहुत कहना चाहकर भी कैसे कहे? शायद इसी उधेड़बुन में था।

मैंने उसे खोलने की नीयत से पूछा, “क्या बात है?”

“स्पर्धा मैंने जीती। नियमतः पांचाली को मेरी होना चाहिए; पर वह पाँच भागों में बाँट दी गई; जबकि उसका आकर्षण भी मेरे प्रति अधिक है।”

“और तुम्हारा उसके प्रति तो है ही।” मैंने हँसते हुए कहा।

वह भभक पड़ा—“आप मेरी समस्या और उलझन पर हँस रहे हैं।”

“तुम्हारी समस्या और उलझन पर नहीं, तुम्हारे अहंकार पर हँस रहा हूँ। नारी के प्रति तुम्हारी आसक्ति पर हँस रहा हूँ।” मेरी मुद्रा एकदम धीर-गंभीर हो गई।

अर्जुन से मेरी काफी निकटता थी। शायद इतनी अधिक किसीसे नहीं थी। अपने सगे भाई से भी नहीं। इसीलिए उससे खुलकर बातें होती थीं।

वह बड़े विस्मय से बोला, “मेरा अहंकार!”

मैं कहता गया—“यह कहना कि मैंने स्पर्धा जीती है, क्या तुम्हारा अहंकार नहीं है अपने सामर्थ्य के प्रति? यह मैंने किया है। तेरा यह कर्ता का भाव ही अहंकार है। तू ऐसा क्यों नहीं सोचता कि यह होना था और तेरे द्वारा हो गया है। (आगे चलकर इसी विचार को मैंने ‘गीता’ में दिया है।) तू सोचता होगा कि द्रुपद को बंदी बनाकर अपने

आचार्य के सामने ले जानेवाला तू है! अरे पगले, वह अपने कर्मों द्वारा पहले ही बंदी बना लिया गया था—और तू तो उसका निमित्त मात्र बना! क्या जलते हुए लाक्षागृह से तू भागा था, या नियति ने तुझे भगा दिया था? लाक्षागृह का जलना भी नियति की लीला थी और उससे तेरा भागना भी नियति की लीला थी। उसमें तू कहाँ था? तू तो मात्र एक खिलौना है। खेल कोई और रहा है। इस स्वयंवर की स्पर्धा में भी तू एक खिलौना था। खेल तो कोई और रहा था।”

इतना सुनते ही तो अर्जुन पर जैसे घड़ों पानी पड़ गया। वह एकदम ठंडा हो गया। उसने नारी के प्रति आसक्तिवाली बात भी नहीं छोड़ी। यों नारी उसकी दुर्बलता थी; पर बड़े सुसंस्कृत ढंग की—मेरे भैया बलराम की तरह हर जगह खुल जानेवाली नहीं। पांडवों में जितने विवाह उसने किए थे उतने उसके किसी भाई ने नहीं।

बाद में पता चला कि इस समय के खुराफात की सारी जड़ भीम ही है। उसने प्रस्ताव रखा था कि पांचाली एक-एक साल हम सबकी पत्नी रहेगी। इस साल बड़े भैया की, फिर मेरी और अगले साल अर्जुन की। बस इतना ही अर्जुन की मुद्रा गड़बड़ा देने के लिए काफी था। ऐसी गड़बड़ मनःस्थिति में ही वह मेरे पास आया था।

मैंने उसे समझाया—“इस तरह का निर्देश देनेवाले भीम कौन हैं? और यह तुम लोगों का विषय भी नहीं है और न तुम्हारे अधिकारक्षेत्र में है कि अपने धर्म का निर्वाह पाँच पतियों के साथ पांचाली कैसे करे!”

“तब किसके अधिकारक्षेत्र में है?” अर्जुन का सीधा प्रश्न था।

“पांचाली के अधिकारक्षेत्र में।” मैंने कहा, “हमारे समाज में नारी पति का वरण करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है।” इसी प्रसंग में मैंने अर्जुन को स्पष्ट किया कि स्वयंवर की स्पर्धा जीतकर तुमने पांचाली का पति होने का अधिकार नहीं पाया, केवल अर्हता पाई है।

“इसका तात्पर्य है कि यह उसकी कृपा थी, जो मुझे पति स्वीकार किया?”

“बिल्कुल। स्पर्धा में विजयी होने के बाद भी वह तुम्हें अस्वीकार कर सकती थी। कर्ण को कैसे उसने कह दिया था कि मैं उसे नहीं वरूँगी।”

“उसके वरण न करने का उसने कारण दिया था।”

“तुम्हारे वरण न करने का भी वह कोई कारण दे देती। कारण तो किसी स्थिति का भी दिया जा सकता है।” मैंने अब एक दूसरा तर्क दिया—“स्पर्धा में तुम अकेले विजयी रहे, तो यह बात तुम्हारे मन में आई। मान लो, दो-तीन व्यक्ति विजयी होते तब? तब क्या तीनों का अधिकार द्रौपदी पर बनता? ऐसी स्थिति में तो बेचारी नुच जाती।”

अर्जुन एकदम चुप हो गया। फिर वह कुछ सोचते हुए बोला, “जब माँ ने यह कहा कि जो लाए हो, उसे पाँचों भाइयों में बाँट लो, तो क्या यह बाँटने का अधिकार हमारे पास नहीं था?”

“तुम्हारे पास अधिकार नहीं था। माँ का आदेश था, वह भी अनजाने दिया हुआ। यह तो पांचाली की महानता है, सौजन्य है कि अपने पत्नीत्व को उसने बँट जाने दिया। पर कब? जब वह तुममें से किसीको अपना पति स्वीकार कर चुकी थी।” मैं कहता गया—“इसे स्पष्ट समझो, अर्जुन, पत्नी किसीकी क्रीत दासी नहीं होती, वह पुरुष की जीवनसंगिनी होती है, सहभागिनी होती है। इस स्थिति को वह आत्मसमर्पण के पुरस्कार के रूप में पाती है।”

अर्जुन अब एकदम चुप था। गंभीर रूप से मौन।

मैं इस स्थिति की कल्पना बहुत पहले से कर रहा था। लोगों को आशंका भी थी कि पत्नी को लेकर इन पाँचों भाइयों में कभी-न-कभी खटपट अवश्य होगी। यदि नहीं होगी तो कुछ लोग कराने से बाज नहीं आएँगे। इसीलिए मैंने अर्जुन के अहं को इस समय सबसे अधिक दबाया और वही पांचाली पर सबसे अधिक दावेदार भी था। अब स्थिति साफ हो चुकी थी। यह पांचाली का ही अधिकार था कि वह निश्चित करे कि अपने पत्नीत्व को पाँचों

भाइयों में कैसे विभाजित करे।

अर्जुन मेरे इस निर्णय से बहुत दुःखी नहीं था, वह दुःखी था भीम की उद्दंडता से, जिसका आधार ही अब कट चुका था। वह थोड़ी देर तक इधर-उधर की बातें करता रहा, फिर बोला, “महाराज का निमंत्रण लेकर चाचाजी पधारे हैं। हमें क्या करना चाहिए?”

“वे जो कहें।” मेरा सीधा-सीधा उत्तर था—“उन्हींने अब तक तुम लोगों की रक्षा की है और आगे भी तुम्हें उन्हींका भरोसा करना चाहिए।”

“इसका तात्पर्य है कि हस्तिनापुर में हमारे लिए अरक्षा की स्थिति बनी रहेगी?” अर्जुन बोला।

“व्यासजी की भविष्यवाणी तो कुछ ऐसी ही है।”

“तब हम जीवन की शांति को आशंकित करने जाँँ ही क्यों?”

मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, “जीवन तो हर जगह आशंकित है; क्योंकि मृत्यु उसके साथ हर क्षण और हर स्थिति में लगी है। इसका यह अर्थ तो नहीं कि हम जीवन से ही पलायन करें। अरे अर्जुन, जीवन जीने का नाम है। तुमने सुना नहीं! मैं कालिय नाग के समक्ष भी शरणागत नहीं हुआ। मैंने उसके फन पर वंशी बजाई थी।”

मुझे तुरंत लगा कि अर्जुन के अहं को दबानेवाला मैं स्वयं अहं का शिकार हो रहा हूँ; पर ऐसी स्थितियाँ मेरे अनुकूल होती थीं। अहंकार से बोझिल मेरी ध्वनि में लोगों को ईश्वर की आवाज सुनाई देती थी और वह मेरे काम को हलका कर देती थी।

मैंने तुरंत अपनी मुद्रा बदली—“हस्तिनापुर तुम्हें अवश्य जाना चाहिए और विजयी मुद्रा में जाना चाहिए। वहाँ की जनता तो तुम्हारे साथ है ही।”

“हम तो चाहते थे कि जनता के साथ-ही-साथ जनार्दन भी हमारे साथ रहते।” अर्जुन ने अपने साथ चलने का आग्रह किया। मेरी इच्छा भी थी; पर मैंने अपनी इच्छा को सीधे व्यक्त होने नहीं दिया वरन् उलटे ही बोला, “मुझे ले चलकर क्या करोगे?”

“खोटा सिक्का भी समय पर काम आता है। आप तो चालू सिक्का हैं। हर समय काम आएँगे।” अर्जुन बोला और हँस पड़ा। मुझे भी हँसी आ गई।

मैंने अर्जुन के आग्रह को उसी हँसी में सहजभाव से उड़ जाने दिया।

इसी समय, या इसके थोड़ी देर बाद ही, राजप्रासाद से एक प्रतिहारी मुझे बुलाने आया—“महाराज आपको इसी समय स्मरण कर रहे हैं। यदि कोई असुविधा न हो तो दर्शन देने की कृपा करें।”

□

अर्जुन को लेकर जब मैं राजप्रासाद में पहुँचा तो देखा कि पांचाल नरेश की बगल में विदुरजी विराजमान हैं। अपने पुत्रों और पुत्रवधू के साथ माता कुंती भी वहीं बैठी हैं।

“यह आपके यहाँ थे और मैं इन्हें राजप्रासाद में खोजवा रहा था।” अर्जुन को देखते ही महाराज बोले।

मुझे विनोद सूझा। मैंने कहा, “इस समय इनका दो ही जगह होना हो सकता है; एक तो मेरे यहाँ और...” इतना कहकर मैं रहस्यमय ढंग से मुसकराने लगा।

“और कहाँ?” महाराज पूछ बैठे।

“दूसरे कृष्णा के कक्ष में।” मेरा इतना कहना था कि हर मन से खिलखिलाहट फूटी और अधरों पर बैठे शील ने दबा दिया। मैंने अर्जुन की ओर देखा और उसने द्रौपदी की ओर। दोनों एक-दूसरे को देखकर धरती निहारने लगे।

मेरे इस विनोद का एक अभिप्राय यह भी था कि भीम की उद्दंडता थोड़ी उभरे, तब मैं उसे वह भाषण पिलाऊँ, जिसे मैं अभी अर्जुन को पिलाकर आया था; पर वह तो मौन ही रह गया।

सामान्य होते ही महाराज ने कहा, “हस्तिनापुर के महामात्य पधारे हैं। वे महाराज धृतराष्ट्र का एक पत्र भी लाए हैं।” फिर वे पत्र पढ़कर सुनाने लगे। पत्र की भाषा तो मुझे याद नहीं है, पर उसका भाव कुछ इस प्रकार था—

‘यह जानकर हस्तिनापुर में प्रसन्नता फिर लौट आई है कि उसके राजकुमार अपनी माँ के साथ जीवित हैं। वारणावत की दुर्घटना ने हमारे ऊपर विपत्ति का पहाड़ ढकेल दिया था; पर भगवान् की कृपा है कि वह पहाड़ आज बालू की भीति की तरह भरभरा गया। आज अपनी राजभक्त प्रजा के साथ हम सब गद्गद हैं। हम साश्चर्य देख रहे हैं कि मारनेवाले से बचानेवाले के हाथ कितने लंबे हैं। हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि आपकी परम तेजस्वी पुत्री हमारे परिवार में कुलवधू हो गई है। परमात्मा की इस कृपा ने हमारे और आपके पुराने वैमनस्य पर नए संबंध का सुगंधित आस्तरण डाल दिया है। अब हम-आप एक हो गए हैं।

‘हम अपने महामात्य को इस आग्रह के साथ आपके पास भेज रहे हैं कि आप पुरानी बातें भुलाते हुए पांडवों और उनकी माता कुंती के साथ हमारी कुलवधू को भी परंपरानुसार बिदा करने की कृपा करें।’

नीचे हस्ताक्षर तो महाराज धृतराष्ट्र का था, पर वास्तविकता कुछ और जान पड़ी। मैंने पत्र सुनने के बाद तुरंत कहा, “लगता है, इस पत्र का आलेख महात्मा विदुरजी ने तैयार किया है।”

“आप यह कैसे कह सकते हैं?” महाराज ने पूछा।

“इसलिए कह सकता हूँ कि इस पत्र में सत्य का भूत सिर पर चढ़कर बोला है—मारनेवाले से बचानेवाले के हाथ बहुत लंबे हैं।” मेरे इतना कहते ही पांडवों की आँखों में कृतज्ञता का भाव जागा और महात्मा विदुर ने मुसकराते हुए मेरी ओर देखा। पर मेरा कथन द्रुपद की समझ से दूर ही रह गया। शायद पत्र के इस अंश ने उन्हें छुआ तक नहीं। उनकी दृष्टि तो हस्तिनापुर और पांचाल के नए बनते संबंधों तक ही रही।

“हमारे और कुरुवंश के संबंधों की नई शुरुआत होगी।” द्रुपद ने अपनी मुख्य चिंता व्यक्त की—“पर हमारे और द्रोण के संबंध का क्या होगा?” एक पुरानी आग फिर धुआँ छोड़ने लगी। मुझे स्पष्ट लगा कि द्रुपद की स्फीत शिराओं में रक्त की गति कुछ तीव्र हो गई। सभी चुप। शांत। लगा, किसीके पास भी द्रुपद के इस प्रश्न का उत्तर नहीं था। एक बार शिखंडी कुछ कहने के लिए कसमसाया भी, पर वह भी कुछ कह नहीं पाया।

यह स्थिति किसी निष्कर्ष पर पहुँचे, इसके पहले ही मैं बोल पड़ा—“लगता है, आपने अपने विचार नहीं बदले। यद्यपि आचार्य द्रोण ने उसे बदलने के लिए स्वयं भूमिका बनाई है।”

“वह कैसे?”

“आपकी सबसे बड़ी समस्या हल करके। शिखंडी का यौन-परिवर्तन कराकर।”

महाराज एकदम चुप हो गए। पूरा मंत्रणाक्ष एक गंभीर सन्नाटे में डूब गया।

“पर यह तो द्रोण ने मुझपर अहसान कर मेरे अहं पर एक और प्रहार किया है।” द्रुपद बोले, “मैं पहले ही उसकी चोट से घायल था, इस घटना ने उस पुराने घाव को फिर हरा कर दिया है।”

अब स्थिति कुछ गड़बड़ाने लगी थी। वस्तुतः द्रुपद अपने प्रतिशोध के लिए पांडवों से कुछ आश्वासन लेने की मुद्रा में थे और पांडव द्रोण से उपकृत। उनके लिए यह किसी प्रकार से भी संभव नहीं था। अब स्थिति मुझे ही सँभालनी थी।

मैंने बड़े शांतभाव से कहा, “प्रतिशोध की ज्वाला क्षमा और विस्मरण के जल से ही बुझती है, महाराज! इसे द्रोण ने पहले ही स्वीकार कर लिया। मेरी प्रार्थना है कि आप भी स्वीकार कर लें।”

“द्रोण की क्षमा पर जीने से तो अच्छा है, मर जाना।” द्रुपद की यह प्रतिक्रिया बड़ी भयानक थी। मुझे भी लगा कि मुझसे गलती हो गई। मैंने तेल से आग बुझाने का प्रयत्न किया। अब मैंने स्वयं को संशोधित किया—“क्षमा का जो

अर्थ आपने लिया, मेरे कहने का वह मतलब नहीं था। मेरे कहने का तात्पर्य था कि आचार्य द्रोण ने स्वयं को क्षमा किया है और पिछली बातें भूल जाने का आपके पास प्रस्ताव भेजा है।”

“प्रस्ताव!” महाराज विस्मित हुए—“मेरे पास उनका कोई प्रस्ताव नहीं है।”

“शिखंडी के रूप में वह आपके पास ही है।”

इसके बाद द्रुपद कुछ बोलें, इसके पहले ही शिखंडी खड़ा हो गया—“हाँ, महाराज, द्वारकाधीश ठीक कहते हैं।” फिर उसने आचार्य द्रोण के यहाँ जाने के पूर्व की अपनी मनःस्थिति और परिस्थिति का संक्षिप्त ही, पर बड़े प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया। फिर इस प्रसंग में उसने मेरी भूमिका भी बताई और कहा, “उन्होंने मेरे साथ जो उपकार किया, उसमें कहीं भी आपके सम्मान के विरुद्ध कुछ भी नहीं था। वरन् कई बार आचार्यजी ने कहा था, ‘तुम मुझसे सहयोग तो ले रहे हो, पर इससे तुम्हारे पिताजी नाराज न हो जाएँ।’

“मैंने कहा, ‘जब आप नाराज नहीं हुए तब पिताजी क्यों नाराज होंगे!’ तब आचार्यजी हँसकर बोले थे, ‘मैं तो सब भूल गया था। तुम्हें देखा तो सब याद हो आया।’ उन्होंने बहुत स्पष्ट कहा था—‘प्रतिशोध तो क्षत्रिय को शोभा देता है, ब्राह्मण को नहीं। ब्राह्मण का गुण तो क्षमा है, संतोष है। वह घटना जब भी मुझे याद आती है, मेरा ब्राह्मणत्व पश्चात्ताप करता है।’ ”

मैं मन-ही-मन शिखंडी की बुद्धि पर बहुत ही प्रसन्न हुआ। आचार्य द्रोण ने ऐसा कहा होगा या नहीं, पर शिखंडी ने ऐसी कथा कही कि सारा वातावरण बदल गया।

महाराज की मुद्रा बदली—“तब तुमने पहले यह सब क्यों नहीं बताया?”

“आपने बताने का अवसर ही कहाँ दिया! जब भी आचार्य का प्रसंग आता था, आप आगबबूला हो जाते थे। आप ही समझिए, यदि आचार्य ने वे सारी बातें भुला न दी होतीं तो मेरी बहन के स्वयंवर में वे अपने पुत्र अश्वत्थामा को क्यों भेजते?”

महाराज शांत हो गए। ज्वाला बुझने लगी, तब मैंने अपनी मायावी हँसी बिखेरी—“जब आपकी कन्या पांडवों की वधू होकर हस्तिनापुर और पांचाल के संबंधों का नया अध्याय शुरू करा सकती है, तब अर्जुन आपका जामाता होकर आपके और द्रोण के बीच की खाई पाट नहीं सकता?”

“राजनीतिक समीकरण तो कुछ ऐसा ही है।” अब तक मौन बैठे विदुर महाराज बोले और वातावरण एकदम बदल गया।

अब पांडवों की बिदाई के संबंध में बातें होने लगीं। महाराज ने कहा, “मैंने सारी व्यवस्था कर दी है। भीमसेन मेरे पास आए थे। मैं उन्हें सब बता चुका हूँ।”

“क्या भीम ने दहेज के लिए महाराज से कुछ कहा क्या?” युधिष्ठिर ने मेरे कान में शंका व्यक्त की। क्योंकि यह युधिष्ठिर के सम्मान और स्वभाव के विरुद्ध था।

“भीम उद्दंडतावश कुछ भी कर सकते हैं; पर वे इतने मूर्ख तो नहीं हैं।” मैंने कहा, “आपके स्वभाव को जानते हुए उन्हें कुछ भी माँगना नहीं चाहिए।”

मैं यह युधिष्ठिर से कह ही रहा था कि महाराज ने स्वयं स्पष्ट कर दिया—“मैं तो चाह रहा था कि पांडव यहीं रहते और मेरे आधे राज्य पर शासन करते। प्रासाद में आने के बाद मैंने यह प्रस्ताव भी उनके पास भेजा था; पर मेरी इस इच्छा में उन्हें घरजमाई बनाने की गंध लगी।”

“मेरे मन में ऐसी बात कभी नहीं आई।” युधिष्ठिर ने बीच में ही टोका—“हमने यह जरूर कहा था कि हमें यह प्रस्ताव स्वीकार करने में कुछ कठिनाई होगी। फिर भी हम लोग विचार करेंगे और शीघ्र ही महाराज को उनकी इस



कृपा के प्रति अपने विचारों से अवगत कराएँगे।”

“पर आपकी ओर से ऐसा कोई संदेश नहीं आया।” महाराज ने मुसकराते हुए कहा, “तब मैं ऐसा सोचने के लिए बाध्य हुआ।”

“बात यह थी कि इसी बीच चाचाजी (विदुर) आ गए। उनके रहते अपनी ओर से हम क्या निर्णय लेते!”

“जो भी हो, अब तो मैं अपनी ओर से निर्णय ले ही चुका हूँ।” द्रुपद ने बताया—“कृष्णा को मुझे जो कुछ देना था, वह तो मैं दे ही चुका हूँ। अब अपनी सेना की एक टुकड़ी मैं पांडवों को देने की घोषणा करता हूँ। इसमें सत्तर हाथी, एक सौ रथ और दो सौ घोड़े रहेंगे; साथ में चार सौ गायें भी जाएँगी।”

“यही तो मैं चाहता था।” मेरे मुख से स्वतः निकल पड़ा—“मेरी इच्छा थी कि पांडव यहाँ से विजयी योद्धाओं की तरह जाएँ।”

“वही होता है, जो आप चाहते हैं।” महाराज हँसते हुए बोले।

“आप इसे इस तरह क्यों नहीं देखते कि नियति जो चाहती है, उसीके होने की प्रेरणा मुझे देती है।” मैंने कहा।

महाराज मुसकराने लगे।

यह भी निश्चय हुआ कि एक पक्ष के भीतर ही किसी उचित मुहूर्त में पांडव यहाँ से प्रस्थान करें। विदुरजी की राय थी कि हम अपने इस निश्चय की सूचना हस्तिनापुर भेज दें, जिससे हमारे उचित स्वागत की वहाँ तैयारी रहे। पर मैं इस विचार का नहीं था। मैंने उस समय विरोध नहीं किया; पर इतना अवश्य कहा कि हमें इस संबंध में कुछ और सोच लेना चाहिए। बात जहाँ उठी थी वहीं दब गई।

एक बात और थी। विदुरजी के आने और उनका उद्देश्य जानने के बाद मैंने छंदक को हस्तिनापुर त्वरित वाहन से भेजा था, वहाँ की राजनीति का अध्ययन करने के लिए। लाक्षागृह तो कब का जलकर बुझ गया था; पर यहाँ से जो आग कौरव ले गए थे उसके ताप का अनुमान लगाना आवश्यक था; क्योंकि भभकते हुए ज्वालामुखी से सोया हुआ ज्वालामुखी ज्यादा खतरनाक होता है।

फिर उस सोते हुए ज्वालामुखी में प्रवेश करने के पहले उसके ताप को नापने और उससे उसकी विनाशक शक्ति का अंदाज लगाने की सही प्रतिभा छंदक में ही थी। इसलिए मैं उसके लौटने की बड़ी व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहा था।

मेरा मन एक और द्विविधा में था। एक ओर तो मैं सोच रहा था कि यदि परिस्थिति अनुकूल न हो तो पांडवों को वहाँ भेजना नहीं चाहिए। दूसरी ओर राजनीति कह रही थी कि जब उनके जल मरने की बाद झूठी हो चुकी है, जब सबकुछ खुल चुका है तब उन्हें एक बार तो हस्तिनापुर अवश्य जाना चाहिए। जितना विलंब होगा, सत्ता पर वे अपने दावे को उतना ही कमजोर करते जाएँगे।

ऐसी ही उलझन में मैं द्रुपद के मंत्रणाकक्ष से निकला। विदुर महाराज अब भी द्रुपद के साथ विचार-विमर्श में संलग्न थे और प्रस्थान की योजना को आकार देने में लगे थे। मैं उनसे एकांत में बातें करना चाहता था। इसीलिए मैं उद्यान की ओर चला गया और द्वारपाल से कहता गया कि विदुरजी ज्यों ही निकलें, उन्हें पुष्करिणी की ओर भेज देना।

थोड़ी देर बाद विदुरजी पधारे। बड़े आशंकित दिखाई दिए।

“आप कुछ अन्यथा न सोचें, मैंने यों ही आपको यहाँ बुला लिया है।”

वे हँस पड़े। बोले, “आप यों ही एकांत में बुलानेवाले तो नहीं हैं। कोई बात अवश्य होगी।”

“अभी आपसे बातें करके मेरा मन नहीं भरा है।” मैंने हँसते हुए कहा।

“मन नहीं भरा है कि आप कुछ और देख रहे हैं?”

“जो दृश्य है, उसे तो सभी देख रहे हैं।”

“पर आप तो अदृश्य भी देखते हैं, माधव।”

“वह भी अनुमान की आँखों से।” मैं अपने ढंग से मुसकराया—“पर ये अनुमान की आँखें कभी-कभी बड़ा धोखा देती हैं। इसीलिए अनुमान हमेशा प्रमाण नहीं होता।”

मेरा स्वयं को छिपाना और उसपर शास्त्रीयता का आस्तरण चढ़ाना विषय को गूढ़ बनाने की मेरी एक शैली थी, इसे विदुरजी अच्छी तरह पहचानते थे। उन्होंने मुसकराते हुए ही मेरा आग्रह स्वीकार किया और संध्या को मेरे ही शिविर में मिलने का कृपापूर्वक आश्वासन दिया।

संयोग कुछ ऐसा कि जब मैं शिविर में लौटा तो देखा कि छंदक बैठा मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। हस्तिनापुर के बारे में उसके भी विचार लगभग वही थे, जिसका अनुमान मुझे था। छंदक की सूचना के अनुसार प्रजा जितनी विह्वल थी, राजभवन में उतना ही सन्नाटा था। दुर्योधन के कक्ष में दिन-दिन भर शकुनि, कर्ण और दुःशासन का रहना उस सन्नाटे में किसी अप्रत्याशित षड्यंत्र की आशंका भर रहा था। उसका कहना था कि हस्तिनापुर निरापद नहीं है। आज नहीं तो कल, उन्हें कौरवों के षड्यंत्र का शिकार तो बनना ही होगा।

“फिर तुम्हारा निष्कर्ष क्या है?” मैंने पूछा।

“निष्कर्ष तो आपको लेना है।” छंदक बोला। फिर वह कुछ सोचने लगा—“पांडवों को एक बार तो वहाँ जाना ही चाहिए। अंत में उनके लिए किसी दूसरी राजधानी की व्यवस्था करनी ही पड़ेगी।”

“हस्तिनापुर के अतिरिक्त दूसरी राजधानी! यह कैसे संभव है?”

“जैसे द्वारका संभव हुई।” छंदक झटके में कह तो गया, पर उसे कहीं ऐसा अवश्य लगा कि उसे यह कहना नहीं चाहिए। इसके बाद वह गंभीर रूप से चुप हो गया।

मैं भी चुप था। यद्यपि मैं कहना चाहता था कि मेरी और पांडवों की स्थिति में अंतर है। पांडव हस्तिनापुर के अधिकारी हैं। वह उनकी राजधानी है। पर मेरा अधिकार तो कहीं नहीं था। न कहीं मेरा राज्य था और न कहीं मेरी राजधानी।

मैंने बात बदलते हुए पूछा, “वहाँ तुम किस-किससे मिले?”

“यों तो पूरी राजधानी से मिलने की चेष्टा की, पर राजभवन में नहीं गया। उसकी शून्यता भयावह थी। केवल पितामह से मिला था। वे प्रसन्न थे। भगवान् को कोटिशः धन्यवाद दे रहे थे। पर वे भी थे शंकाग्रस्त।”

“क्यों? उनको भी षड्यंत्र की आशंका है क्या?”

“यह तो मैं नहीं कह सकता।” छंदक बोला, “किंतु पांडवों के संबंध में व्यासजी की भविष्यवाणी से वह किसी प्रकार अवगत अवश्य हैं।”

अब मेरे सामने स्थितियाँ कुछ अधिक स्पष्ट थीं।

अभागों के हाथ से पर्ण की तरह जाड़े का दिन खिसकने लगा। माघ शुक्ल पक्ष की ठिठुरती संध्या शिविरों के बाहर जलाई जा रही लकड़ियों से धुँधली होने लगी। मैं महाराज विदुर की प्रतीक्षा में था। शिविर से बाहर निकलकर टहलने लगा। तब तक एक रथ आता दिखाई दिया। मैंने समझ लिया कि विदुरजी आ रहे हैं। पर रथ के कुछ निकट आने पर ज्ञात हुआ कि यह सुशर्मा है।

वह उतरते ही जैसे भभक पड़ा—“स्वयंवर विजय का यह अर्थ तो नहीं कि पांडवों ने संसार जीत लिया है!”

मैं कुछ विशेष समझ नहीं पाया; पर इतना अवश्य समझ गया कि यह पांडवों से नाराज है। और इस समय

पांडवों से किसीका भी नाराज होना हम लोगों के हित में नहीं है। मैंने अपनी मुद्रा बदली और हँसते हुए बोला, “सुशर्मा, तुम तो आते ही ऐसे भभके कि हम लोग गले लगना भी भूल गए।” मैंने तुरंत उसे गले लगाया। वह कुछ ठंडा हुआ। अलाव तापते हुए, धीरे-धीरे वह खुला। पता चला कि भीम ने उसके साथ कुछ उद्दंडता कर दी है।

बातें आगे बढ़तीं कि इसी समय विदुर महाराज का रथ आ गया। आते ही उन्होंने विलंब के लिए क्षमा माँगी। पर सुशर्मा को देखकर वे ठिठक-से गए—“आप यहाँ भी?”

सुशर्मा ने विदुरजी की ओर देखा और फिर सामान्य ढंग से अभिवादन किए बिना किसीसे कुछ कहे-सुने चला गया। स्पष्ट लगा कि वह यहाँ आने के पहले महाराज विदुर के यहाँ भी गया था।

मंचक पर बैठते हुए विदुरजी ने पूछा, “वह कौन सी बात है, जो वहाँ उद्यान में न हो सकी?” “उद्यान में कौन सी ऐसी बात है, जो नहीं हो सकती?” मैंने कहा और स्वयं ही जोर से हँसा भी। पर मेरी हँसी विदुरजी की गंभीरता को हिला न सकी। अब मैंने उचित समझा कि सारी बातें साफ-साफ कह दी जाएँ।

“जब मैंने आपको उस समय उद्यान में बुलाया था, तब मेरी मंशा थी कि हस्तिनापुर की यात्रा कुछ दिनों के लिए टाल दी जाए। अब मैं सोचता हूँ कि ऐसा करने से कोई विशेष लाभ नहीं होगा।”

“आपके सोच में ऐसा परिवर्तन इतनी जल्दी कैसे हुआ?” उन्होंने मुसकराते हुए पूछा।

“बात यह है कि मैंने छंदक को हस्तिनापुर वहाँ की स्थिति का अध्ययन करने के लिए भेजा था।” मैंने कहा, “अब वह आ गया है। सारा आगा-पीछा सोचने के बाद अब हमारा निष्कर्ष यही है कि वहाँ एक बार तो पांडवों को जाना ही चाहिए—और इसलिए भी जाना चाहिए कि धृतराष्ट्र महाराज ने उन्हें बुलाया है। न जाना महाराज की अवज्ञा होगी।”

“यह तो सर्वमान्य निष्कर्ष है—और उसीके अनुसार तैयारी भी हो रही है। पर वह कौन सी बात है, जो पांडवों को न जाने देने के लिए आकर खड़ी हो जाती है?”

“उनकी सुरक्षा का प्रश्न!”

इसपर विदुरजी खुलकर हँसे और बोले, “क्या आप समझते हैं कि लाक्षागृह से पांडवों को सुरक्षित निकालनेवाली नियति अब पांडवों के पक्ष में नहीं रही?”

विदुरजी ने इतने विश्वास और इतने ढंग से यह बात कही थी कि मुझपर जैसे घड़ों पानी पड़ गया। मैं तुरंत बोला, “नहीं-नहीं, मैं ऐसा नहीं सोचता। नियति उनपर सदय है। आप उनपर सदय हैं। प्रजा भी उनके पक्ष में है; पर कौरवों का द्वेष अब शत्रुता की परिधि छूने लगा है। कभी भी किसी प्रकार के षड्यंत्र की अवतारणा हो सकती है।”

“यह स्थिति तो पहले भी थी, आज भी है और भविष्य में भी रहेगी।” विदुरजी बोले, “इसका तात्पर्य यह तो नहीं है कि हस्तिनापुर छोड़ दिया जाए।”

“पर अशांति, आशंका और हर क्षण षड्यंत्रों की संभावनावाले वातावरण में जीने से अच्छा है कि ऐसे जीवन से दूर ही रहा जाए।”

“मुझे आश्चर्य है कि तुम्हारे जैसा व्यक्ति यह कह रहा है, कन्हैया; जो हर विरोधी परिस्थितियों में रस लेते हुए जीया है।”

मेरे जीवन की विषम स्थिति होती थी, जब मैं अपने विचारों में ही फँस जाता था और जब निकलने की चेष्टा करता था तब और फँसता जाता था।

इस समय भी कुछ ऐसा ही हुआ, जब मैंने यह कहा, “नहीं-नहीं, यह तो छंदक के विचार हैं।” मैंने यह भी

कहा, “मुझे तो वहाँ जीना नहीं, जीना तो पांडवों को है।”

“क्या पांडवों के जीवन से तुम अपने को अलग करना चाहते हो; जबकि संसार दोनों में से किसीको भिन्न नहीं समझता?”

आज मैंने देखा कि मेरा हर दौंव उलटा पड़ रहा था। विदुर महाराज का हर तर्क मेरे तर्क से भारी था।

मैंने फिर छंदक की बात दुहराई—“आज नहीं तो कल, पांडवों को अपनी राजधानी अलग करनी पड़ेगी। वे कब तक विषधरों के घर में सुरक्षित रहेंगे?”

“बात तो ठीक है; पर यह बात वह कह रहा है, जो महा विषधर के सिर पर भी नृत्य कर चुका है।” इतना कहकर विदुर महाराज हँसे। फिर बोलने लगे, “दूसरी राजधानी बनाने के लिए हमें पहली राजधानी हस्तिनापुर तो चलना ही पड़ेगा।”

“यही तो मैं भी सोचता हूँ।” मैंने कहा, “द्रुपद के प्रस्ताव को ठुकराकर नहीं वरन् उसे विचार के लिए सुरक्षित रखकर।”

“किस प्रस्ताव की चर्चा की जा रही है?”

“उनका पहला प्रस्ताव तो यही था न कि हमारे जामाता हमारा आधा राज्य ले लें और सुख-शांति का जीवन व्यतीत करें।”

विदुर महाराज शांतभाव से बड़ी देर तक सोचते रहे। अंत में वे भी उसी निष्कर्ष पर आए कि हमें इस प्रस्ताव को एकदम ठुकराना नहीं चाहिए; पर इसे संप्रति स्वीकार करना भी उचित नहीं है। खोटे सिक्के की तरह न इसे फेंकें और न इसपर विश्वास करें, वरन् इसे चुपचाप रखें। हो सकता है, मुसीबत में काम आए।

□

छंदक ने आते ही सूचना दी कि महर्षि धौम्य ने एक विस्तृत पत्र महाराज को भेजा है।

“हाँ, उनसे पांडवों के प्रस्थान करने के विषय में मुहूर्त के प्रति निर्देश माँगा था।” मैंने कहा, “हो सकता है, महर्षि ने उसीके विषय में लिखा हो।”

“लगता है, चार दिन बाद प्रातः पुष्पामृत योग में महर्षि ने प्रयाण का मुहूर्त बताया है।” मैंने कहा, “हो सकता है, महाराज को उसी विषय में कुछ लिखा हो।”

“कुछ ऐसा जरूर लिखा है, जिससे अब आपकी भी राजप्रासाद में बुलाहट होगी।”

मुझे हँसी आ गई। मैं समझ गया कि छंदक जानता है कि पत्र में क्या लिखा है।

“ऐसा तुम कैसे कह सकते हो?”

“इसलिए कि बिना आपके काम नहीं चलेगा।” छंदक ने बताया—“महर्षि धौम्य ने लिखा है कि ग्रह-नक्षत्रों की गणना से ऐसा ज्ञात होता है कि आगे आनेवाले वर्ष पांडवों के लिए बड़े संघर्ष के वर्ष होंगे। अकेले उनका हस्तिनापुर जाना निरापद नहीं है।” छंदक कहता रहा—“उन्होंने महाराज द्रुपद को स्पष्ट लिखा है कि उनके साथ जाने के लिए वे आपसे भी निवेदन करें।”

मैं प्रसन्न हुआ कि मेरी इच्छा के अनुसार ही बानक बन रहा है। फिर भी मैंने छंदक से पूछा, “इस विषय में मुझे क्या करना चाहिए? यद्यपि मुझे द्वारका छोड़े भी अधिक दिन हो गए हैं।”

“इस संबंध में मैं आपको क्या राय दूँ?” छंदक बड़े रहस्यमय ढंग से मुसकराया। वह मेरे मन के अधिक निकट था। यदि उसे पढ़ लिया हो तो आश्चर्य भी नहीं। वह बोला, “परिस्थिति ऐसी है और बनती भी जा रही है कि पांडवों को आपका आश्रय ही नहीं, नियंत्रण भी चाहिए।” इसी संदर्भ में उसने आज प्रातः की एक विचित्र घटना बताई। मैं तो अवाक् रह गया।

उसने बताया—“कल प्रातः मैं गंगा किनारे निकल गया था। ठिठुरती और काँपती हवा का स्पर्श बड़ा मादक था। वायु-सेवन के निमित्त गंगा के किनारे सैकत शय्या पर टहलने लगा। थोड़ी देर बाद भीमसेन का भी अश्व रेत उड़ाता आ गया। वह मुझे देखते ही रुका। अश्व से उतरकर मेरे साथ चहलकदमी करने लगा। उसका अश्व दूर चरने लगा। मैंने पूछा, ‘आप रोज यहाँ वायु-सेवन के लिए आते हैं?’

“ ‘नहीं। आज ही चला आया हूँ।’ भीम ने कहा, ‘दो-एक दिनों में तो कांपिल्य छोड़ना ही है, क्यों न इसके प्राकृतिक सौंदर्य का रस ले लूँ?’ इतना कहने के बाद वह कुछ समय तक मौन टहलता रहा। उस पार से सूर्य का लाल गोला धरती फाड़कर निकलता दिखाई दिया। इस बीच भीम सकपकाया हुआ चारों ओर देखता रहा। उसके मुख से अचानक निकला—‘वे लोग आकर चले तो नहीं गए?’

“ ‘कौन से लोग?’ मेरे इतना पूछते ही भीम अप्रत्याशित रूप से मौन हो गया। फिर अपने मुख से निकल गई बात को समेटते हुए बोला, ‘यों ही, मैं कुछ और सोचने लगा था।’ ”

छंदक का कहना था—“इतने से तो मैं समझ गया था कि भीमसेन किसीकी प्रतीक्षा में ही यहाँ आया है; पर यह नहीं समझ पाया था कि वह स्नान के लिए वस्त्र क्यों लाया है; जबकि वह अब तक वायु-सेवन की बात ही कहता रहा।

“अब जल में पड़ रहा सूर्य का रक्ताभ बिंब पीला पड़ चुका और गंगा की धारा में पिघला हुआ स्वर्ण बहने लगा था। हम दोनों इस दृश्य की भव्यता पर मुग्ध थे कि दूर से किसी रथ के आने की ध्वनि सुनाई दी। भीम ने तुरंत मेरा साथ छोड़ दिया और अपने अश्व की ओर दौड़ा। उसपर बँधे वस्त्र निकाले। मुकुट मुझे थमाकर अपने वस्त्र बदलने लगा। फिर बोला, ‘आया हूँ तो थोड़ा स्नान भी कर लूँ।’ और भीम तुरंत गंगा की धारा में कूद पड़ा।”

छंदक का कहना था—“अवश्य ही यह सब भीम की किसी योजना के अधीन था; पर मेरे लिए अप्रत्याशित था। मैं कुछ समझ नहीं पाया। भीम का मुकुट लिये मैं मूर्खों की तरह रेत पर किसी तमाशे की संभावना में बैठा रहा।

“अब वह रथ भी आ गया। उसपर से सुशर्मा और उसकी बहन बलंधरा भी उतरी। सारथि से उन्होंने अपने वस्त्र लिये और बदले तथा स्नान की तैयारी करने लगे। निश्चित रूप से वे गंगास्नान के लिए ही आए थे।

“पहले सुशर्मा गंगा में कूदा। बलंधरा वस्त्र बदलने के लिए थोड़ी दूर पर एक पीपल की आड़ में चली गई। मैंने देखा, भीम भी तैरता हुआ ठीक उस पीपल के सामने आ गया। वस्त्र बदलती बलंधरा की ओर उसने ऐसी टकटकी लगाई कि पलक न झपी। मुझे बड़ा खराब लग रहा था। कोई देखेगा तो क्या कहेगा! न भय, न लज्जा। पर बलंधरा भी खूब थी! वह भी कपड़े बदलकर उधर ही कूद पड़ी जिधर भीम तैर रहा था।”

छंदक ने बड़ा रस लेकर बलंधरा की पुष्ट शरीरयष्टि और उसके उन्मुक्त सौंदर्य का वर्णन किया—“उसके वक्ष पर कसकर बाँधे गए पटुके के भीतर से उसके पुष्ट व उन्नत उरोज जैसे फाड़कर बाहर निकलने के लिए आतुर थे और कटि पर बँधे वस्त्र भी उसके शील को ढकने में सर्वथा असमर्थ थे।” छंदक का कहना था—“सद्यः नवनीत में उषा की लाली को मिलाकर बनाई गई उस सौंदर्य पुत्तलिका पर ये आधे-अधूरे वस्त्र केवल अपनी उपस्थिति का आभास मात्र कराते थे। और जल में डुबकी लगाते ही वस्त्रों ने अपनी अस्मिता ऐसे खो दी कि वे शरीर के साथ अद्वैत हो गए।”

“तब तो उसके शरीर और वस्त्रों से मिली अद्वैतता को तुम्हारी दृष्टि सहलाने लगी होगी!” मैंने छंदक पर व्यंग्य करते हुए कहा।

“मेरी क्या, उस समय हर किसीकी दृष्टि यही करती।” उसने सीधे-सीधे मुझे लक्ष्य करते हुए कहा।

मैंने पूछा, “फिर क्या हुआ?”

“जो होना था, वही हुआ।” छंदक बोला, “भीम पानी के भीतर से ही चिल्लाया—‘अरे, इधर मत आना! इधर मगर है।’ इतना सुनते ही बलंधरा डरी। वह तैरती हुई अपने भाई की ओर बढ़ी। तब मैंने देखा, भीम ने भी डुबकी लगाई। उसकी यह डुबकी बड़ी गंभीर और गहरी थी। अचानक बलंधरा पानी में अदृश्य हो गई। अब सुशर्मा चिल्लाया—‘बलंधरा! बलंधरा! अरे कोई है? दौड़ो, बलंधरा डूब गई!’ तब दूर पर बैंधी दो-तीन नावों पर बैठे नाविकों ने नावों पर से ही छलाँग लगाई। अजीब स्थिति थी। सुशर्मा चिल्लाता रहा—‘बलंधरा डूब गई। बलंधरा डूब गई।’ और स्वयं मूर्खों-सा जल में खड़ा रहा।”

“भीम दिखाई पड़ रहा था या नहीं?” मैंने पूछा।

“वह अदृश्य था।” छंदक बोला।

मैं सबकुछ समझ गया। भीम पुराना तैराक है। जब विष खिलाकर दुर्योधन और उसके मित्रों ने उसे गंगा में बहा दिया था, तब भी वह अपने इसी कौशल से पार लगा था।

छंदक ने आगे बताया—“थोड़ी देर तक यह ऊहापोहात्मक स्थिति बनी रही। तब भीम अपनी विजयी मुद्रा में बलंधरा को गोद में लेकर निकला। जब सुशर्मा उसकी ओर बढ़ा तो भीम उसे डाँटते हुए बोला, ‘उसका पैर देखो, कहीं रक्तस्राव तो नहीं हो रहा है!’

“सुशर्मा ने उसके पैर के चारों ओर देखा, कहीं कुछ नहीं था। उधर भीम उसे अपनी गोद में लिये वक्ष से चिपकाए जा रहा था।”

छंदक का कहना था—“मुझे बड़ा भद्दा लग रहा था। यह तो कहिए, शीत का प्रभात था। इक्के-दुक्के ही शरणार्थी थे, अन्यथा हंगामा मच जाता।

“सुशर्मा बोला, ‘आप इसे भूमि पर लिटा दीजिए।’

“‘पागल हुए हो। हिमानी रेत पर लिटाकर इसे ठंडा करना है क्या? यह तो यों ही मर रही है।’ भीम बोला।

“‘तब आप इसे अपनी छाती से दबा क्यों रहे हैं?’ कितना लाचार होकर सुशर्मा ने अपनी बहन के विषय में यह कहा होगा! लगता है, उसके मस्तिष्क पर उस भीम का बड़ा आतंक था, जिसे उसने स्वयंवर के बाद वृक्ष उखाड़-उखाड़कर लोगों को मारते और परास्त करते देखा था।

“भीम ने फिर सुशर्मा को डाँटा—‘तुम चुप रहो! इसके पेट का पानी निकाल रहा हूँ। तुम्हारी बहन मर चुकी है।’

“सुशर्मा कुछ बोल नहीं पाया। वह भीतर-ही-भीतर उबल रहा था। क्रोध से उसका चेहरा लाल था। अब भी भीम बलंधरा को धीरे-धीरे दबाता हुआ उसे रथ तक ले आया और उसपर लिटा दिया। फिर उसकी पीठ और छाती पर हाथ फेरता रहा। सुशर्मा ने फिर आपत्ति की। उसने फिर उसे डाँटा।”

छंदक का कहना था—“उन्मुक्त वासना को इतना निरंकुश, अराजक और आक्रामक होते मैंने बहुत कम देखा था। यहाँ तक कि सारथि को भी भीम का यह कृत्य अच्छा नहीं लगा। वह चुपचाप रथ छोड़कर गंगातट पर चला गया।

“मुझे आश्चर्य था कि भीम द्वारा इतना पेट दबाए और छाती सहलाए जाने के बाद भी बलंधरा के मुख से चुल्लू भर भी पानी नहीं निकला। आखिर सहने की भी एक सीमा होती है। सुशर्मा एकदम भभक उठा—‘अच्छा, अब हट जाइए यहाँ से! मैं आपका नाटक कब से देख रहा हूँ!’

“‘यह नाटक है!’ भीम का भी स्वर उसी ऊँचाई पर था—‘तुम्हारी बहन तो मर चुकी थी। मैंने इसे बचाया है, नहीं तो मगर इसे घसीट ले गया होता।’

“ ‘खूब घसीट ले गया होता!’ सुशर्मा बोला, ‘कहीं इसके बदन पर मगर के दाँत लगे हैं?’

“भीम क्षण भर के लिए चुप हो गया।

“ ‘डुबकी लगाकर मगर की भूमिका करना भी तुम्हारा ही करतब है।’

“ ‘तो तुम मुझे झूठा, ढोंगी और नाटकीय समझते हो!’ भीम तड़पा। ऐसा लगा कि वह सुशर्मा पर टूट पड़ेगा। तब तक बलंधरा ने अपनी आँखें खोल दीं।

“ ‘आप लोग क्यों लड़ रहे हैं?’ वह बोली।”

छंदक का कहना था—“मुझे तो बलंधरा के चरित्र में ही संदेह होने लगा। वह इसके पहले संज्ञाशून्य नहीं थी वरन् वह बेहोश होने का नाटक कर रही थी। अवश्य ही भीम के साथ उसकी मिलीभगत थी।

“उसके होश में आते ही सुशर्मा ने उससे पूछा, ‘अच्छा, यह बताओ, तुमने जब डुबकी लगाई थी तो क्या तुम्हें मगर ने पकड़ लिया था?’

“ ‘इन सब झमेलों में पड़ने से क्या लाभ!’ बलंधरा लेटे-लेटे ही बड़े ढंग से बोली, ‘यदि भीमसेनजी न होते तो आज मैं निश्चित ही मर गई होती।’ ”

छंदक ने बताया—“मैं उन्हीं लोगों के साथ उनके रथ तक चला आया था। इसीलिए इस झमेले का साक्षी बनने के लिए विवश भी किया गया। सुशर्मा ने फिर अपने प्रश्न को दुहराया—‘मैं पूछ रहा हूँ कि डुबकी लगाते ही तुम्हें मगर ने पकड़ा था या नहीं? मैं सीधा उत्तर चाहता हूँ।’

“ ‘यह क्यों पूछ रहे हैं?’ भीम ने मुसकराते हुए बड़े व्यंग्य से कहा।

“ ‘इससे तुमसे मतलब! मैं कुछ भी पूछ सकता हूँ अपनी बहन से।’

“ ‘पर अब यह तुम्हारी बहन नहीं है।’

“ ‘क्या?’ सुशर्मा के नेत्र विस्फारित हो गए।

“ ‘हाँ-हाँ, यह तुम्हारी बहन नहीं है।’ भीम ने कहा, ‘तुम्हारी बहन तो मर चुकी है। जिसे मैंने बचाया है, वह मेरी है।’

“सुशर्मा एकदम चकित था। यह स्थिति उसके लिए अकल्पनीय थी। उसे सबसे बड़ा विस्मय इस बात का था कि उसकी बहन भी भीम का कोई प्रतिवाद नहीं कर रही थी, वरन् कनखियों से एकटक भीम की ही ओर देख रही थी।

“अब सुशर्मा क्या करता! सिवा अपनी बहन पर झल्लाने के उसके हाथ में कुछ नहीं था।

“अब उसकी बहन ने चुप्पी तोड़ी—‘जब मैंने डुबकी लगाई तब मुझे लगा कि मेरा दाहिना पैर पकड़कर कोई खींच रहा है। मैं नीचे खिचती चली गई और फिर बेहोश हो गई। इसके बाद मैं कुछ नहीं जानती।’

“ ‘मैंने तुम्हें कूदने के पहले ही सावधान किया था कि इधर मगर है।’ भीम बोला।

“ ‘पहले नहीं, कूदने के बाद।’ बलंधरा ने अब प्रतिवाद किया—‘इतना सुनते ही मैं भैया की ओर तैर पड़ी थी कि इसी समय वह घटना घटी।’

“वे दोनों मल्लाह, जो बलंधरा की खोज में धारा में कूदे थे, अब तक मौन खड़े थे। पर अब उनमें से एक बोला, ‘गंगा में इधर मगर दिखाई पड़ता तो कभी-न-कभी चर्चा तो होती ही। पिछले चालीस वर्षों से मेरा सारा दिन इधर ही बीतता है।’

“ ‘तुम क्यों बीच में टाँग अड़ते हो?’ भीम ने उन दोनों को डाँटा—‘तुम लोग जाओ, अपना काम करो। यहाँ खड़े होकर क्या तमाशा देख रहे हो!’ वे बेचारे चले गए।

“अब भीम मुझे संबोधित कर कहने लगा, ‘मैंने अपनी आँखों से मगर देखा था और ये सब मुझे झुठला रहे हैं।’ ”

छंदक बता रहा था—“मैं चुप ही रह गया। इधर झगड़ा बढ़ने लगा। भीम का तर्क था कि पुरानी बलंधरा तो मर गई। जिसे मैंने बचाया है, अब वह मेरी है। उधर सुशर्मा अपनी हाँके जा रहा था; जबकि उसकी बहन चुप थी। उसका मौन भी भीम का प्रतिकार नहीं कर रहा था। सुशर्मा बेचारा अकेला पड़ गया था। अब वह मेरा समर्थन चाहता था। पर मैं क्या कहता! मन से निरपेक्ष न होकर भी ऊपर से निरपेक्ष था। जब सुशर्मा ने बहुत दबाव दिया तब मैंने उससे कहा, ‘इसमें आप मुझे न शामिल करें। यह आपके घर का मामला है। आप आपस में सुलझा लें। दिन भी अब चढ़ने लगा है। स्नानार्थी भी आ रहे हैं। आप लोग अपने-अपने शिविर में चलें। निर्णय के लिए तो सारा दिन पड़ा है।’ ”

छंदक का कहना था—“ईश्वर की कृपा थी कि उन लोगों ने मेरा कहना मान लिया। उधर सुशर्मा का रथ चल पड़ा और इधर भीम भी अपने अश्व पर सवार हुआ।”

अब मैंने समझा कि सुशर्मा इतना आगबबूला होकर मेरे यहाँ क्यों आया था। मैं सोचने लगा कि भीम इतना कामुक तो नहीं है। पर उसके दहाड़ते हुए पौरुष के समक्ष यदि आकर्षक चारा पड़ा दीख जाए तो उसपर झपट पड़ना उसके लिए अस्वाभाविक भी नहीं।

पर इस समय पांडवों को प्रेम की जितनी आवश्यकता थी उतनी घृणा की नहीं। जितनी आत्मीयता की जरूरत थी उतनी संघर्ष की नहीं। उन्हें लोगों की आत्मीयता, सहयोग और सहकार से हस्तिनापुर में सुलग रहे विद्वेष को घेरना था। इसीलिए पूरी घटना सुनने के बाद मैं भीम को लेकर उतना चिंतित नहीं हुआ जितना सुशर्मा की नाराजगी से।

मैंने छंदक से पूछा, “यहाँ से सुशर्मा का शिविर कितनी दूर है?”  
“गंगा मार्ग में ही पड़ता है; पर यह आप क्यों पूछ रहे हैं?” छंदक ने शायद मेरा मंतव्य जान लिया। उसने कहा, “ठिठुरती हुई रात एक घड़ी बीतने को आई। अँधेरा और जमने लगा है। इस समय उसे बुलाना उचित नहीं होगा।”  
“पर मेरा उसके यहाँ चलना अनुचित नहीं होगा।” मैंने कहा, “इसलिए भी अनुचित नहीं होगा कि वह मेरे यहाँ आया था। कुछ कहना चाहता था। कहना शुरू भी किया था कि महाराज विदुर आ गए। वह चुपचाप उठकर बड़े रोष में चला गया।”

फिर छंदक कुछ नहीं बोला। उसी समय मैं उसे लेकर सुशर्मा के शिविर के लिए चल पड़ा।

जाड़े की रात का प्रथम प्रहर था। चंद्रमा अभी निकला नहीं था। आकाश में तारे ठिठुरे पड़े थे। घड़घड़ाता हुआ मेरा रथ जिस शिविर की ओर से निकलता, लोग झाँकने लगते थे।

छंदक मन-ही-मन कुड़बुड़ा रहा था—“यह किसीके यहाँ चलने का उपयुक्त समय नहीं है।”

पर मेरे विचार से इससे उपयुक्त कोई दूसरा समय नहीं हो सकता। मेरा सोचना था कि आकस्मिक उपस्थिति से आतिथेय को अचानक आघात लगता है; फिर तो उसकी मानसिकता पर छा जाना मेरे लिए सरल होगा। फिर उसका सोच कुछ सँभले और खड़ा हो, इसके पहले ही आप अपना वैचारिक आक्रमण उसपर आरंभ कर दीजिए।

अपनी इस नीति के संबंध में मेरा छंदक से कुछ कहना इस समय उचित नहीं था। वह चुपचाप कुड़बुड़ाए जा रहा था। मैं उसे सुनता जा रहा था। रथ चलता रहा। थोड़ी देर बाद उसने तर्जनी से एक शिविर की ओर संकेत किया। मैंने तुरंत ही रथ की गति धीमी कराई और सुशर्मा के शिविर से कुछ दूर पर ही रथ से उतरकर पैदल चल पड़ा।

मैं उसे अपनी उपस्थिति से आघात तो देना ही चाहता था, साथ ही यह भी जानना चाहता था कि शिविर के भीतर



किस प्रकार की बातें चल रही हैं।

मशाल बाहर भी जल रही थी और शिविर के भीतर भी। मैंने द्वारपाल के अभिवादन का मुसकराकर उत्तर दिया और धड़धड़ाता हुआ भीतर घुस गया।

बलंधरा ऊनी आस्तरण के नीचे दबी हुई अपने भाई की फटकार सुनती दिखाई दी। निश्चित ही वह भीम के प्रसंग में उसे डाँट रहा था; पर मुझे देखते ही वह हक्का-बक्का हो गया। उसकी बड़बड़ाहट एकदम रुक गई। उसने मंचक से उठकर मेरी अगवानी की।

“आप इस समय अकेले!” वह बोला।

“मैं कभी अकेला नहीं रहता। इस समय तो छंदक मेरे साथ है।” मैंने कहा। वह समझ गया कि छंदक शिविर के बाहर रह गया है। वह तुरंत शिविर से निकलकर उसे ले आया।

मैंने बातें शुरू कीं—“आज तुम बड़े आवेश में मेरे यहाँ आए। तुम पूरी बात भी न कह पाए कि महाराज विदुर पधारे और तुम उसी आवेश में चले आए। मैंने सोचा कि अवश्य ही कोई आवश्यक बात रही होगी। इसी विषय में कई बार तुम्हारे यहाँ आने को सोचा; पर जब चलने लगता, कोई-न-कोई आ जाता था। अभी छुट्टी मिली है। सोचा, इसी समय चलूँ, विस्तार से बातें होंगी।”

“आपको तो सारी बातें मालूम होंगी।” उसका आक्रोश पुनः उभरा—“छंदक ने कुछ तो बताया ही होगा।”

“हाँ, बताया है।” मैंने कहा, “भीम की उद्दंडता के लिए क्षमायाचना करना भी यहाँ तक आने का मेरा एक उद्देश्य है।”

इसके बाद सुशर्मा ने अपनी बहन की ओर देखा—वह चुपचाप उधर मुँह किए पड़ी रही—जैसे वह कुछ सुन ही न रही हो; पर सोई भी नहीं थी। मेरे आने पर उसका खड़ा न होना सुशर्मा को बुरा भी लगा। इससे उसके क्रोध में वृद्धि हुई।

वह भभका—“अच्छा हो, पांडव अपनी उद्दंडता अपने पास ही रखें। किसीकी मर्यादा से खेलने का उन्हें क्या अधिकार है?”

“कोई अधिकार नहीं है।” मैंने कहा, “उन्हें ही क्या, किसीको भी किसीकी मर्यादा से खेलने का कोई अधिकार नहीं है।” मैंने अनुभव किया कि बलंधरा अब भी अपनी शय्या पर कुनमुना रही है। मैं सुशर्मा का हाथ पकड़कर शिविर के बाहर ले आया; क्योंकि बलंधरा के सामने बातें करना मैंने उचित नहीं समझा।

“गंगातट पर भीम ने ऐसा नाटक किया कि काशिराज की सारी प्रतिष्ठा रेत में मिल गई।” सुशर्मा बोला।

“काशिराज की प्रतिष्ठा ऐसी बालू की भीत नहीं है कि एक धक्के से भरभरा जाएगी।” मैंने कहा, “तुम तो भीम का स्वभाव जानते ही हो। उसकी उद्दंडता से उसके हर भाई परेशान रहते हैं। पर सुशर्मा, तुम तो समझदार व्यक्ति हो। ताली कभी एक हाथ से नहीं बजती।”

“यही तो मैं भी सोचता हूँ। जब अपना ही सिक्का खोटा हो तो परखनेवाले का क्या दोष!”

“पर तुम्हारा सिक्का खोटा नहीं है। उसकी तुलना का तो दूसरा सिक्का नहीं मिलेगा।” मेरा सीधा संकेत बलंधरा की शरीरयष्टि की ओर था। कोमलांगी न होकर भी वह ऐसी आकर्षक युवती थी, जिसके अंग-अंग से काम ऊर्जा फूटती थी। भीम और उसके बीच यदि सहज आकर्षण हो जाए तो आश्चर्य क्या!

मैंने सुशर्मा को पुनः समझाया—“तुम्हें इस विषय को बहुत तूल नहीं देना चाहिए। प्रेम की भावुकता बड़ी विचित्र होती है। भय और लज्जा का अतिक्रमण करना उसके लिए कोई असामान्य बात नहीं है।”

सुशर्मा ने मेरी बात बड़े ध्यान से सुनी और सोचने लगा। फिर बड़े झटके से बोला, “कुछ भी हो, मैं प्रेम के

नाम पर भीम की उद्दंडता नहीं सह सकता।”

“कोई भी नहीं सह सकता।” मैंने कहा, “पर अब बात बढ़ाना अपने पर कीचड़ उछालना होगा। इसलिए, न चाहते हुए भी कभी-कभी क्रोध को पीना भी पड़ता है।”

“अब मैं क्या क्रोध पीऊँ?” सुशर्मा फिर आवेश में आया—“अभी कुछ समय पहले भीम आया था और कह गया है कि जब आपको कुरुक्षेत्र चलना ही है तो हम लोगों के साथ चलिए। जब मैंने कहा कि मैं अकेले ही जाऊँगा, तो वह धमकाने लगा कि यदि आप लोग हमारे साथ नहीं चलिएगा तो आप लोगों की वैसी ही दशा होगी जैसी स्वयंवर के बाद हम लोगों ने कौरवों की की थी।”

“वह यहाँ तक आगे बढ़ गया!” अब मुझे भी भीम के व्यवहार पर क्रोध आया।

सुशर्मा ने यह भी बताया—“उसका कहना था कि आप जाते हैं अकेले तो जाइए, पर बलंधरा मेरे साथ जाएगी।”

“यह कैसे होगा? बलंधरा पर उसका क्या अधिकार है?” मैंने कहा, “भीम के इस कथन को बलंधरा जानती है या नहीं?”

“वह सब जानती है। उसके सामने ही तो वह बड़बड़ाया था और वह मुसकराते हुए सुन रही थी।”

‘लड़कियों का इतना उच्छृंखल हो जाना भी ठीक नहीं।’ मैंने सोचा और कहा, “तब तुमने उसे डाँटा नहीं?”

“आपके आने के पहले वही तो डाँट रहा था। वह चुपचाप सुनती रही।” सुशर्मा बोला, “मेरी इच्छा तो हुई, अब मैं कुरुक्षेत्र ही जाऊँ। मैं अपनी विवशता से बँधा हूँ।”

“विवशता! तुम्हारे सामने कैसी विवशता?” मैंने पूछा।

अब तो बात मुख से निकल चुकी थी। सुशर्मा ने उसे टालना चाहा—“आप मुझे ऐसा व्यक्ति दे सकते हैं, जो बलंधरा को काशी पहुँचा दे?”

“यदि तुम बलंधरा को लेकर इतने चिंतित हो तो तुम्हीं उसे लेकर काशी क्यों नहीं चले जाते? फिर करना यात्रा कुरुक्षेत्र की।” मैंने कहा।

“यही तो अब संभव नहीं है।” वह बोला, “कल के पहले संभव था।”

अब मुझे लगा कि कोई नई बात अवश्य है। मैंने दबाव देना शुरू किया।

तब वह खुला—“जीजाजी (दुर्योधन) का कल एक दूत आया था। उन्होंने मुझे अविलंब बुलाया है।”

मेरा मन तुरंत हस्तिनापुर की स्थिति में उलझ गया। अनेक शंकाएँ उठने लगीं। ऐसा तो नहीं कि दुर्योधन किसी षड्यंत्र की अवतारणा कर रहा हो। पर मैंने उससे यही कहा, “तुम्हें शीघ्र कुरुक्षेत्र के लिए कूच कर देना चाहिए और बलंधरा को साथ ले जाना चाहिए। यदि तुम उसे काशी भेजकर जाओगे तो दुर्योधन का शंकाकुल मन बहुत कुछ अन्यथा सोच सकता है। अपनी बहन को न देखकर भानुमती भी नाराज हो सकती है।”

“नाराज तो जीजाजी भी होंगे।”

“क्यों?”

“क्योंकि जब लक्ष्यवेध के बाद पांडवों और कौरवों में युद्ध हो रहा था, तब मैं एक निरपेक्ष द्रष्टा मात्र था। मैं शुरू से ही यह मन बनाकर आया था कि मुझे उस स्वयंवर से कुछ लेना-देना नहीं है। पांचाल नरेश का निमंत्रण पहुँचा था। सामान्य शिष्टाचार का ध्यान रखकर पिताजी ने मुझे भेज दिया। बलंधरा भी साथ लग गई। इसी मनःस्थिति के कारण मैं उस संघर्ष में किसीके पक्ष में नहीं आया। यह बात जीजाजी को भी अच्छी थोड़े ही लगी होगी।”

“ऐसी स्थिति में तुम यहाँ से तुरंत प्रस्थान करो और ब्राह्म मुहूर्त में यात्रा आरंभ कर दो।” मैंने कहा।

“फिर भीम की धमकी का क्या होगा?” वह बोला।

मुझे हँसी आ गई। एक ओर वह भीम को ललकार भी रहा था और दूसरी ओर उससे डर भी रहा था।

मैंने उसे आश्वस्त किया—“तुम भीम की चिंता मत करो। मैं उसे देख लूँगा। तुम चिंता करो अपने जीजाजी की।”

मेरे इस आश्वासन से उसका तनाव कुछ ढीला पड़ा। अब मैंने पूरी स्थिति समझ ली और चलने को हुआ। अभिवादन के बाद वह बोला, “तो अब भेंट कब होगी?”

मेरे मुख से निकलने ही वाला था कि हस्तिनापुर में तो मिलूँगा ही; पर तुरंत मैंने सोचा कि मैं अपना कार्यक्रम क्यों घोषित करूँ? मैंने कहा, “जब नियति चाहेगी।” फिर मुझे लगा कि यह अवसर अच्छा है, क्यों न उसे एक ऐसा घूँट पिलाऊँ, जिससे उसका मन भविष्य के लिए तैयार रहे—“देखो सुशर्मा, हमारे दुःख का एक कारण यह भी है कि बहुधा नियति हमारे अनुकूल नहीं रहती। हम जो चाहते हैं, नियति उसे नहीं चाहती; पर होता वही है, जो नियति चाहती है। तब हम अपने चाहने को क्यों नहीं नियति को सौंप दें और प्रसन्न रहें। इस समय तुम्हारी सारी समस्या यह है कि बलंधरा और भीम एक-दूसरे के प्रति आकर्षित हैं। इसके लिए न तो तुम्हारी ओर से कोई व्यवस्था की गई थी और न तो तुम चाहते ही हो। बलंधरा तो तुम्हारे साथ लगकर चली आई थी। इसके पहले तो उसका भीम से साक्षात्कार भी नहीं था। यह नियति ही है कि उन दोनों को इतना पास ले आई है; तो नियति की मंशा पर हम अपनी इच्छा क्यों थोपें? जो होता है, हम उसे ऐसा क्यों न समझें कि ऐसा होना था और उसका स्वागत करें!”

इतना सुनते ही वह बड़ा गंभीर हो गया। उसका अभिवादन कर हम शिविर के बाहर-ही-बाहर से चले आए।

रात का प्रथम प्रहर ढुलकने को था। हिमानी हवा तीर-सी लग रही थी। मैंने छंदक से कहा, “आज तो विचित्र हुआ।”

“क्या?”

“इतनी देर तू साथ रहा, पर एक शब्द भी नहीं बोला; तेरा पेट नहीं फटा?”

अपने इस परिहास पर मैं जितना हँसा, उतना छंदक नहीं।

“मैं कभी दो की बातों के बीच व्यर्थ की टाँग नहीं अड़ाता।” छंदक बोला, “फिर आप उसे एकांत में ले जाकर बातें कर रहे थे। मैं वहाँ बिना बुलाए क्यों जाता? फिर यह प्रेम और हृदय का मामला था। मेरा विषय था भी नहीं।” छंदक ने मेरे परिहास का बड़ा गंभीर उत्तर दिया। मैं भी हँसने लगा।

मेरा रथ बढ़ता गया। अब मुझे प्रासाद दिखाई देने लगा था। अँधेरी रात में साँए की तरह खड़े राजमहल के शिविर के निकट जगमगाता एक नक्षत्र मुकुट की कलगी में लगे हीरे की तरह लटकता मोहक लगा।

मैंने छंदक से कहा, “तुम एक काम कर सकते हो?”

उसकी प्रश्नवाचक मुद्रा मेरी ओर मुड़ी।

“इसी समय भीम को बुला लाते तो ठीक होता।” मैंने कहा, “कहीं उसकी उद्दंडता रात में कुछ और न कर बैठे।”

भीम की प्रकृति को छंदक अच्छी तरह जानता था। वह तुरंत रथ से उतर गया।

मैं अपने शिविर में पहुँचा तो द्वारपाल ने सूचना दी कि भैया आए थे।

लगता है, वे द्वारका नहीं गए। मैंने द्वारपाल से पूछा, “कुछ कह रहे थे?”

“कल प्रातः आने को कहा है।”

मेरे चिंतन के लिए एक बिंदु और मिला। मैं आस्तरण ओढ़कर शय्या पर दुलक गया। रात प्रथम प्रहर पार करने की ओर बढ़ी। तब तक रथ की घड़घड़ाहट सुनाई दी। शिविर के बाहर खड़े सुरक्षा सैनिक सजग हुए; क्योंकि सामान्यतः इस समय तक मैं सो जाता था। यह किसीके मिलने की वेला नहीं थी। पर मैं तो समझ रहा था कि कौन आया है।

छंदक और भीम भीतर आए। भीम मुझसे वय में बड़ा था, इसलिए मैं उसके आने पर खड़ा हो जाता था। यह मात्र औपचारिकता थी, जो मेरी मानसिकता पर अधिक निर्भर थी। इस समय मैंने बैठे-बैठे ही उसके अभिवादन का उत्तर दिया। अचानक बुलाए जाने से वह मुझे आतंकित भी दिखा। इसके पहले वह कई बार छंदक से इसके बारे में पूछ भी चुका था। उसे आशंका थी कि गंगा किनारे वाली घटना का समाचार इसने कन्हैया तक पहुँचा तो नहीं दिया।

आते ही डरी-डरी और शंकित दृष्टि से पूछा, “क्या आदेश है?”

मैंने सीधे-सीधे कहा, “सुशर्मा के शिविर में मत जाना और न बलंधरा की ओर देखने की चेष्टा करना।”

भीम ने छंदक की ओर तरेरा। उसे विश्वास हो गया कि इसने कन्हैया को सबकुछ बता दिया है। पहले तो वह चुप ही रहा, फिर सफाई देते हुए बोला, “प्रातः की घटना में...”

“घटना में नहीं, नाटक में कहिए।” मैंने बीच में टोका।

“नाटक ही समझिए; पर मैं अकेला नहीं था।” भीम बड़े दबे स्वर में बोला, “पूरी योजना बनाने में मुझसे अधिक बलंधरा का हाथ था।”

“किसका हाथ था और किसका नहीं, मैं यह जानना नहीं चाहता और न मेरे पास आपके प्रेम-प्रपंच में पड़ने का समय है।” मेरी आवाज गंभीर से गंभीरतर होती गई। अब मैं ‘आप’ से ‘तुम’ पर उतर आया था—“तुमने सुशर्मा से कहा है कि तुम्हें मेरे साथ ही चलना होगा?”

भीम मौन हो गया।

“और यदि वह न चले तो तुम क्या करोगे—सुशर्मा को मारकर बलंधरा का अपहरण?” मैंने कहा, “तुम्हारी मूर्खता यह कर भी सकती है; क्योंकि तुम्हारे पास बुद्धि तो है नहीं—और न तुम अवसर और राजनीति की गंभीरता को समझ सकते हो।”

वह अब भी चुप था। दबी जबान से बोला, “आप शायद यह नहीं जानते कि सुशर्मा भी कुरुक्षेत्र जाने वाला है।”

“मुझे मालूम है।” मैंने उसी आवेश में कहा, “और कदाचित् तुम्हें यह नहीं मालूम है कि यह उसकी इच्छा भी है और ऊपर का आदेश भी।”

“ऊपर का आदेश!” वह अचरज में पड़ा—“किसका आदेश?”

“यह जानकर तुम क्या करोगे?” मैंने कहा, “यही समझो कि तुम जिस शिखर पर पहुँचा हुआ समझते हो, वह अभी तुमसे बहुत दूर है। तुम्हें जिस सँकरी पगडंडी से गुजरना है, उसके दोनों ओर पाताल से लगी हुई खाइयाँ हैं। जरा सा फिसले कि गए। और, तुम्हारी ऐसी ही मनःस्थिति रही तो झंझा क्या, हवा का एक हलका सा झोंका भी तुम्हें गिरा सकता है।”

अब वह मुझे बड़े गौर से देखता रहा। फिर थोड़ा सँभलते हुए बोला, “मैंने तो साथ चलने की बात केवल इसलिए कही थी कि उन्हें कुरुक्षेत्र जाना था।”

“यदि केवल इसीलिए कही होती तो उसे धमकाने की आवश्यकता न होती।” मैंने कहा, “तुम धमकाकर एक

स्वयंवर और रचाना चाहते हो क्या?”

अब वह एकदम चुप था। उसके सारे तर्क अब मेरे घेरे में आ गए थे।

मैं बोलता रहा—“अब सोचो, वह क्यों तुम्हारे साथ जाएगा? तुम्हारे जन्मजात शत्रु से उसकी बड़ी बहन ब्याही है। दुर्योधन उसका जीजा है। यह तो कहो कि तुम्हारे और दुर्योधन के युद्ध में वह तटस्थ द्रष्टा रह गया—और अब तुम्हारे साथ चलकर अपने जीजा की ही शत्रुता मोल ले? आखिर किसलिए?”

“इस ओर तो मेरा ध्यान ही नहीं था।” भीम ने अपना सिर खुजलाते हुए अपनी भूल स्वीकार की।

भीम के चरित्र की यह विशेषता थी कि वास्तविकता का आभास होते ही वह एकदम ठंडा हो जाता था।

वह क्षमा के स्वर में बोला, “वस्तुतः मैं बलंधरा के मोह के अंधकार में भटक गया था।”

“तुम्हारी वासना अँधेरे में ही नहीं, प्रकाश में भी तुम्हें भटका देती है।” मैंने सावधान करते हुए कहा, “वस्तुस्थिति ऐसी है कि अँधेरे से ही नहीं, प्रकाश से भी तुम्हें सावधान रहना होगा।”



## चार

पुष्य नक्षत्र, रविवार। अमृत सिद्ध मुहूर्त और सूर्योदय का समय।

यह मुहूर्त धौम्य का बताया हुआ था। उन्होंने अपने पत्र में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया था कि यह मुहूर्त द्रौपदी के जन्म-लग्न पर विचार कर बनाया जा रहा है, पांडवों पर विचार कर नहीं। इसके उन्होंने कई कारण भी बताए थे। पहली बात यह थी कि द्रौपदी अपने घर से पराए घर जा रही थी—उसे अपना घर बनाने और पांडव अपने ही घर लौट रहे थे। अपने घर लौटने के लिए किसी मुहूर्त की आवश्यकता नहीं। दूसरा कारण यह था कि पांडव पाँच थे। किसके जन्म-लग्न से मुहूर्त निकाला जाए। तीसरे, एक और बात थी। महर्षि धौम्य के विचार भी व्यासजी से मिलते थे। उनका भी कहना था कि पांडवों के ग्रह इधर शुभ नहीं चल रहे हैं। इसलिए उनके जन्म-लग्न से कोई शुभ मुहूर्त निकालना ठीक नहीं होगा।

इस दृष्टि से महर्षि धौम्य ने यात्रा की दिशा और पारंपरिक ढंग में भी कुछ परिवर्तन किया था।

जैसाकि आप जानते हैं, यात्रा की सारी व्यवस्था भीम को सौंपी गई थी। उसने अपनी बुद्धि के अनुसार व्यवस्था भी ठीक की थी। सबसे आगे हाथियों की पंक्ति थी, इसके बाद पैदल सैनिकों से घिरा गायों का समूह था। इनका सबसे आगे रहना शुभ भी था और परंपरा के अनुसार भी। फिर घोड़ों का क्रम था, जिसकी देखभाल नकुल को सहेजी गई थी। इसके बाद अर्जुन के संरक्षण में अतिरथी थे, फिर द्रौपदी के साथ शेष पांडवों, कुंती बुआ, विदुर आदि का स्थान था। मैं, भैया बलराम और अन्य सामान्यजन इन्हीं लोगों के साथ थे।

पर महर्षि धौम्य ने भीम की इस व्यवस्था में गंभीर उलट-फेर कर दी। उनका निर्देश था कि पारिवारिक जनों के आगे द्रौपदी का रथ रखा जाए। पांडव उसके पीछे चलेंगे। पांडव इस परिवर्तन को बिल्कुल स्वीकार करनेवाले नहीं थे। महाराज द्रुपद को भी यह क्रम बड़ा विचित्र लगा।

स्वयं द्रौपदी का संकोच भी इसे मानने की स्थिति में नहीं था—“मार्ग में लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे कि वधू आगे-आगे और वर पीछे-पीछे! और यही नहीं, शेष सारे सामान्य लोग भी पीछे चल रहे हैं।”

अपनी व्यवस्था में परिवर्तन से भीम सबसे अधिक आक्रोश में था। उसकी उद्दंडता तो चिल्ला-चिल्लाकर कह रही थी—“इन ऊटपटाँग ग्रह-नक्षत्रों से मुझे कुछ लेना-देना है क्या! हम अपना भविष्य अपनी गदा से निश्चित करते हैं।”

मैंने भीम को शांत तो किया, पर मुझे भी यह बात अच्छी नहीं लगी। मैंने भी अनुभव किया कि इस प्रकार तो हम पूरे मार्ग में उपहास के पात्र बन जाएँगे। महाराज विदुर का सोच था कि द्रौपदी को आगे-आगे आता देखकर कर्ण और दुर्योधन जलकर राख हो जाएँगे। उन्हें कभी विश्वास नहीं होगा कि यह व्यवस्था ग्रह-नक्षत्रों के अनुसार की गई है। वे तो सीधे-सीधे सोचेंगे कि हमें चिढ़ाने के लिए ऐसा किया गया है।

पर महर्षि धौम्य के आदेशों का उल्लंघन बिना सोचे-समझे करना मैंने भी उचित नहीं समझा। तुरंत द्रुपद से मिला और इस संबंध में वार्ता आरंभ की।

उन्होंने अपनी लाचारी व्यक्त की और महर्षि का पत्र दिखाते हुए बोले, “मैं परंपरा तोड़ने के पक्ष में नहीं हूँ; पर क्या करूँ? अब सोचता हूँ, महर्षि से मुहूर्त पूछना ही गलत हुआ। अब यदि उसे न माना और कुछ शुभ-अशुभ हो गया या अनचाहा घट गया तो जीवन भर के लिए कहने को हो जाएगा।”

“उन्होंने कोई विशेष कारण तो नहीं लिखा है इस क्रम में परिवर्तन का?” मैंने पूछा।

इसके बाद उन्होंने उस अमात्य को बुलाया, जो उत्कोचक तीर्थ महर्षि से मुहूर्त निकलवाने गया था।

उसने बताया—“मैंने इस ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया था। तब वे बड़ी गंभीरता से मुसकराते हुए बोले, ‘इस समय मैं अपनी नहीं, ग्रह-नक्षत्रों की भाषा बोल रहा हूँ। इसलिए इसमें परिवर्तन करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है।’ इतना कहने के बाद महर्षि ने अपनी आँखें बंद कर ली थीं। फिर अचानक जैसे भभक पड़े —‘कृष्णा आग है, आग। याज्ञसेनी है। आग यात्रा में पीछे रखी नहीं जाती। यज्ञ में भी अग्रणी होती है और जीवन में भी। इसीलिए उसे ‘अग्नि’ कहते हैं।’

“इसके बाद महर्षि फिर मौन हो गए।” अमात्य ने बताया—“शायद वे और गंभीर चिंतन में डूब गए। थोड़ी देर बाद बोले, ‘देखना, पांचाली अब पांडवों के जीवन में आगे ही रहेगी। अब शुभ-अशुभ सब उसीके माध्यम से पांडवों तक पहुँचेंगे।’ ”

फिर मैंने अमात्य से कुछ पूछा नहीं।

यों ही मेरे मन में हस्तिनापुर के बारे में शंकाओं के मेघ उमड़ रहे थे। धौम्य की इस भविष्यवाणी से वे और घने हो गए। मैंने महर्षि के निर्देशों का विरोध कर खतरा मोल लेना उचित नहीं समझा। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि संसार की दृष्टि में भगवान् समझा जानेवाला मैं सचमुच कितना दुर्बल हूँ। ग्रह-नक्षत्रों के नाम पर एक अंधविश्वास का भी विरोध करने का साहस मैं जुटा नहीं पाया।

लोगों को विश्वास था, मैं इसका विरोध करूँगा; पर मुझे भी चुप रहता देखकर सब मौन हो गए। महाराज द्रुपद सबसे ज्यादा चिंतित थे। उन्होंने विदुर से भी मंत्रणा की। सब इसको उचित न मानते हुए भी महर्षि की अवहेलना की स्थिति में नहीं थे।

महाराज द्रुपद ने अपने कक्ष में बुलाकर धीरे से कहा, “उचित तो नहीं है, पर एक प्रार्थना करना चाहता हूँ आपसे।”

“प्रार्थना नहीं, आदेश दीजिए, महाराज।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“मेरा निवेदन है कि द्रौपदी के रथ पर आप भी विराजमान रहें।” महाराज बोले, “संसार यह तो नहीं समझेगा कि कृष्णा के रथ पर कृष्ण विराजमान हैं वरन् यह समझेगा कि कृष्ण ने अपने रथ पर नवल वधू कृष्णा को बैठा लिया है। आपके आगे रहने से जनता की दृष्टि में कुछ भी अनहोनी नहीं लगेगा। भगवान् को तो आगे होना ही चाहिए।”

एक बार फिर मेरा भगवान् सबसे आगे हो गया। मैंने महाराज का आदेश स्वीकार कर लिया; पर मन-ही-मन हँस रहा था। हम सब एक ओर भविष्यवाणी की और दूसरी ओर जग-परिहास की चक्की के बीच में हैं।

दूसरी ओर भीम स्वयं द्रौपदी के रथ पर बैठना चाहता था। उसका तर्क था कि कन्हैया के आगे-आगे चलने से सारे मार्ग में उनके दर्शनार्थियों की भीड़ उमड़ती चलेगी। इससे हमारी यात्रा बहुत कठिन और समयसाध्य हो जाएगी। उसका विचार था कि कृष्ण को कहीं बीच में या पीछे चलना चाहिए और इसका प्रचार भी होना चाहिए कि वे हम लोगों के साथ हैं।

पर युधिष्ठिर ने उसे डाँटकर ठंडा कर दिया। धर्मराज इस समय यों भी उससे कुछ नाराज थे। उसने बहाने बना-बनाकर द्रुपद की आधी सेना ही ले ली थी। यह उन्हें उचित नहीं लगा था। उन्होंने उससे स्पष्ट कहा था—“मैंने तुम्हें प्रयाण की व्यवस्था सौंपी थी, महाराज से भीख माँगने का कार्य नहीं सौंपा था।”

वह खिसियाकर रह गया।

हुआ वही, जो लोगों को स्वीकार था। अतिरथों के आगे-आगे जहाँ अर्जुन का रथ था, मेरा रथ उससे भी आगे

रखा गया था। उसपर द्रौपदी बैठाई गई। पर मैंने अपने रथ को थोड़ा पीछे कर अर्जुन के साथ ही चलना उचित समझा। सोचा, मार्ग में बातें होती रहेंगी।

अर्जुन का रथ इतना निकट था कि वह दूर से दो चालकोंवाला एक रथ दिखाई दे रहा था। इसपर महाराज विदुर की अद्भुत प्रतिक्रिया थी—“कितना विचित्र है—ब्रह्म और जीव के साथ माया भी लगी है!”

सभी मन-ही-मन मुसकराकर रह गए।

उस दिन प्रातःकाल बालसूर्य को प्रणाम कर हमारा काफिला कांपिल्य से चल पड़ा। बहुत सारे पुरवासी हमें बिदाई देने नगर की बाहरी सीमा तक आए। बाल, वृद्ध, युवा—सभी थे। बहुत सारी स्त्रियाँ तो द्रौपदी का रथ घेरकर चल रही थीं। मुझे बड़ा विचित्र लग रहा था। मैंने सोचा, कुछ समय के लिए मैं अर्जुन के रथ पर चला जाऊँ; पर पता नहीं क्या समझकर द्रौपदी ने रोक लिया—और मैं चुपचाप सिर नीचा किए बैठा रहा।

ऐसा प्रेमाद्र और कारुणिक दृश्य कम देखने को मिलता है। हर हृदय में हाहाकार, हर आँख में टपकते बिछोह के बादल और हर अधर में सिसकियाँ। कांपिल्य का हर व्यक्ति अपनी बेटी की बिदाई में शोकमग्न दिखा। मनुष्य तो मनुष्य, पशु-पक्षी भी विह्वल और भग्न मालूम पड़े।

पांचाली ने एक सारिका पाल रखी थी। उसकी एक दासी सारिका के स्वर्ण पिंजड़े को लिये मेरे साथ ही दौड़ रही थी। सारिका लगातार बोलती जा रही थी। ऐसा लग रहा था जैसे वह कह रही हो, ‘इधर कहाँ? इधर कहाँ? इधर कहाँ?’

इसी समय पीछे कुछ कोलाहल हुआ। मैंने मुड़कर देखा, द्रुपद अपने रथ से उतरकर दौड़ते हुए चले आ रहे हैं। मैं भी रथ से उतर गया। काफिला एकदम थम गया। उन्होंने आकर मुझे अपनी छाती से लगा लिया और बिलखते हुए बोले, “मैंने इसे बड़े प्यार से पाला है, द्वारकाधीश! इसकी हर इच्छा पूरी की है। अब इसे मैं तुम्हें सौंपता हूँ। इसकी देखभाल तुम्हीं करना—अपनी बहन की तरह। कभी भी अपने वरदहस्त को इसके मस्तक पर से हटाना मत, अन्यथा पांडवों का भयाक्रांत भविष्य इसे भी त्रसित करेगा।”

द्रुपद महर्षि धौम्य की भविष्यवाणी से भी परिचित थे ही। लगता है, उन्हें पांडवों के प्रति व्यक्त कथन भी याद हो आया था। यह व्यग्रता शायद उसीका परिणाम थी।

“आप घबराएँ नहीं। ईश्वर जो कुछ करेगा, सब ठीक ही करेगा। हमारे-आपके किए कुछ होनेवाला नहीं है। पर आप यह अवश्य समझिए कि आपकी यह बेटी हर परिस्थिति में अग्निशिखा की तरह धधकती रहेगी। मेरी छत्रच्छाया तो उसपर है ही।”

इस प्रकार जब मैंने उन्हें खूब समझाया, तब वे शांत हुए। इस बीच वह सारिका बराबर बोलती रही।

मैंने मुसकराते हुए कहा, “आपने मुझे तो कुछ नहीं दिया।”

सचमुच उन्होंने बिदाई में भी कुछ नहीं दिया था। यह अनजाने में हो जानेवाली भूल थी। वे एकदम लज्जित हो गए। उनकी नम आँखों में संकोच की ललाई उतरने लगी—“मैं भला आपको क्या दे सकता हूँ! आपका ही तो सबकुछ है।”

“यह तो आपकी महत्ता है कि आप मेरा ही सबकुछ समझते हैं।” मैंने कहा, “फिर भी अपनी यह सारिका आप मुझे दे दीजिए। आप तो यह जान ही गए होंगे कि मैं इसे किसके लिए माँग रहा हूँ!”

सारिका का वह स्वर्ण पिंजड़ा भी मेरे रथ पर आ गया। द्रौपदी सबसे अधिक खुश हुई।

कांपिल्य ने मुझे उतने ही कष्ट से छोड़ा जितने कष्ट से शरीर प्राण छोड़ता है। हम आगे बढ़ते रहे, पर हमारी दृष्टि बराबर कांपिल्य पर रही और कांपिल्यवासियों की निगाहें तब तक हमपर लगी रहीं जब तक हम उनकी दृष्टि



से ओझल नहीं हो गए।

□

यात्रा बड़ी आनंदमय, उत्साहवर्धक और मनोरंजक थी। मार्ग में जिधर से हम निकलते, उधर पहले से ही एक आतंक-सा छा जाता था। लोग समझते थे कि कोई सेना आक्रमण पर निकली है। पर जब उन्हें वास्तविकता का पता चलता, वे प्रसन्न हो उठते। आतंक आह्लाद में बदल जाता। लोग मेरे दर्शन के लिए उमड़ पड़ते। भीम का सोचना अब सही लगा। यात्रा तो सुखद थी, पर समयसाध्य हो गई थी। हर ग्राम में लोग हमें रोकना चाहते थे। सामर्थ्य के अनुसार उपहार भी लाते थे; जिसमें दही, छाछ और नवनीत अवश्य होता था।

अर्जुन को अपने साथ ले लेने में बहुत सारी समस्याएँ यों ही हल हो गई थीं। लोग अर्जुन और द्रौपदी को ही वर-वधू समझ लेते थे। पाँच पतियोंवाले संदर्भ की उनको जानकारी नहीं थी और न मैं उन्हें इस सत्य से अवगत ही कराना चाहता था। पर भीम को यह अच्छा नहीं लग रहा था। जब मार्ग के ग्रामवासी वर-वधू के लिए उपहार लाते थे। तब उसका मुख देखते बनता था; पर कुंती बुआ सामान्यजन की सहज पहचान पर प्रसन्न थीं। एक बार तो उन्होंने यहाँ तक कह दिया—“अच्छा हुआ, जो इन ग्रामवासियों के भोलेपन को मेरी भूल की गंध तक नहीं लगी।”

“आपके पुत्र तो उसकी सुगंध से मन-ही-मन पुलकित हैं।” मेरे इतना कहने पर सभी के अधरों पर सलज्ज मुसकराहट दौड़ गई। द्रौपदी की दृष्टि भी कुछ तिरछी हुई और वह ओठ काटकर रह गई।

एक बात और हुई। मैंने मार्ग बदल दिया। पहले गंगा के किनारे-किनारे उत्तरी पांचाल से होते हुए मुझे हस्तिनापुर पहुँचना था और यही हमारी यात्रा का मार्ग प्रस्तावित और प्रचारित भी था। किंतु विदुर महाराज से मंत्रणा कर बिना किसीसे कुछ कहे मैंने रास्ता बदल दिया; क्योंकि यह मार्ग मुझे निरापद नहीं लग रहा था। एक तो उत्तरी पांचाल आचार्य द्रोण के प्रभुत्व में था; चोट खाए नाग की तरह प्रतिशोध की भावना कब फुफकार उठे, कुछ कहना कठिन। यद्यपि ऐसी कोई संभावना थी नहीं। अपने शिष्यों की विजय मात्र से वे प्रसन्न ही होते, पर कूटनीति के लिए यह प्रसन्नता बहुत विश्वस्त नहीं थी। अतएव हम लोग उत्तरी पांचाल की सीमा छोड़ते हुए यमुना के किनारे-किनारे आगे बढ़ रहे थे। अब मेरा मार्ग मथुरा, अग्रवाण, खांडवप्रस्थ के जंगलों से होते हुए हस्तिनापुर पहुँचने का था।

मार्ग लंबा अवश्य था, पर था हर दृष्टि से सुरक्षित—बिल्कुल जाना-बूझा और मित्र राज्यों से होता हुआ। इस मार्ग में एक विचित्र घटना घटी।

बात अग्रवाण के पहले पड़नेवाले विशाल आरण्यक प्रदेश की है। यहीं यमुना किनारे रम्य रेती पर हमने अपना पड़ाव डाला। यहाँ के अधनंगे आदिवासियों की सहज जीवन शैली हमें बड़ी अच्छी लगी। उनकी भोलीभाली आकृति पर सदा खेलती मुसकराहट में विषम-से-विषम परिस्थिति को बड़े स्वाभाविक भाव से झेल लेने की सामर्थ्य दिखाई पड़ी। पर इस ग्राम के प्रमुख से ज्ञात हुआ कि यह ग्राम आदिवासियों का नहीं है। यहाँ के आदिवासी उत्तरी पांचाल के हैं। वर्षों पहले ये वहाँ से यहाँ चले आए हैं।

“अपना घर-द्वार छोड़कर! लगता है, ये यहाँ से भगाए गए होंगे।” मैंने कहा।

“भगाए तो नहीं गए।” ग्राम प्रमुख ने इतना कहने के बाद बड़ी गंभीरता से अर्जुन की ओर देखा, फिर पता नहीं क्या समझकर चुप रह गया।

“तब क्या हुआ?”

ग्राम प्रमुख ने फिर अर्जुन की ओर देखा और कुछ सहमते हुए बोला, “जब से उत्तरी पांचाल महाराज द्रुपद के प्रभुत्व से अलग हुआ तब से ये आदिवासी यहाँ आ गए।”

“तो क्या आचार्य द्रोण ने अपने राज्य से इन्हें भगा दिया?” अब यह प्रश्न अर्जुन का था।

“नहीं, उन्होंने भगाया नहीं। वे तो बहुत चाहते थे कि ये उनकी राज्य सीमा न छोड़ें, पर ये नहीं माने; बल्कि बिना किसी प्रतिरोध और प्रतिवाद के बड़ी गरिमा के साथ ये धीरे-धीरे वह प्रदेश छोड़कर चले आए।” उसने बताया—“ये आदिवासी होते हैं बड़े स्वाभिमानी।”

“तो इनके स्वाभिमान को कहीं-न-कहीं धक्का अवश्य लगा होगा।” मैंने कहा।

“जरूर लगा होगा।” ग्राम प्रमुख ने इतना कहते हुए अर्जुन की ओर फिर देखा और चला गया।

उसकी दृष्टि की माया इतनी प्रबल थी कि मुझे अर्जुन से पूछना पड़ा—“क्या बात है?”

“मेरी समझ में कुछ नहीं आया।” अर्जुन बोला।

उस समय तो बात खत्म हो गई। संध्या को उन आदिवासियों ने अपने खेड़े में स्वागतार्थ बुलाया। बड़ा भव्य आयोजन था। उन लोगों ने धान और ईख से बनाई गई एक विशेष प्रकार की मैरेय की भी व्यवस्था की थी। भैया को तो वह बड़ी रुचिकर लगी। वे पीकर एकदम मस्त हो गए।

फिर हम लोगों को एक खुले मैदान में बाँसों एवं लकड़ियों के बने और जंगली फूलों से सजे मंचक पर बैठाया गया। इसके बाद मेरे, अर्जुन और द्रौपदी के लिए ताजा वनफूलों से बने बड़े सुंदर मुकुट लाए गए। मेरी रुचि का ध्यान रखकर मेरे मुकुट में उन्होंने मोर पंख भी लगा रखा था।

अब मैंने ध्यान दिया कि उनमें से बहुतों के दाहिने हाथ के अँगूठे कटे थे या अपने अँगूठों को मोड़कर उन लोगों ने कपड़े से बाँध रखा था।

मैंने उसके विषय में पूछा, “यह क्या है?”

सब एक-दूसरे की ओर देखकर मुसकराने लगे। शिशु की तरह निर्दोष उनकी मुसकराहट कुछ कहना चाहकर भी मौन रह जा रही थी।

बार-बार दबाव देने पर उनके मुखिया ने बड़े संकोच के साथ बताया—“ये सभी भील हैं। जब से आचार्य द्रोण ने इनके सरदार एकलव्य से गुरुदक्षिणा में उनके दाहिने हाथ का अँगूठा कटवा लिया है तब से ये लोग भी अपने सरदार के सम्मान में दाहिने हाथ के अँगूठे का उपयोग नहीं करते। कुछ ने तो उसे काट ही दिया है और कुछ उसपर कपड़े बाँधे रहते हैं।”

अब मैंने समझा कि ये अर्जुन को इतनी शंकित और विचित्र दृष्टि से क्यों देख रहे हैं। स्पष्ट लगा कि आचार्य द्रोण के साथ-साथ अर्जुन के प्रति भी इनके मन में वितृष्णा है।

सोचता हूँ, स्वभाव से इतने सहज, छल-प्रपंच से दूर, उन्मुक्त प्रकृति के साहचर्य में रहकर भी इन भोलेभाले भीलों में अपने सरदार के प्रति ऐसी भक्ति कहाँ से आई कि उनके प्रति गुरु द्वारा किए गए अन्याय को भी उन्होंने जातीय स्तर पर अपने सीने से लगाए रखा है।

हम लोगों को मुकुट और अन्य लोगों को हार पहनाकर इन लोगों ने अपना नृत्य आरंभ किया। मैंने देखा, इनका लोकनृत्य पारंपरिक छंद-ताल और मुद्राओं से युक्त है; पर इनकी कोई गुरु परंपरा नहीं है। ये प्रकृतिप्रसूत हैं और प्रकृति की परिवर्तित मुद्राओं के साथ इनकी भंगिमा बदलती है। जब बरसाती मेघ छाते हैं तब इनकी भंगिमाएँ दूसरी होती हैं। वसंत की मादकता जब इन्हें अपने अंक में लपेटती है तब इनपर रति और कामदेव के शृंगार की छाया पड़ जाती है।...और इस समय धधकते अलाव के चारों ओर मैरेय के प्रभाव से झूमते हुए इनके नृत्य ने एक और अविस्मरणीय आनंद की सृष्टि कर दी थी। उनके लय और ताल पर मैं भी वंशी बजाने लगा था। फिर क्या था, नगाड़े और वंशी की धुन पर पूरा वन झूमने लगा। सोते हुए पशु-पक्षी भी नाचने लगे।

इस उल्लासमय वातावरण में रात बचपन की तरह जाने कब खिसक गई। समय का आभास तब हुआ जब निकट के ग्राम के शिव मंदिर में ब्राह्म मुहूर्त की आरती होने लगी। नाचते-नाचते वे भील अलाव के चारों ओर ही ढुलकने लगे। हमारे नित्यकर्म से निवृत्त होने का कार्य आरंभ हुआ।

सवेरे जब हमने पुनः यात्रा आरंभ की, वे आदिवासी पुनः हमारे मार्ग में आकर खड़े हो गए। एक दिन और विश्राम करने का आग्रह करने लगे। हमने उन्हें अपनी स्थिति बताई और समझाया कि अब एक क्षण भी हमारा यहाँ रुकना उचित न होगा। फिर भी उन्होंने पुनः आने का आश्वासन लेकर ही हमारा दम छोड़ा।

चलते-चलते विदुर महाराज ने मुझे अपने रथ पर बुला लिया। उन्होंने बड़ी व्यग्रता से पूछा, “सब तो साथ हैं, पर छंदक कहीं दिखाई नहीं देता है?”

“कांपिल्य से प्रस्थान से दो दिन पूर्व मैंने चुपचाप छंदक को हस्तिनापुर भेज दिया था।” मैंने कहा।

“क्यों?”

“मुझे सूचना मिली कि सुशर्मा को अविलंब दुर्योधन ने बुलाया है।” मैंने कहा, “मुझे लगा कि कुछ-न-कुछ पांडवों के विरुद्ध वहाँ अवश्य सुलग रहा है, जिसकी जानकारी हमें होनी चाहिए।”

विदुरजी एकदम गंभीर हो गए—“दुर्योधन की महत्वाकांक्षा कुछ भी कर सकती है।” वे बोले, “ऐसी स्थिति में हमें अविलंब हस्तिनापुर पहुँचना चाहिए।”

इस समय सुशर्मा और भीम का पूरा प्रकरण भी मैंने उन्हें सुनाया।

पर उनका चिंतन हस्तिनापुर से ही चिपका रहा। सबकुछ सुन लेने के बाद वे बड़ी पीड़ा से बोले, “क्या कहूँ! दुर्योधन की महत्वाकांक्षा द्वेष पीती और विष उगलती रहती है—और कर्ण उस आग में घी छोड़ता रहता है।”

बिना पड़ाव दिए हम बराबर चलते रहे; क्योंकि हमारा अगला गंतव्य अग्रवाण था। वहीं एक दिन विश्राम करके हम पिछली सारी थकान मिटा सकेंगे। मैंने अपनी योजना बताते हुए विदुरजी से कहा, “हो सकता है, हमें एक दिन से अधिक विश्राम करना पड़े।”

“क्यों?” उन्होंने शंका की।

“क्योंकि हमने वहीं छंदक को बुलाया है। उसे योजना के अनुसार कल उपस्थित होना चाहिए। यह भी हो सकता है कि उसे देर हो जाए। बिना उससे पूरी जानकारी लिये हस्तिनापुर में प्रवेश करना उचित नहीं होगा।”

विदुरजी भी मेरे पक्ष में थे।

संध्या डूब चुकी थी। अँधेरा होने पर लगभग घड़ी भर रात गए हम अग्रवाण पहुँचे; पर नगर द्वार अभी बंद नहीं हुए थे। अप्रत्याशित रूप से इतनी बड़ी सेना का नगर में प्रवेश करना और वह भी इस समय, प्रहरियों ने बड़े शंकित रूप से देखा। नगर प्रतिहारियों ने तुरंत इस स्थिति की सूचना सुरक्षा विभाग को दी। नगर में हलचल मच गई। लोगों ने सोचा कि अचानक कोई आक्रमण हो गया है।

चारुदेष्णा भी घबरा गया। मैंने कोई सूचना तो उसे भेजी नहीं थी। उसकी पहली प्रतिक्रिया हस्तिनापुर के ही संबंध में थी। उसने सोचा, ‘मैंने चेकितान को शरण तो दी ही थी। फिर कांपिल्य में स्वयंवर के समय हुए युद्ध में भी मैंने कौरवों का साथ नहीं दिया। दुर्योधन की अप्रसन्नता के लिए तो इतना ही काफी है।’

उसने तुरंत अपने पुत्र जयद को सेना लेकर नगर के पूर्वी द्वार पर आगंतुक सेना को रोकने के लिए आदेश दिया—“यदि हस्तिनापुर की सेना हो तो युद्ध मत करना। संधि का निवेदन करना और मुझे सूचित करना।”

“चेकितान यदि किसी कार्यवश आया हो तो?” जयद ने शंका की।

“तो उसे नगर में प्रवेश मत करने देना।” चारुदेष्णा बोला, “और साफ कहना कि आप पर कृपा कर हमने भर

पाया, अब आप हमपर कृपा कीजिए।”

स्थिति की गंभीरता को मैं समझ नहीं पाया था। जब जयद अपनी सेनाएँ लेकर आया, तब वह एकदम आक्रामक मुद्रा में था। स्थिति को नियंत्रण से बाहर होते देखकर मैं तुरंत आगे आया।

“तुम युद्ध करने तो नहीं आए हो, जयद?” मेरा इतना कहना था कि दृश्य एकदम बदल गया।

जयद ने आगे बढ़कर मेरे पैर छुए और बोला, “आपने पधारने की कोई पूर्व सूचना नहीं दी!”

“सोचा था, अचानक चलकर तुम लोगों को चमत्कृत कर दूँगा।” मैंने कहा।

“सचमुच हम चमत्कृत थे।” जयद बोला, “कुछ गंभीर आशंकाएँ उभरने लगी थीं।”

मैं तुरंत समझ गया, पर कुछ बोला नहीं। रथ को छोड़कर हम लोग पैदल ही आगे बढ़े।

“पिताजी कहाँ हैं?” मैंने पूछा।

“वे संधि-प्रस्ताव बना रहे हैं।” उसने हँसते हुए कहा।

“संधि-प्रस्ताव! किसलिए?” मैंने पूछा।

“उन्हें आशंका हुई है कि दुर्योधन की सेना आ रही है।” जयद ने बताया—“इसीलिए उन्होंने मुझे भेजा और कहा, ‘सेनाधिपति को समझाओ-बुझाओ और कहो कि हम आपसे किसी प्रकार का विरोध नहीं चाहते।’”

“यह नहीं कहा कि अब मैं चेकितान को शरण देने की भूल नहीं करूँगा!” मैं हँसने लगा। उसके अधरों पर भी लज्जा भरी मुसकराहट सिमटकर रह गई।

हवा में लहराती तलवारें म्यान में चली गईं। दोनों ओर के सैनिकों ने राहत की साँस ली। सैनिक शिविरों की ओर भेज दिए गए। जयद हम लोगों को लेकर अतिथिकक्ष की ओर पहुँचा।

थोड़ी देर बाद चारुदेष्णा आया। आते ही मैंने व्यंग्य किया—“संधिपत्र लाए हो?”

उसपर हजारों घड़े पानी पड़ गया। वह खीज भरी हँसी हँसकर रह गया। यद्यपि वह कहना चाहता था कि आप लोग तो दो-एक दिन रहकर चले जाएँगे, फिर सिंह के द्वार पर तो मैं ही रह जाऊँगा। हस्तिनापुर की इच्छा के विरुद्ध हमारा जीना दूभर है। पर वह कुछ बोला नहीं। मैं समझ तो सब गया। यद्यपि मेरा भी आना उसे बहुत अच्छा नहीं लगा। कांपिल्य ने मुझे एकदम कौरवों के विरोधी पक्ष का बना दिया था।

फिर भी उसने कहा, “अच्छा किया कि आप पधारे। हम बड़भागी हैं कि हमें आपके अतिथि-सत्कार का एक अवसर और मिला।” इसके बाद पांडवों के साथ हमारे हस्तिनापुर जाने का उसने समर्थन किया और कहा, “वर्तमान स्थितियों की दृष्टि से यह यात्रा बड़ी उपयोगी है।”

मैंने मुसकराते हुए विदुरजी की ओर देखा। वे समझ गए कि हस्तिनापुर में कुछ सुलग रहा है।

□

दूसरे दिन ही मुझे सूचना मिली कि छंदक आ गया है; पर वह महाराज के साथ ठहरा है। मेरा माथा ठनका। मैंने सोचा कि उसे सीधे मेरे यहाँ आना चाहिए। मेरे साथ या मेरे निकट ही अतिथिगृह में ठहरना चाहिए था। क्या बात है कि आज वह कुछ दूरी बनाए हुए है।

मैं यही सोच रहा था कि जिस अमात्य ने उसके आने की सूचना दी थी, उसीने बताया—“मध्य रात्रि के बाद वे पधारे और कहा कि अतिथिकक्ष में नहीं रहूँगा।”

“क्यों? ऐसा क्यों कहा उन्होंने?”

“यह तो मैं नहीं जानता; पर उन्होंने यहाँ के अपने आगमन को अत्यंत गोपनीय रखा है।” अमात्य बोला, “महाराज तथा आपके अतिरिक्त और किसीको भी उनकी उपस्थिति का ज्ञान नहीं है। आपको भी उन्होंने धीरे से आदरपूर्वक याद किया है।”

मैं अमात्य के साथ उसी समय छंदक से मिलने चल पड़ा। मैंने देखा, उसके कक्ष में चारुदेष्णा बैठा है। मैंने समझ लिया कि यह सारी गोपनीयता छंदक की उतनी नहीं है जितनी चारुदेष्णा की। वह नहीं चाहता कि हस्तिनापुर की गुप्तचरी का केंद्र उसका राजभवन बने।

मुझे देखते ही चारुदेष्णा ने वहीं मेरे प्रातःकाल के जलपान की व्यवस्था की और स्वयं चुपचाप उठकर चला गया।

“यहाँ की स्थिति तो समझ में आ ही गई होगी।” छंदक जलपान करते हुए बोला और उसने धीरे से मेरे पास न आने की क्षमा माँगी। उसने बताया—“मध्य रात्रि में ज्यों ही मेरे आने की सूचना प्रहरी ने महाराज को दी, उन्होंने तुरंत मुझे अपने पास बुलवा लिया और ठहरने की व्यवस्था करते हुए बोले, ‘भाई, अब हमें कौरवों और पांडवों की राजनीति से अलग ही रखें। तनावपूर्ण जीवन जीने से शांतिपूर्वक मरना कहीं अच्छा है।’ ”

हम लोगों को लेकर चारुदेष्णा तनाव में है, इसका तो मुझे भान था; पर वह इतने तनाव में है, इसकी कल्पना भी मुझे नहीं थी। मैंने यथाशीघ्र उसका प्रासाद छोड़ देने का निश्चय किया और बात आगे बढ़ाई।

छंदक ने बताया—“आजकल हस्तिनापुर एक लौह प्रासाद है, जिससे कोई बात बाहर नहीं आ सकती; पर सौभाग्य से उसमें भी मुझे एक छिद्र मिल गया है। यह छिद्र है—विकर्ण। मैंने बड़ी योग्यता से उसका उपयोग किया और मेरा विश्वास है कि आप भी बड़ी सावधानी से उसका उपयोग करेंगे।”

“मैं तो उसे जानता हूँ। वह कई बार मुझसे मिल चुका है। वह कौरवी मनोवृत्ति के विरुद्ध है। पर सावधानी से उपयोग का तुम्हारा क्या तात्पर्य है?”

“यही कि दुर्योधन उसकी मनोवृत्ति से परिचित है।” छंदक बोला, “उसने हर समय उसपर दृष्टि रखी है। यदि वह उसके नियंत्रण के बाहर हुआ तो वह उसकी हत्या भी करा सकता है।”

मैं सुनकर दंग रह गया—भाई की हत्या! वह भी सहोदर भाई की हत्या! मुझे आश्चर्य था; पर छंदक का कहना था—“इस समय दुर्योधन कुछ भी कर सकता है। लाक्षागृह ही भस्म नहीं हुआ, उसका सारा स्वप्न भस्म हो गया है—और उस भस्मावशेष से निकला है उसका अनचाहा, अनागत, अप्रत्याशित और भयग्रस्त भविष्य; जिसने उसे लगभग पागल बना दिया है।”

इन बातों के क्रम में उसने बताया—“दुर्योधन, कर्ण और शकुनि ने ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि धृतराष्ट्र के निजी प्रासाद में कोई जा नहीं पाता। यदि किसी तरह चला भी गया तो गुप्तचर छाया की तरह उसके पीछे लगे रहेंगे। इस बार हस्तिनापुर में पहुँचते ही मैं गुप्तचरों से घेर लिया गया था। दस-बारह व्यक्ति तो मेरी सेवा में लगा दिए गए थे।”

इतना कहने के बाद उसने मुझसे पूछा, “क्षमा कीजिएगा, कभी आपकी सेवा में भी इतने लोग लगे थे?”

मुझे हँसी आ गई—“अब तक तो नहीं लगे हैं; पर अब लगता है, इससे दूने लोग लगेंगे।”

छंदक भी हँसा और फिर बोलने लगा—“जब मैं पितामह से मिलने गया तब भी मेरे साथ अनुचर थे।”

“आखिर क्या करते थे वे अनुचर?”

“कुछ नहीं, केवल साथ लगे रहते थे।” छंदक ने बताया—“किसी भवन में प्रवेश करने के पहले उनमें से एक या दो आगे बढ़कर मेरे आने की सूचना देते थे और तुरंत दूसरे अनुचर मेरे स्वागत में लग जाते थे।

“तब तो तू वहाँ विशिष्ट अतिथि था।” मुझे फिर हँसी आ गई।

“विशिष्ट अतिथि या विशिष्ट शत्रु—इसे तो वे ही लोग बता सकते हैं।” छंदक बोला, “ऐसी चौबंदी कर रखी थी कि मैं प्रपितामही सत्यवती से तो मिल ही नहीं पाया और जब पितामह से मिला तो बड़ी विचित्र स्थिति हुई। मिलते

ही वे बोल पड़े—‘अरे, तुम तो कुछ दिनों पूर्व मिले थे। फिर आ गए?’ ऐसा उन्होंने मुझे देखकर बड़े सहजभाव से बिना किसी प्रयोजन के कहा था; पर मेरे पीछे जासूसों ने यही बात दुर्योधन से कही होगी तो कैसा लगा होगा?’

जलपान करते हुए कुछ रुक-रुककर छंदक बताता रहा—“मैं तो निष्फल ही लौटता, यदि एक दिन विकर्ण न मिल गया होता। उसका मिलना भी विचित्र था। प्रातःकाल मैं गंगास्नान के लिए गया था। शायद वह भी गंगास्नान के लिए उस घाट पर आया था। शीघ्र ही हम दोनों की मंशा स्पष्ट हुई और अपने-अपने स्थानों से हम दोनों ने गंगा मैया की गोद में छलाँग लगा दी और तैरकर कुछ आगे निकल गए। अब हम हस्तिनापुर की जासूसी छाया से मुक्त थे। शीत से ठिठुरते हुए हम उस हिमानी जल में गोते लगाते रहे और बातें होती रहीं। विकर्ण ने बताया—‘पितामह के बहुत समझाने पर पिताजी ने युधिष्ठिर को पुनः युवराज बनाना स्वीकार कर लिया था, पर भैया ने उन्हें ऐसा घेरा कि अब वे विचार छोड़ चुके हैं; पर वे डरते भी हैं।’

“मैंने कहा, ‘डर किसका? वे तो सर्वेसर्वा हैं। जो चाहें, कर सकते हैं।’

“‘यदि यही स्थिति होती तो रोना किस बात का था!’ विकर्ण बोला, ‘वस्तुतः पिताजी चारों ओर से घिरे हैं। भैया के बताए हुए जाल से ही नहीं, अनेक प्रकार के प्रत्याशित और अप्रत्याशित भय से भी।’ ”

छंदक ने आगे बताया—“विकर्ण कह रहा था कि एक दिन पिताजी ने मुझे एकांत में बुलाया और मुझसे पूछा, ‘अच्छा यह बताओ कि पांडव लाक्षागृह से बच कैसे गए और वह भी इतने दिनों बाद वे प्रकट हुए? हमने क्या, हमारे इतिहास में भी किसीने इतने दिनों बाद गड़े शव को जी उठते और धरती फाड़कर निकलते शायद किसीने देखा हो। तुम क्या समझते हो, यह कोई दैवी लीला है, जो हमारे पापों के विरुद्ध अपना चमत्कार दिखा रही है?’ विकर्ण का कहना था कि मैं क्या उत्तर देता!

“धृतराष्ट्र ने फिर उससे कहा, ‘तुम्हारा संबंध तो उनसे भी है।’ विकर्ण ने पूछा, ‘किससे?’

“‘पांडवों से।’

“‘मैं पांडवों से यह पूछूँ कि आप बचे कैसे?’ विकर्ण बोला, ‘तब तो हमारे षड्यंत्र की अवधारणा उनके मन में पक्की हो जाएगी और मुझे भी उसमें सम्मिलित समझा जाएगा; जबकि सत्य यह है कि मेरे भाइयों ने मुझे उसकी गंध तक लगने नहीं दी थी।’

“विकर्ण का कहना है कि ‘इसके बाद पिताजी चुप हो गए थे और उनकी अंधी आँखों में भयानक सपने उतरने लगे थे। उन्हें लगने लगा कि अब जब पांडव हस्तिनापुर लौटेंगे तो प्रजा का हर व्यक्ति उनसे यही प्रश्न करेगा, तब उनका उत्तर कितना भयानक होगा।’ विकर्ण का कहना था—‘पिताजी लगभग बड़बड़ाने लगे थे कि मुझे तो उसकी भयानकता भभकती हुई दिखाई दे रही है। मैंने लाक्षागृह को तो जलते नहीं देखा है; पर मैं भय और आशंका की उन लपटों को देख रहा हूँ, जिनमें हस्तिनापुर भस्म हो जाएगा।’ ”

छंदक ने बताया—“इसी समय तट से किसी परिचर की आवाज आई—‘राजकुमार, जल्दी निकलिए, अन्यथा शीत लग जाएगी।’ बातों में भूली जल की शीतलता का हमें अचानक भान हुआ और हम सचमुच थरथराने लगे।

“हम बाहर आए। तट पर बिछी सैकत शय्या पर लेटकर शशक चर्म की तरह मुलायम और गुनगुनाती धूप का आनंद लेने लगे। विकर्ण भी निकला और चुपचाप कपड़े बदलकर अपने परिचरों के साथ बिना किसी नमस्कार और अभिवादन के ऐसे चल पड़ा जैसे मेरा उससे कोई संबंध ही न हो।”

यों तो जिज्ञासाएँ बहुत थीं, पर मैं छंदक से कुछ पूछूँ, इसके पहले ही उसने कहना आरंभ किया—“अब मैं चारों ओर भटकने की अपेक्षा केवल विकर्ण से ही मिलने का प्रयत्न करने लगा; पर मुझे सफलता शीघ्र मिलती दीख न पड़ी। कभी सामना भी होता तो मैं अपने परिचरों से घिरा और वह अपने। कभी-कभी अभिवादन की

औपचारिकता बरत ली और कभी वह भी नहीं। केवल आँखें मिलतीं और लौट आती थीं। हम दोनों जासूसी की अदृश्य दीवारों में बंदी थे। हमारी दीवारें टकराती अवश्य थीं, पर हम टकरा भी नहीं पाते थे।”

छंदक ने बताया—“एक दिन पितामह के यहाँ उससे भेंट हो गई।

“पूर्वाह्न समाप्ति की ओर था। सूर्य आकाश के मध्य की ओर बढ़ चुका था। अपने उपवन की पुष्करिणी के निकट ऊँचे मंचक पर बैठे वे विकर्ण को बड़ी गंभीरता से सुन रहे थे। किसीको भी उनके निकट आने की मनाही थी।” छंदक का कहना था—“मुझे पितामह के सारे परिचर जानते थे, इसलिए पहले तो मैं रोका नहीं गया; पर उपवन के प्रवेश द्वार पर रोक लिया गया। उन्हें अपनी उपस्थिति का आभास कराने के लिए प्रवेश द्वार से थोड़ा आगे बढ़कर मैं खड़ा हो गया। फिर भी मैंने अपने आने की सूचना उन तक भिजवाई। लोगों को बड़ा आश्चर्य था कि मैं बुला लिया गया। पितामह ने अपनी बगल में ही मुझे स्थान दिया। इससे मेरी गरिमा तो बढ़ी ही, विकर्ण को पितामह से मेरी निकटता का अनुभव भी हुआ।

“मैं चुपचाप बैठकर विकर्ण को सुन रहा था। वह कहता जा रहा था—‘आपने जो कहा था और पिताजी जिससे सहमत भी थे, शायद अब वह स्थिति न हो पाए।’ उसने स्वयं को और अधिक स्पष्ट किया—‘आपके समझाने पर यह विचार सर्वसम्मत बना था कि पांडवों के आने पर हम सब कौरव उनका स्वागत करेंगे; पर अब वह स्थिति दिखाई नहीं देती।’

“‘तो क्या पांडवों के स्वागत में कौरव उपस्थित नहीं रहेंगे?’ पितामह ने पूछा। फिर बोले, ‘इससे अच्छा तो था कि हम लोगों ने विदुर को बुलाने के लिए ही न भेजा होता।’ पितामह का आक्रोश और उभरा—‘यदि उनकी अगवानी में कोई नहीं जाएगा, तो मैं जाऊँगा। वे हमारे बेटे हैं। यदि हम उन्हें अपनी गोद में नहीं बैठाएँगे तो वे कहाँ जाएँगे! फिर कोई पाप करके तो आ नहीं रहे हैं। पराक्रमी योद्धाओं की तरह आ रहे हैं।’”

छंदक का कहना था—“इसी क्रम में पितामह ने यहाँ तक कहा, ‘जो पाप में आकंठ मग्न हैं, वे हस्तिनापुर के सिंहासन पर सम्मान का जीवन जी रहे हैं और जो तपस्या की अग्नि में कंचन-सा तपकर आ रहे हैं, हम उनका स्वागत तक न करें! यह अन्याय तो हमसे सहा नहीं जाएगा।’

“‘पर आप सब सहेंगे।’ विकर्ण ने इतने तपाक से कहा कि पितामह हिल-से गए। वह उसी आवेश में यह भी बोल गया—‘यदि आपकी ऐसी स्थिति न होती तो हस्तिनापुर की यह दशा न होती।’

“पितामह एकदम चुप हो गए। उनका मौन गंभीर ही नहीं, बहुत लाचार-सा दिखा।” छंदक बोला, “मैं नहीं समझ पाया कि ऐसी कौन सी लाचारी है कि अत्याचार का अनुभव करते हुए भी पितामह उसका विरोध नहीं कर पाते!

“विकर्ण बोलता जा रहा था—‘पाप तो सिंहासन पर ही विराजमान रहेगा।’

“‘तुम्हारा तात्पर्य?’ पितामह ने पूछा।

“‘तात्पर्य स्पष्ट है कि दुर्योधन युवराज पद से हटाए नहीं जाएँगे।’

“‘तब युधिष्ठिर को पुनः युवराज बनाया कैसे जाएगा?’

“‘यह तो आप जानें।’ विकर्ण बोला, ‘आपने ही पिताजी को समझाया था न!’

“‘हाँ, समझाया तो था और वे मान भी गए थे; पर यह हो कैसे गया?’ पितामह चिंतित हो उठे। मैं उनकी आकृति ही देखता रह गया।...विकर्ण बोलता रहा। उसने जो कुछ बताया, उसका सारांश था कि दुर्योधन के भवन में एक षड्यंत्र रचा गया, जिसमें मामा शकुनि की मुख्य भूमिका थी। उसने कहा कि ‘कल प्रातः ही मैं महाराज के पास जाता हूँ। मैं उन्हें एक विषपात्र दिखाकर कहता हूँ कि महाराज, बधाई हो। एक अनिष्ट होने से बच गया।...इसी संदर्भ में मैं उन्हें बताऊँगा कि दुर्योधन विषपान करने जा रहा था। यह तो कहिए, मौके पर मैं पहुँच गया। मैंने यह

पात्र उससे छीन लिया, तब वह रोता हुआ चीख पड़ा कि मामा, आप इस समय क्यों आ गए? मैं तो एक क्षण के लिए भी अब जीना नहीं चाहता।...मैंने उससे बहुत पूछा कि क्या बात है? पर उसने कुछ नहीं बताया।' शकुनि ने कहा कि 'मेरे इतना कहने पर महाराज तुम्हें अवश्य बुलाएँगे और पूछेंगे, तब तुम उनसे वह सब कहना, जो हम लोगों ने तय किया है।'

“ ‘उन लोगों ने क्या तय किया था?’ पितामह ने विकर्ण से पूछा।

“ ‘यह तो मैं नहीं जानता।’ विकर्ण बोला, ‘पर पिताजी के बुलाए जाने पर भैया ने जो कुछ कहा है, उसे मैं जानता हूँ।’ पितामह का कुतूहल जड़वत् सुनता रहा। विकर्ण कहता गया—‘मुझे इस षड्यंत्र का आभास तक नहीं था। मैं कल प्रातःकाल पिताजी के पास गया था। इधर बहुधा प्रातः जलपान के बाद मैं उनके पास पहुँच जाता था और हर बार पांडवों के जीवित बच जाने की चर्चा से बात आरंभ होती थी। मुझे लगता है, आजकल रात-दिन वे यही सोचा करते हैं। मुझे लगता है कि वे उनके बचने से उतने प्रसन्न नहीं हैं, जितने आश्चर्यचकित। उनका रह-रहकर यही सोच उभरता है कि आखिर वे बच कैसे गए? कोई महाशक्ति उनकी सहायता अवश्य कर रही है। अब वही शक्ति तुम्हारे और तुम्हारे भाइयों के विरुद्ध खड़ी होगी!’ ”

छंदक ने बताया—“मैं तो मौन श्रोता था। इसी क्रम में विकर्ण ने एक ऐसी बात कही कि मेरी तो उसके प्रति श्रद्धा हो गई। वह बोला, ‘दुष्कर्मों का फल प्रभु देता है या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता; पर दुष्कर्म अपने जन्म के समय से ही अपने कर्मों को प्रताड़ित करना आरंभ कर देते हैं—कभी पश्चात्ताप की अग्नि में जलाकर, कभी भविष्य के प्रति आतंकित करके। मैंने देखा कि पिताजी एकदम डरे हुए हैं—लोकापवाद से भी और हस्तिनापुर के भविष्य से भी।’

“ ‘उन्हें हस्तिनापुर की चिंता नहीं रही, वत्स!’ पितामह ने बीच में ही टोका। ‘उन्हें हस्तिनापुर की चिंता सदैव रही, पितामह।’ विकर्ण बोला, ‘पर पुत्र-प्रेम के आगे वे सबकुछ भूल जाते हैं। एक दिन उन्होंने मामाजी से स्पष्ट कहा था कि मैं दुर्योधन की ही आँखों से देखता हूँ। क्या करता! तुमने भी तो अपनी आँखें बंद कर ली हैं और गांधारी ने भी।...’

“ ‘किंतु तुम मुख्य बात पर आओ, विकर्ण!’ बहते हुए विकर्ण को पितामह ने रास्ते पर लगाया। उसने कथा की छूटी डोर फिर पकड़ ली—‘हाँ, तो उस दिन मैं ज्यों ही पिताजी के पास पहुँचा, मामाजी वह विषपात्र रखकर तुरंत चले गए। मेरे अभिवादन का उत्तर भी नहीं दिया। जरा मेरी स्थिति देखिए, मेरे भाई ही मुझे अपना शत्रु समझते हैं। किसी मंत्रणा में साथ नहीं लेते और मुझे चाचाजी (विदुर) का गुप्तचर मानते हैं। मामाजी भी शत-प्रतिशत उन्हींके साथ हैं, इसलिए मामाजी के आचरण से मुझे उस समय कोई आश्चर्य नहीं हुआ।’ विकर्ण कहता गया—‘मैंने पिताजी की ओर देखा। वे सिर पर हाथ धरे अत्यंत चिंतित दिखाई पड़े। उनकी मनःस्थिति झंझा में झकझोरे जा रहे उस वृक्ष जैसी थी, जो अपने विषय में कम वरन् जंगल के विषय में अधिक सोचता है कि मेरे उखड़ जाने के बाद जंगल का क्या होगा!’

“विकर्ण ने बताया कि मैंने महाराज से कहा, ‘लगता है, आप बड़े व्यग्र हैं।’ महाराज उसी चिंताकुल मुद्रा में बोले, ‘यह विषपात्र देखते हो! तुम्हारा भाई अब अपने जीवन का अंत कर लेना चाहता है।’ इतना कहते-कहते उनकी आँखें भीग गईं। उन्होंने मुझसे (विकर्ण से) कहा कि इसी समय तुम दुर्योधन को बुला लाओ।’ विकर्ण का कहना था कि ‘मैं तुरंत भैया के भवन की ओर गया। नाटक के एक अंश का मुझे तो ज्ञान था ही, दूसरे अंश को देखने की ललक ने मेरी गति और बढ़ा दी थी। जब मैं भैया के यहाँ पहुँचा तो मामाजी वहाँ उपस्थित थे। लगता है, वे यहाँ से सीधे वहीं गए थे। मुझे देखते ही भैया एकदम मुझसे लिपट गए और शोकाकुल स्वर में बोले, ‘अब यह संसार मेरे



लिए नहीं रहा, विकर्ण! इतना अपमान सहकर भी जीने से अच्छा है मर जाना।' इसके बाद भैया को समझा-बुझाकर मैं पिताजी के पास ले आया।'

“विकर्ण का कहना था कि ‘दुर्योधन भैया ने मेरे प्रति ऐसी आत्मीयता कभी नहीं दिखाई थी। मैंने मन-ही-मन बहुत कुछ समझने की कोशिश की; पर इसके पीछे भैया का उद्देश्य क्या है, कुछ समझ नहीं पाया। भैया आते ही पिताजी का चरण पकड़कर रोने लगे और बोले, ‘आज मामा ने मेरे साथ पता नहीं किस युग की शत्रुता निबाही है। मुझे शांतिपूर्वक मरने नहीं दिया। मैं अब इस संसार में जीना नहीं चाहता।’ पिताजी की आँखें भी बरस पड़ीं। उनका कंठ अवरुद्ध हो गया—‘आखिर इतना घबराने से तो काम बनेगा नहीं। प्राण त्यागने से क्या होगा?’

“‘तब दूसरों का दास बनकर जीने से क्या होगा?’ दुर्योधन बोला, ‘अब मुझे युवराज पद भी छोड़ना पड़ेगा। आपने पुनः युधिष्ठिर को युवराज बनाने का वचन दिया है, तो क्या अब युधिष्ठिर का दास बनकर जीऊँ?’

“‘दास नहीं, भाई।’ पिताजी ने बड़े करुणार्द्र स्वर में कहा।

“‘पर यह संभव नहीं है। युधिष्ठिर के युवराज होते ही मैं दास हो जाऊँगा।’ भैया के अभिनय में ठोकर खाए पश्चात्ताप की छटपटाहट भी थी और घायल नाग का आक्रोश भी। वे बराबर पिताजी की गोद में अपना सिर पटक रहे थे कि युधिष्ठिर के चले जाने के बाद जब मैं युवराज बना तब मैंने शासन में आमूलचूल परिवर्तन किया था। उनके अधिकारियों की जगह अपने अधिकारियों को बैठाया। जिन्हें मैंने हटाया था, आज उन्हीं अधिकारियों के घरों में दीवाली मनाई जा रही है। आज हमारे अधिकारी बुझे-बुझे हैं। कई ने तो स्वेच्छया त्यागपत्र दे दिया है।

“विकर्ण ने यह भी बताया कि भैया ने कांपिल्य में हुए अपमान को काफी बढ़ा-चढ़ाकर पिताजी से बताया और कहा, ‘इस सबके मूल में पांडव और उनका चहेता कृष्ण है।’ ”

छंदक यह सारी कथा मुझे सुना रहा था और मैं चुपचाप सुनता जा रहा था। किंतु जब मेरा नाम आया तब मेरे मुख से स्वतः निकल पड़ा—“मैं तो बहुत पहले से उनकी आँखों में गड़ा हूँ। यदि उनका वश चलता तो वह पता नहीं क्या कर डालते! हाँ, तो फिर क्या हुआ?”

छंदक बोलता गया—“पितामह बड़े गौर से विकर्ण को सुनते रहे। वह कहता गया—‘पिताजी ने बार-बार अपनी लाचारी व्यक्त की—युधिष्ठिर के आने पर तुम कैसे युवराज रह पाओगे? वह जब यहाँ से लाक्षागृह गया था, तब भी युवराज था और आने के बाद भी युवराज होगा।’ विकर्ण ने बताया—‘इसी बीच दुःशासन भैया भी आ गए, मामला सधा-बधा था। हो सकता है, आड़ से वे हम लोगों को सुनते भी रहे हों। आते ही वे एकदम उबल पड़े—अंधे के आगे क्या रो रहे हो?’

“‘अरे, अरे!’ पितामह एकदम चकित रह गए—‘ऐसा उसने महाराज को कहा! अपने पिता को कहा! इतना दुर्विनीत और असभ्य!’ पितामह ने तो जैसे दाँतों तले अँगुली दबाई—‘तुम्हारे पिताजी कुछ नहीं बोले?’

“‘वे बोलते क्या! वह तो ऐसा अपमान कई बार और कई लोगों के सामने कर चुका है। यह कोई पहली बार तो हुआ नहीं है।’ विकर्ण से ही पता चला कि दुःशासन दुर्योधन से अधिक उद्दंड है। ‘यदि आप अंधे न होते तो पांडु चाचा को हस्तिनापुर की गद्दी क्यों मिलती। वे आपसे छोटे थे। गद्दी के वास्तविक अधिकारी तो आप ही थे। यह भी विचित्र लाचारी है; पिता तो लाचारी का फल भोग ही रहा है, अब उसके पुत्र भी पिता की लाचारी का फल भोगेंगे।’ ”

छंदक ने बताया—“विकर्ण का कहना था कि इतना सुनते ही महाराज चुप हो गए। कुछ देर तक सोचते रहे, फिर उन्होंने दूसरी स्थिति की ओर संकेत किया—‘जब से हस्तिनापुर ने सुना है कि पांडव जीवित हैं और वे पांचाली को ब्याहकर ला रहे हैं, पूरा नगर हर्षोन्माद में झूम उठा है। लोग उनके स्वागत के लिए पागल हो रहे हैं।

ऐसे में यदि युधिष्ठिर को युवराज नहीं बनाया गया तो विद्रोह हो सकता है।’

“ ‘विद्रोह! हूँ!’ दुर्योधन का अहं फनफनाया—‘यह वही प्रजा है, जो मेरे नाम से थरथर काँपती थी। आज केवल इसलिए उछल रही है कि उसे विश्वास हो गया है कि आप हमें युवराज पद से हटा देंगे। ऐसे में मैं जी कर क्या करूँगा?’ दुर्योधन ने फिर धमकाया।... ‘मैं भी हस्तिनापुर छोड़कर चला जाऊँगा।’ दुःशासन बोला।

“विकर्ण ने बताया कि तब पितामह ने मुझसे पूछा, ‘और तुम क्या करोगे, विकर्ण?’ विकर्ण ने बताया कि ‘भाइयों का विरोध करने की इच्छा होते हुए भी मैं विरोध कर नहीं पाया। इसलिए नहीं कि मैं दुर्बल हूँ वरन् इसलिए कि मेरे विरोध के बावजूद होता वही, जो हुआ है। अतएव मैंने भी कहा, ‘जब समुद्र ही बहने को तैयार है तब नदी बेचारी क्या करेगी! उसे भी ढाल की ओर ढुलकना ही पड़ेगा।’ ... ‘कोई भी आपका साथ नहीं देगा।’ दुःशासन बोला, ‘आपका बुढ़ापा अँधेरे में रेंगता रह जाएगा।’ इसीलिए मैं यह दुर्दशा देखने के लिए जीवित रहना नहीं चाहता।’ दुर्योधन भैया ने फिर हताशा व्यक्त की।’ विकर्ण का कहना था कि इतना होने पर भी पिताजी तैयार नहीं हुए। उन्होंने फिर समझाया—‘मैं तुम्हारी मनःस्थिति समझता हूँ। मैं शत-प्रतिशत तुम्हारे साथ हूँ; पर जरा समझो, इस समय पांडव विजयी योद्धा की तरह आ रहे हैं। उनके साथ द्रुपद की आधी सेना आ रही है। बलराम और कृष्ण आ रहे हैं। राजा सुजीत और विराट आ रहे हैं। और जाने कितने लोग होंगे! फिर हमारे यहाँ की स्थिति क्या होगी? पितामह पहले से ही उन्हें युवराज बनाने के लिए तैयार हैं। द्रोण भी पांडवों का ही साथ देंगे। फिर न्याय भी उनके साथ है।’

“ ‘न्याय उनके साथ होता है, जिनकी भुजाओं में ताकत होती है।’ यह अहम्मन्यता दुःशासन की थी। ‘और आप आचार्य द्रोण की चिंता छोड़ दें।’ दुर्योधन भैया बोले, ‘अश्वत्थ उन्हें सँभाल लेगा। और रह गए पितामह, उन्हें देखा जाएगा।’ ”

छंदक का कहना था—‘दुर्योधन ने उनके बारे में भी अपशब्द कहे होंगे; पर विकर्ण पितामह के सामने कैसे कहता! वे बड़ी व्यथा से बोले, ‘वे लोग हमें क्या समझते हैं? उनके मार्ग में खड़ा मैं बाधा का पहाड़ अवश्य हूँ, पर उनकी अहम्मन्यता और आकांक्षा के सरपट दौड़ते घोड़े मेरी अनुबंधनियता की धूल उड़ा देते हैं।’

“इसके बाद पितामह भी चुप हो गए और विकर्ण भी।...मौन का यह अंतराल आशा से कुछ अधिक लंबा था। पितामह के मस्तक पर रेखाएँ बनती और मिटती रहीं। फिर वे कुछ सोचते हुए बोले, ‘खैर, हम लोगों को तुम्हारा भाई देख लेगा, पर जनाक्रोश का वह सामना कैसे कर सकेगा?’

“ ‘इसके लिए वह तैयार है।’ विकर्ण ने बताया—‘मैंने तो सुना है कि उसने अपने हितैषियों और मित्रों के यहाँ दूत भेजा है।’ ”

छंदक से इतना सुनते ही मुझे तुरंत याद आया कि सुशर्मा के यहाँ भेजा गया दूत इसी संदर्भ का रहा होगा।

“पर विकर्ण ने एक बात और बताई।” छंदक बोला, “उसका कहना था कि स्थिति के अनुसार आपसी समीकरण बड़ी तेजी से बदल रहे हैं। दुर्योधन ने तो यहाँ तक कहा कि हो सकता है, पांडवों के कुछ लोग अब हमारे हो जाएँ।”

“उसने केवल संभावना व्यक्त की है या कोई ठोस नाम भी गिनाया है?” मैंने पूछा।

छंदक बोला, “उस समय विकर्ण से कुछ पूछने की स्थिति में मैं तो नहीं था; पर बातों के क्रम में उसने एक नाम अवश्य लिया था, जिसमें मुझे तो विश्वास नहीं।”

“वह कौन सा नाम था?”

उसने मुसकराते हुए कहा, “उन्हींका, जिनके यहाँ हम लोग अतिथि हैं।”

मेरे मुख से अचानक निकल पड़ा—“चारुदेष्णा!”

उसने मुसकराते हुए स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

फिर मानो मैंने स्वयं से ही कहा हो, “इसमें अचरज क्या है! कभी-कभी मनुष्य की सज्जनता को भी उसकी दुर्बलता समझा जाता है। लाक्षागृह से बच निकलने के बाद पांडव चुपचाप जंगल में भटकते रहे। यह उनकी सज्जनता थी; पर इसे चारुदेष्णा जैसे लोगों ने उनकी दुर्बलता समझी और दुर्बल का साथ तो भगवान् देने से भी कतराता है।”

“आप भी ऐसा कहते हैं!” छंदक बोला, “भगवान् तो हमेशा सत्य का साथ देता है। वह दुर्बलता और सबलता नहीं देखता।”

“पर सत्य कभी दुर्बल नहीं होता।” मैंने कहा, “इसीलिए पांडव कभी दुर्बल नहीं हैं; जो उन्हें दुर्बल देखते हैं, उनमें विचारों का दृष्टि-दोष है।”

मैंने छंदक को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया। उसकी सभी सूचनाएँ हमारे काम की थीं। मैंने कहा, “छंदक! अब हमें प्रचार तंत्र और तेज करना पड़ेगा। पूरे हस्तिनापुर को यह विश्वास दिलाना पड़ेगा कि पांडवों के पास दैवी शक्ति है, अन्यथा वे लाक्षागृह से सुरक्षित न बच निकलते। अग्नि उन्हें पचा नहीं पाई। देवताओं के आशीर्वाद से ही उन्होंने द्रौपदी को पाया। इतने दिनों जंगल में रहकर उन्होंने तप किया है। देवताओं को प्रसन्न किया है। उन्हींके आशीर्वाद से वे देवपुत्रों की तरह अपनी राजधानी में आ रहे हैं।”

“यह तो प्रचारित है ही कि आपका वरदहस्त उनपर है। यह किसी देवता की कृपा से कम है क्या!”

“जो प्रचारित है, उसके प्रचार की आवश्यकता नहीं है; जो प्रचारित नहीं है या दूसरे ढंग से प्रचारित है, उसे इस ढंग से प्रचारित करना चाहिए।” मैंने बात न बढ़ाकर सीधे-सीधे आदेश दिया—“अब विलंब करने की आवश्यकता नहीं है। तुम मध्याह्न का भोजन करके थोड़ा विश्राम कर लो और संध्या के पूर्व ही अपने तेज अश्व पर पुनः हस्तिनापुर पहुँच जाओ।”

छंदक मौन हो कुछ सोचने लगा।

“क्या सोचते हो?”

“सोचता हूँ कि मेरा पीछा करते हुए कौरवों के गुप्तचर यहाँ अवश्य आए होंगे। ऐसा नहीं कि मैं उनकी दृष्टि से ओझल हुआ होऊँ। फिर आपसे मिलकर मेरा सीधे हस्तिनापुर पहुँचना क्या उचित होगा? क्या वे मुझे आपका गुप्तचर नहीं समझ लेंगे?”

“मेरे मित्र तो तुम जगद्विदित हो। यदि अब वे तुम्हें मेरा गुप्तचर ही समझ लेंगे तो अचरज क्या! पर मेरे विचार से तुम इसी सत्य को प्रचारित करो कि औरों की दृष्टि में तो मैं कृष्ण का सखा हूँ, पर कौरवबंधु मुझे कृष्ण का गुप्तचर समझते हैं। तुम यह भी कहो कि इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। संसार मुझे कुछ भी समझने के लिए स्वतंत्र है। जगत् में हर रोग की ओषधि है, पर शंका की कोई ओषधि नहीं। आज हस्तिनापुर का राजप्रासाद ऐसी ही शंकाओं से ग्रस्त है।

“इसके साथ-साथ तुम सिद्धांत वाक्य भी बोलो—‘शंका वह अग्नि है, जो स्वविवेक को ही जलाती है, जिसका कडुवा धुआँ हमें अंधा बना देता है और हम वास्तविकता नहीं देख पाते।”

यह भी तय हुआ कि ढिंढोरा पीटकर कहने से अधिक प्रभावकर होगा मौखिक रूप से ही इसका प्रचार करें। मुँह से मुँह प्रचार का प्रभाव गहरा और स्थायी होता है।

मुझे पता चला कि छंदक मध्याह्न के बाद ही चला गया।

मैंने छंदक से हुई बात का थोड़ा सा आभास महात्मा विदुर को दिया और अपनी मायावी मुसकराहट के बीच कहा, “यह तो हम धुआँ देख रहे हैं, आग तो वहाँ चलने पर देखेंगे।”

वे गंभीर हो गए।

और किसीसे हमने कुछ कहा नहीं, वरन् यहाँ से दूने उत्साह और हर्ष के साथ हमने हस्तिनापुर चलने की योजना बनाई।

अगले ब्राह्म मुहूर्त में ही हम चल पड़े।

चारुदेष्णा अपने अमात्य एवं जयद के साथ हमें बिदाई देने आया और कहने लगा—“इतनी जल्दी आप चले जाएँगे, हमें आभास ही नहीं था।”

“यहाँ ठहरना तो रास्ते का विश्राम था। मगवास और असमर्थ शरीर जितना शीघ्र छोड़ा जाए, उतना उत्तम! फिर हस्तिनापुर के लोग भी बड़ी उत्सुकता से हमारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। उनकी उत्कंठा हर पल बोझिल होती जा रही होगी।” मैंने हँसते हुए कहा और उसके अतिथि सत्कार का आभार व्यक्त किया।

उसने चारों ओर देखकर कहा, “छंदक कहीं दिखाई नहीं दे रहे हैं! अभी कल ही तो वे पधारे थे।”

मैं रहस्यमय ढंग से बोला, “छंदक तो बहता पानी है, कहीं बह गया होगा।”



## पाँच

**स**मय अपनी गति से चला जा रहा था और हम अपनी गति से।

समय की गति कभी बदलती नहीं; पर हमारी गति तो परिस्थिति के अनुसार मंद और तीव्र होती रही। फिर भी हम भरसक काफी तेजी से बढ़ रहे थे; क्योंकि हस्तिनापुर की स्थिति हमारी गति से भी अधिक तेजी से बदल रही थी। अधिकांशतः हम गंगा के किनारे-किनारे चल रहे थे। अपने गुप्तचरों को मैंने इसी मार्ग की सूचना भी दे रखी थी। जहाँ बस्ती होती वहीं अवरोध पैदा हो जाता। हम अभिवादन और उपहार स्वीकार करते बढ़ जाते थे, पर विश्राम नहीं लेते थे।

संध्या होते ही किसी रम्य रेती पर या किसी मंदिर के निकट पड़ाव डाल देते थे।

शायद यह दूसरा ही पड़ाव था। प्रत्येक शिविर में दो-दो व्यक्ति विश्राम कर रहे थे। मेरे साथ महात्मा विदुरजी भी थे। अवसर मिलते ही हस्तिनापुर की राजनीति पर हमारी बातें शुरू हो जाती थीं। आज एक गुप्तचर भी आ गया था। मैंने उसे अपने शिविर में ही शरण दी। उसने जो सूचना दी, वह विलक्षण भी थी और भयानक भी।

उसने कहा, “अधिकांश कौरव अब हस्तिनापुर छोड़कर जा रहे हैं।”

“क्यों?”

“क्योंकि वे उस हस्तिनापुर में नहीं रहेंगे, जहाँ युवराज युधिष्ठिर होंगे।” उसने यह भी बताया—“उन लोगों ने अपने पिता पर बहुत दबाव डाला है। दुर्योधन ने तो आत्महत्या का नाटक ही रचा था। एक बार तो पितामह भी घबरा गए थे। जब वे प्रपितामही से मिले तो उन्होंने कहा कि ‘दुर्योधन की यह पुरानी आदत है। जब भी उसके मन का नहीं होता, वह आत्महत्या की धमकी देता है। यह उसकी फुफकार है, जो आपकी छाया में पली है; पर वह काटेगा नहीं। वह इतना मूर्ख नहीं है कि छाया को काट खाए और स्वयं को सीधे तपन के हवाले करे। तुम उससे स्पष्ट कहो, जाओ, करो आत्महत्या।’ ”

“फिर क्या हुआ?” विदुरजी ने पूछा, “क्या तातश्री ने उससे ऐसा कहा?”

गुप्तचर मुसकराया—“पितामह यह कहने का साहस तो न जुटा सके, पर उन्होंने यह अवश्य कहा कि तुम्हारा ऐसा करना दुर्भाग्यपूर्ण होगा। पर, मैं तो इसी पक्ष का हूँ कि युधिष्ठिर के आने के बाद उन्हें युवराज बनाया जाए।”

“तब वह पितामही सत्यवती के पास गया होगा।”

“वहाँ तो नहीं गया, पर सूचना है कि महाराज धृतराष्ट्र गए थे।” गुप्तचर ने बताया—“उन्होंने जब प्रपितामही से दुर्योधन की आत्महत्या की बात कही, तब प्रपितामही ने स्पष्ट कहा, ‘कोई यदि आत्महत्या करना चाहेगा तो आप उसे कब तक रोक सकेंगे? जब वारणावत जाकर पांडवों ने आत्महत्या का निर्णय लिया था तब क्या हम उन्हें रोक सके थे?’ ”

“अरे, ऐसा कह दिया प्रपितामही ने!” मेरे मुख से साश्चर्य निकला।

“पितामही कुछ भी कह सकती हैं।” विदुरजी बोले, “इसपर क्या कहा महाराज ने?”

“कुछ कहा या नहीं, यह तो नहीं कह सकता।” गुप्तचर बोला, “पर वहाँ के प्रहरी की सूचना है कि महाराज बहुत देर तक चुपचाप खड़े रहे और फिर चरण छूकर चले गए।” उसने यह भी बताया—“प्रपितामही के इस कथन की चर्चा पूरे हस्तिनापुर में कई संदर्भ जोड़कर हो रही है।”

“इन दो व्यक्तियों के बीच की बात बाहर कैसे आई?” मुझे आश्चर्य हुआ।

विदुरजी मुसकराते हुए बोले, “आज के हस्तिनापुर की प्रकृति का ज्ञान कदाचित् तुम्हें नहीं है, केशव! आजकल वहाँ के वातावरण में हजारों कान और जबान साथ-साथ उड़ते रहते हैं।”

“तो कब कर रहा है दुर्योधन आत्महत्या?” मैं पुनः मुख्य प्रश्न पर आया।

“आप भी कैसी बातें करते हैं! वह भला आत्महत्या करेगा!” विदुरजी बोले, “आत्महत्या के लिए केवल निराशा ही नहीं, निर्मोह और जीवन से विरक्ति या घृणा की भी आवश्यकता है। यदि वह मरना चाहेगा भी तो सत्ता की लोलुपता उसे मरने नहीं देगी। मेरे विचार से तो वह अब भी किसी षड्यंत्र में लगा होगा।”

“आप ठीक कहते हैं।” गुप्तचर बोला, “प्रमदा दासी बता रही थी कि इस संदर्भ में दुर्योधन ने अपनी पत्नी का भी उपयोग करना चाहा था।”

“तब?”

“सुना है, वह बेचारी बीमार है।” गुप्तचर बोला, “उसे वह प्रपितामही के पास भेजना चाहता था—अपने सौभाग्य की भीख माँगने; पर वह गई नहीं।”

“इतना साहस कर गई!” मैंने कहा।

“साहस का प्रश्न ही नहीं था। वह असमर्थ थी।”

“शायद गर्भवती हो।” विदुरजी ने गणना करके बताया।

इसी बीच हवा का एक तेज झोंका आया। द्वार पर जलती मशाल की लौ गंभीर रूप से काँप गई। मैंने अनुभव किया कि रात काफी हो चुकी है। मैं उठकर शिविर के बाहर आया। अँधेरा साँय-साँय कर रहा था।

“अब सोना चाहिए।” विदुरजी ने कहा।

पर मेरी जिज्ञासा नींद को पंख फटकने नहीं दे रही थी। मैंने गुप्तचर को फिर खोदा—“भानुमती ने भी तो कोई राय जाहिर की होगी?”

गुप्तचर हँसने लगा। मुझे लगा कि कोई-न-कोई बात मुझसे संबंधित जरूर है। वह बोला, “प्रमदा बता रही थी कि जब दुर्योधन ने अपनी पत्नी से कहा कि मैं चारों ओर शत्रुओं से घिरा हूँ, तब उसने कहा, ‘आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए। सभी लोग तो अपने हैं।’ ”

“‘अपने ही तो हमारे शत्रु हैं।’ दुर्योधन बोला, ‘पितामह और प्रपितामही तो हमारे शत्रु हैं ही, स्वयं हमारे पिता को भी हमारी बात बड़ी देर से समझ में आती है।’ ” इतना कहकर गुप्तचर ने विदुरजी की ओर देखा। उनके खरटि शुरू हो गए थे। अब उसने बताया—“दुर्योधन का सोचना है कि मेरे पिता का मस्तिष्क तो खराब कर रखा है उस दासीपुत्र ने।”

“और माता का?”

“उन्हें तो वह कहता है कि उसने जानबूझकर आँखों पर पट्टी बाँध रखी है।”

“ऐसे में तो सचमुच दुर्योधन परेशान हो गया होगा!”

“उसे और भी परेशान कर रखा है भानुमती ने।”

“वह कैसे?”

“उसने अपने पति को राय दी और कहा, ‘ऐसे में तो आपके लिए अब एक ही मार्ग है कि सबको छोड़कर आप द्वारकाधीश की शरण में जाइए और उनके सामने अपनी समस्या रखिए। अब वे ही कोई-न-कोई मार्ग निकाल सकते हैं।’ ”

गुप्तचर का कहना था—“इतना सुनते ही दुर्योधन आगबबूला हो गया। उसने आपके बारे में बड़ी उलटी-सीधी बातें कहीं।”

मैंने मुसकराते हुए पूछा, “क्या कहा उसने मेरे बारे में?”

“अरे, जाने दीजिए। क्या करिएगा वह सब जानकर? यही समझिए कि वह आपको भी अपना शत्रु समझता है।” गुप्तचर पूरी बात बताने में हिचकिचाया।

“यह तो मुझे मालूम है।” मैंने कहा, “पर तुम निस्संकोच भाव से पूरी बात बता जाओ।”

फिर भी वह पूरा संकोचमुक्त नहीं हुआ और कुछ शब्दों तथा कुछ ध्वनियों का सहारा लेते हुए बोला, “उसने कहा, ‘वही तो सबसे कुटिल व्यक्ति है। हमारे विरुद्ध सारी परिस्थितियाँ उसीकी पैदा की हुई हैं। क्या तुम उसे भला समझती हो और उसकी शरण में जाने के लिए कहती हो? अरे, मेरा वश चलता तो मैं उस नीच का गला दबा देता! और देखना, मौका मिलने दो, मैं उसे कैसा मजा चखाता हूँ!’”

मैंने मन-ही-मन सोचा कि दुर्योधन के इस कथन का प्रचार होना चाहिए और इससे लाभ उठाना चाहिए। तब तक गुप्तचर बोला, “पर भानुमती ने उसके इस कथन का विरोध किया और कहा, ‘स्वामी, आपको स्वप्न में भी ऐसा नहीं सोचना चाहिए। हम-आप उनका कुछ नहीं कर सकते। वस्तुतः उनकी शरण में जाने में ही आपका हित है।’

“‘हुआ होगा तेरा हित।’ दुर्योधन तमतमाया—‘वह धूर्त है, धूर्त!’

“‘हाँ, मेरा तो हित हुआ है।’ भानुमती बोली।

“‘तो तू उसकी शरण में कभी गई थी?’

“‘हाँ, गई थी और आवश्यकता पड़े तो आज भी जा सकती हूँ।’

“‘तू उस नीच पर इतना विश्वास करती है! यह जानकर भी कि लाक्षागृह से लेकर द्रौपदी स्वयंवर तक वह मेरे विरुद्ध रहा है। हर जगह मेरी असफलता के मूल में उसीका हाथ रहा है। यह जानकर भी तू उसके पास जा सकती है! इसका मतलब है कि मुझे अपनी हत्या के पहले तेरी हत्या का निर्णय लेना होगा।’” गुप्तचर ने बताया—“इतना कहते-कहते दुर्योधन ने आवेश में आकर अपनी असि निकाल ली थी और भानुमती ने सहर्ष अपनी ग्रीवा भी झुका दी थी। यह तो कहिए, उसी समय बलंधरा ने पीछे के द्वार से आकर दुर्योधन का हाथ पकड़ लिया—‘यह क्या कर रहे हैं, जीजाजी?’

“‘यह हमारे शत्रु को अपना त्राता समझती है।’ दुर्योधन अब भी क्रोध में था।

“‘पर समझ के फेर को ठीक करने के लिए तलवार की नहीं, समझदारी की आवश्यकता पड़ती है—और वह आपमें कम नहीं है।’ बलंधरा के इतना कहते ही दुर्योधन ठंडा पड़ा। पर जाते-जाते उसने कहा, ‘अपनी बहन से कह दो कि अब वह उस धूर्त के यहाँ कभी नहीं जाएगी।’

“‘मेरी बहन ने आपका आदेश सुन लिया है। आप चिंतामुक्त रहें।’ बलंधरा मुसकराते हुए बोली और दुर्योधन आवेश में तप्त वायु के झोंके-सा चला गया।”

“तुमने तो ऐसा वर्णन किया जैसे तुमने अपनी आँखों से सब देखा हो।” मैंने गुप्तचर से कहा।

“अपनी आँखों से तो नहीं वरन् प्रमदा की आँखों से तो देखा ही है। उसने बड़े विस्तार से और नाटकीय ढंग से वर्णन किया था।” इसके बाद वह अप्रत्याशित रूप से चुप हो गया। मैं भी करवट बदलकर सोने की मुद्रा में आया।

तब तक गुप्तचर के मुख से पुनः निकल पड़ा—“बेचारी भानुमती!”

“अब क्या हुआ भानुमती को?”

“क्या नहीं हुआ!” गुप्तचर बोला, “अब वह निश्चित रूप से गुप्तचरी की अदृश्य दीवारों के बीच बंदी हो गई होगी।”

मैं मन-ही-मन सोचने लगा कि किस तनाव में जी रहा है हस्तिनापुर।

मुझे नींद कब आई, पता नहीं।

□

पुष्पवटी (आज का बुलंदशहर) से हस्तिनापुर की सीमा आरंभ हो जाती थी। इसके पहले ही हमने अपनी पूरी मुहिम को एक दिन का विश्राम दिया; क्योंकि हमें एक लौटती हुई विराट् वरयात्रा के रूप में हस्तिनापुर की सीमा में प्रवेश करना था, जिससे लोगों को हमारे वैभव और शक्ति का केवल अनुमान ही न लगे वरन् उनपर उसका आतंक भी पड़े।

हमने अपनी शोभायात्रा की नवीन साज-सज्जा की। आसपास से तूर्य, पणव, दुंदुभी तथा मजीरा बजानेवालों की कई गोल इकट्ठी की। अपनी परंपरागत वेशभूषा में सजे-धजे इस वादक समाज को हमने सबसे आगे किया। फिर भीम को एक सजे-सजाए हाथी पर बैठाया गया। पहले तो वह हिचकिचाया। महात्मा विदुरजी का भी कहना था कि यह क्या उपहास बना रहे हैं आप! उनके विचार से, पहले तो मुझे नेतृत्व करना चाहिए और यदि पारिवारिक नेतृत्व का ही प्रश्न है तो युधिष्ठिर को आगे करना चाहिए।

मैंने उन्हें एकांत में समझाया—“हम लौट तो अपने घर रहे हैं; पर यह हमेशा समझते रहना चाहिए कि हमारा घर भी रणक्षेत्र में बदल सकता है। इसीलिए मैंने भीम को आगे किया है कि उसे देखते ही हमपर दुर्योधन का जितना आक्रोश हो, उबाल खा जाए।” फिर मैं हँसते हुए बोला, “सिंह के आखेट के लिए जैसे मृगों को आगे किया जाता है वैसे ही सिंह के आक्रमण की आशंका से सिंह को ही आगे किया है।”

मेरे हँसने पर भी विदुरजी को हँसी न आई। वे बाद में गंभीर हो गए।

“आपने यहाँ तक सोच लिया?”

“परिस्थितियों ने मुझे सोचने के लिए बाध्य किया है।” मैंने कहा। पर मुझे क्या मालूम था कि द्वार पर खड़ा-खड़ा भीम मेरी बातें सुन रहा है। वह तुरंत भीतर आकर बोला, “इसका मतलब है, आप मुझे बलि का बकरा बनाना चाहते हैं!”

“नहीं, नहीं। महाशक्ति का अग्रपूजक!” मैंने उसके अहं को सहलाया—“तुम्हारा उचित स्थान तुम्हें दे रहा हूँ, जिसके तुम पहले से ही याचक रहे हो और जो केवल मार्ग भर के लिए तुमसे छीन लिया गया था।”

स्थिति विचित्र हो गई थी। भीम की आकांक्षा आगे-ही-आगे चलने की थी; पर जब उसे यह ज्ञात हो गया कि वह राजनीति का मोहरा बनाया जा रहा है, तब आगा-पीछा सोचने लगा।

मैंने उसे समझाया—“यह सही है कि राजनीति यह चाहती है और यह भी सत्य है कि उसे चाहना भी चाहिए। जो स्थान तुम माँगते थे, उसपर तुम्हारा अधिकार था। स्वयंवर में उपस्थित विघ्न वस्तुतः अर्जुन के धनुष ने नहीं, तुम्हारे पौरुष के उस चमत्कार ने जीता, जो वृक्षों को उखाड़-उखाड़कर आतंक में परिवर्तित हो गया। फिर द्रुपद की आधी सेना और इस समय का सारा वैभव तो तुम्हारा माँगा हुआ है। उधर दुर्योधन यदि किसीका लोहा मानता है तो तुम्हारा। उसकी उठी हुई गदा का उत्तर तो तुम्हीं दे सकते हो। तुम्हें इस रूप में देखकर उसकी आक्रामकता पनप भी सकती है और कछुए की तरह दुबक भी सकती है।”

अंत में उसने मेरी बात मान ली। मैंने उसके पीछे अश्वारोहियों की एक टुकड़ी लगाई; फिर धर्मराज का रथ। इसके बाद अर्जुन, नकुल, सहदेव के रथ। इसके पश्चात् भैया और मैं। लगभग मेरे साथ ही थे महात्मा विदुरजी।



इसके बाद कुंती बुआ के रथ पर द्रौपदी और अंत में सारी सेना। मैं और विदुरजी ऐसी स्थिति में थे कि पीछे रहते हुए भी किसी समय आगे आ सकते थे।

इसी बीच आचार्य धौम्य को भी हमने उनके आश्रम से बुला लिया था। उनके रथ की व्यवस्था धर्मराज से भी आगे की गई थी।

एक विचित्र बात और हुई। जिन लोगों को कांपिल्य से अपने आवास पर जाने का आग्रह किया था, उनमें से कई—मणिभान, उद्धव, चेकितान आदि अचानक आ गए थे। उनकी जिज्ञासा उन्हें खींच लाई। वे देखना चाहते थे कि हस्तिनापुर में पहुँचने पर हम लोगों की क्या स्थिति होती है? इससे हमारी व्यवस्था में कुछ गड़बड़ी अवश्य हुई, पर इससे हमारी शोभायात्रा काफी लंबी हो गई थी।

वस्तुतः यह वरयात्रा ही थी; क्योंकि सामान्य विवाह की तरह वर के आवास से ससुराल तक की कोई यात्रा तो की नहीं गई थी। इसलिए स्वयंवर में हुए विवाह की वर-वधू यात्रा ससुराल से घर की ओर थी।

एक दिन तो पुष्पवती में हमें मुहूर्त के चक्कर में रुक जाना पड़ा। अब तो हमारा सारा कार्यक्रम अपने पुरोहित आचार्य धौम्य के निर्देश पर आधृत था। यद्यपि वे कभी प्रसन्नचित्त दिखाई नहीं पड़े। गंभीर मौन उनपर छाया रहा। ऐसा लग रहा था कि उनकी आँखें भविष्य के किसी अदृश्य अनिष्ट पर लगी हों और उनका संपूर्ण व्यक्तित्व उसीसे आतंकित हो।

फिर भी, जो होना है वह तो होगा ही, फिर व्यग्रता कैसी? हमें चलना था और हम दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त में चल पड़े। सूर्योदय होते-होते हम हस्तिनापुर राज्य सीमा में प्रविष्ट हो चले थे। हमें आश्चर्य था कि राजपरिवार की ओर से हमारी अगवानी में कोई नहीं आया। अमात्य मंडल का कोई सदस्य भी नहीं। सीमा सुरक्षा के कर्मचारी अवश्य दिखे। पहली अगवानी उन्होंने ही की।

प्रहर भर दिन चढ़ते-चढ़ते हमें पश्चिम की ओर से धूल उड़ती दिखाई दी। हमें अनुमान लग गया कि सेना की कोई टुकड़ी आ रही है।

प्रशासन की ओर से सीमा प्रदेश में ऐसी उदासी देखकर हममें से बहुतों के मन में यह शंका उत्पन्न हुई कि कहीं हमें रोकने के लिए तो नहीं आ रहे हैं। यद्यपि इस शंका का कोई आधार नहीं बनता था, क्योंकि विदुरजी हमें बुलाने आए थे; पर शंकाकुल मन तो छाया में भी प्रेत ही देखता है।

आगे-आगे, सबसे ऊँचाई पर हाथी पर भीम के शरीर के अनुपात में उसकी बुद्धि कुछ छोटी थी। वह रह-रहकर अपनी गदा पर हाथ फेर रहा था।

ज्यों-ज्यों धूल के बादल निकट आते गए, वास्तविकता स्पष्ट होती गई। सुशर्मा के नेतृत्व में विकर्ण और चित्रसेन के साथ अगवानी में सेना आ रही थी। स्थिति विचित्र थी—इधर भीमसेन का नेतृत्व, उधर सुशर्मा का। मिलने पर भी टकराव की संभावना बनी थी।

आते ही सुशर्मा ने मेरे नाम का जय-जयकार आरंभ किया। अपने रथ में रखी माला भी उसने भीम को नहीं पहनाई वरन् रथ से उतरकर वह मेरी ओर लपका। मैं बड़ी क्षिप्रता से कूदकर उस ओर पहुँचा और पहली माला मैंने आचार्य धौम्य को पहनवाई। उसने उनके चरण छूते हुए यह भी कहा, “क्षमा कीजिएगा। दुर्भाग्यवश मेरी दृष्टि आपकी ओर गई नहीं।” फिर दूसरी माला युधिष्ठिर को और तीसरी माला के लिए मैंने भीम की ओर संकेत किया। “स्वयंवर के पीछे जिसकी सारी माया है, वह हमारी माला का पहला अधिकारी है।” सुशर्मा बोला और अपने हाथ की माला मेरे कंठ में डाल दी। फिर क्या था, दोनों दलों में मेरे लिए लगाए गए जयकार से आकाश गूँज उठा।

मैंने गले मिलते समय धीरे से कहा, “आपको ही कष्ट उठाना पड़ा!”  
“आना तो जीजाजी को अपने भाइयों के साथ था, पर उन्होंने मुझसे ही कहा कि तुम्हीं मेरी ओर से विकर्ण और चित्रसेन के साथ पांडवों की अगवानी करो।”

स्थिति तो मैं पहले से ही जानता था। फिर भी मेरी राजनीति ने मुसकराते हुए कहा, “अरे, इसमें व्यावहारिकता की कौन सी बात थी! कहीं घर लौटते हुए भी अगवानी की आवश्यकता है!”

फिर उसने विदुरजी को माला पहनाई और फिर सभी पांडवों तथा साथ चल रहे अन्य राजाओं को भी। इसमें उसका साथ विकर्ण और चित्रसेन ने भी दिया। अंत में सुशर्मा भीम की ओर चला। वह भी जब मैंने उसे उस ओर जाने का संकेत किया तब।

भीम तना हुआ हाथी पर बैठा ही रहा। सुशर्मा ने अपने रथ पर चढ़कर उसे माला पहनानी चाही, पर उसने गरदन नहीं झुकाई। आग्नेय दृष्टि से उसकी ओर देखा और माला हाथ में ले ली। उसे गले में डाली नहीं वरन् हाथी के मुँह की ओर बढ़ा दिया। हाथी उसे निगल गया।

भीम का यह व्यवहार सुशर्मा को क्या, मुझे भी अच्छा नहीं लगा; पर उस समय कोई कुछ बोला नहीं। दोनों तरफ के लोग गाजे-बाजे के पीछे एक साथ चलने लगे। लौटती हुई वरयात्रा धीरे-धीरे बढ़ती ही जा रही थी। जो भी मिलता, वही साथ होता जा रहा था। कुछ लोग कुछ दूर तक साथ चले और कुछ ने हस्तिनापुर तक चलने का कार्यक्रम बनाया था।

अब सुशर्मा का रथ मेरी बगल में था। बातों के क्रम में ज्ञात हुआ कि वह दो दिन पहले ही वहाँ पहुँच गया था। मैंने उसे बहुत खोदने की चेष्टा की, पर वह कुछ नहीं बोला। कई बार उसने भीम के इस व्यवहार की चर्चा की; पर मैं चुप ही रह गया।

अपने पुरोधा के आदेशानुसार, हमें आज संध्या के पूर्व हस्तिनापुर नगरी में प्रवेश करना था। अतएव हमने मध्यांतर का विश्राम नहीं किया। निरंतर चलते रहे। जब भीम के हाथी ने नगर के मुख्य द्वार में प्रवेश किया, तब अस्ताचल के पार जाते सूर्य का आशीर्वाद हमें मिल रहा था।

□

संध्या का रंगीन आँचल पसर चुका था। नगर प्रहरी उत्सवी वेश और अलंकरण से विभूषित थे। प्रथम स्वागत तो उनकी छलकती मुसकानों से भीगे अभिवादनों ने किया। यहाँ भी सेना की एक टुकड़ी के साथ विकर्ण ही उपस्थित था, जो हम लोगों के साथ आया था और शायद आगे बढ़कर उन लोगों में मिल गया था।

हम विजयी उत्साह में आगे बढ़े जा रहे थे। हस्तिनापुर नगरी आज नई दुलहन की तरह सजी थी। हर द्वार पर बंदनवार और हर कंठ में जय-जयकार था। छज्जों और मुँडेरों से झाँकती सुंदरियाँ अधरों से मुसकराहटों की और अंजुलि से फूलों की वर्षा कर रही थीं। धीरे-धीरे दिन डूबा और पूरे नगर में दीपमालाएँ झिलमिलाने लगीं। ऐसा लगा, सांध्य किरणों की मुसकराहटें ही इन स्वागत दीपों के स्नेह में डुबकियाँ लगा रही हैं। सारे नगर में दीवाली हो गई।

नगरवासियों में ऐसा उत्साह तो इसके पहले कभी नहीं देखा गया था। लोग भीम को हाथी पर देखते ही जय-जयकार करते, नाचते-कूदते आगे-आगे चलने लगे। पुरुषों की भीड़ हमारे साथ हो लेती। नारियों की भीगी आँखें अपने-अपने द्वारों और छज्जों से उन बड़भागे वीरों को खोजने में लगी थीं, जो लाक्षागृह की धधकती आग से तपकर निकले थे। इस उत्साह में द्रौपदी स्वयंवर गौण हो गया था। जयकारों के बीच-बीच में यह भी सुनाई पड़ा — ‘अभिनव प्रह्लाद अमर हो!’ कई जगह तो केसर और कुंकुम के रंग-बिरंगे जल का भी छिड़काव हुआ।

होली में डूबी यह दीवाली कितनी रंगीन थी, सो कैसे बताऊँ!

अंत में हम प्रासाद द्वार पर पहुँचे। पितामह के साथ धृतराष्ट्र सबसे आगे खड़े दिखाई पड़े। उनके पीछे की पंक्ति आचार्यों की थी; जिसमें आचार्य द्रोण, कृप और कौरवों के पुरोधा सोमदत्त थे।

आचार्य धौम्य को देखते ही सोमदत्त आए और उन्होंने उनके चरण स्पर्श किए; क्योंकि वय में धौम्य बड़े थे। उनकी ख्याति भी उनसे अधिक थी। हम अपने-अपने वाहनों से उतरकर पितामह के चरणों की ओर झुके; पर उन्होंने ठहरने का संकेत किया। भरे हुए स्वर्ण-कलशों पर जलते दीप लिये बहुत सारी कुमारियाँ द्वार पर आ गई थीं। एक सौ एक ब्राह्मणों ने स्वस्तिवाचन आरंभ किया। इसी बीच मैंने देखा कि पितामह एक अमात्य से कुछ कह रहे हैं। वह तुरंत विदुरजी के पास आया। अब विदुरजी भी अपने रथ से उतरे। उन्होंने सभी पांडवों को एकत्रित किया। कुंती एवं द्रौपदी को भी रथ से उतारा और एकदम आगे सिंहद्वार पर पंक्तिबद्ध खड़ा कर दिया। आगे द्रौपदी और कुंती, पीछे पाँचों पांडव।

तब तक विदुरजी को जैसे कुछ याद आया। वे दौड़े हुए मेरे पास आए और बोले, “आप भी चलिए।” “मेरी क्या आवश्यकता!” मैंने हँसते हुए कहा, “मेरा विवाह द्रौपदी से थोड़े ही हुआ है।”

विदुरजी हँसने लगे।

“पर उनके अभिभावक तो इस समय आप ही हैं।”

मैं विदुरजी के साथ चल पड़ा; क्योंकि मुझे हर कोई दिखाई दे रहा था, पर दुर्योधन, कर्ण और शकुनि कहीं दिखाई न पड़े। मेरी दृष्टि उन्हींको खोज रही थी।

ऐसी स्थिति में मैंने पांडवों को अकेला छोड़ना उचित नहीं समझा।

मैंने विदुरजी के कान में कहा, “अच्छा होता, यदि आप भैया एवं उद्धव आदि को भी आगे बुला लेते। कहीं वे कुछ अन्यथा न समझें।”

मेरी प्रार्थना तुरंत सुनी गई। मैं एक अमात्य के साथ धीरे-धीरे आगे बढ़ा और वे उन लोगों को बुलाने पीछे मुड़े। यह काम वे किसी अमात्य से भी ले सकते थे, पर विदुरजी ने इसे स्वयं संपन्न कर गरिमा प्रदान की।

थोड़ी देर तक यह मांगलिक कार्यक्रम चलता रहा। फिर हम लोगों ने बड़ों के चरण छुए और उन लोगों ने हमारे सिर सँघकर आशीर्वाद दिए।

फिर पितामह ने गांधारी से बहू और कुंती को अपने साथ ले जाने के लिए कहा। मंत्रोच्चार के बीच द्रौपदी आगे बढ़ने वाली थी कि मैंने धीरे से पितामह के कान में कहा, “हम लोगों ने मार्ग में ही सोच रखा था कि चलते ही सबसे पहले प्रपितामही के प्रासाद में चलेंगे और उनका आशीर्वाद लेंगे। अब आप जैसा कहें।”

“ठीक है।” पितामह बोले और उन्होंने गांधारी को रोक दिया। एक रहस्यमयी बिजली-सी लोगों के मनों पर चमक उठी कि मैंने कौन सा मंत्र पितामह के कान में फूँका कि उन्होंने अपना आदेश वापस ले लिया।

इधर हस्तिनापुर का सारा प्रशासन आगंतुकों को ठहराने की व्यवस्था में लगा। भीड़ भी छँटने लगी थी। कुछ लोगों की आँखें पांडवों से ऐसी चिपकी थीं कि उन्हें छोड़ना ही नहीं चाहती थीं; जैसे शरीर का हर अंग टटोलकर देख रही हों, कहीं तो जले का चिह्न रह गया होगा। उनके प्रेम के आँसू जब रह-रहकर झलकते थे, आह की तरह एक गगनभेदी जय-जयकार भभक उठती थी।

अब हम मिलने की औपचारिकता में लगे। द्रौपदी एवं कुंती बुआ महिलाओं की ओर चली गईं और हम लोग कौरवों की ओर। अब मैंने दुर्योधन, कर्ण, शकुनि, दुःशासन आदि को एक जगह गिरोह बनाकर खड़े देखा। उन्हींमें अश्वत्थामा भी था। ये लोग अमात्यों की पंक्ति के पीछे एकदम बुझे-बुझे थे। सबकी आकृतियों पर एक विशेष पराभवबोध छाया था; या हो सकता है, मेरी आँखें ही उन्हें ऐसा देख रही हों।

विचित्र स्थिति थी। युधिष्ठिर तो आगे बढ़ गए। मेरे संकेत पर अन्य पांडवों ने भी उनका अनुसरण किया; पर भीम उधर जाने को तैयार नहीं था। वह मेरे साथ ही रह गया।

तब तक मैंने देखा, उद्धव एक जुलजुल वृद्ध को टेकाए लिये चला आ रहा है। उसके सिर और श्मश्रु के बाल बिल्कुल पके हैं। मैंने सोचा कि कोई आश्रमवासी है; पर आश्रमवासी की यहाँ आवश्यकता क्या! मैं यही सोच रहा था कि वह मेरे चरणों पर गिर पड़ा।

“आपने इसे पहचाना?” उद्धव बोला।

मैंने बड़े गौर से देखा। स्मृति को टटोला, पर किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा। मेरी प्रश्नवाचक मुद्रा गहरी होती चली गई।

“यह विरजा है।” उद्धव ने कहा।

फिर भी मैं पहचान न सका।

अब उसने वृद्ध का विशेष परिचय दिया—“आपको याद होगा, जब मैं आपके आदेशानुसार वारणावत आया था, तब इन्हींको मेरी सेवा में पुरोचन ने लगा रखा था।”

इतना कहना था कि एक सन्नाटा बहुतों के अधरों पर चिपक गया। उनकी दृष्टि उसपर लग गई। भीड़ में कोलाहल और जय-जयकार चलता रहा।

कौरवों की ओर से एक अचरज भरी आवाज सुनाई पड़ी—“अरे, अभी यह जीवित है!”

यह सुनते ही मेरी आकृति पर एकटक लगी उस वृद्ध की आँखें झरने लगीं और फफकते हुए बोला, “उसी पाप के प्रायश्चित्त के लिए तो मैं अभी तक जीवित हूँ।” और फिर मेरे चरणों पर वह गिर पड़ा।

यही मुझे भी आश्चर्य था। कौरवों ने उस षड्यंत्र के लगभग सभी सूत्रों को नष्ट कर दिया था। यह अभी तक जीवित कैसे रह गया? अब तो यह मेरी शरण में है। इसकी रक्षा करना मेरा धर्म है। मेरा यही कर्तव्यबोध कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन के सामने बोला था—‘मामेकं शरणं ब्रज’।

मैंने उद्धव से तुरंत कहा, “इन्हें मेरे रथ पर ले जाओ और दारुक को सहेजो।” फिर मैं आगे बढ़ा और पांडवों को लेकर सीधे उधर पहुँचा जिधर दुर्योधन था।

धर्मराज के चरण छूने के लिए वह इतनी आत्मग्लानि से झुका जैसे अहं का हिमालय टूटकर गिर रहा हो।

संयोग कुछ ऐसा कि उसी समय भीड़ का उन्माद एक बार फिर उभरा—‘अभिनव प्रह्लाद अमर हो!’

अब दुर्योधन का मानसिक संतुलन विकृत होना स्वाभाविक था। मैंने उसकी मनःस्थिति समझ ली। तुरंत भीम को पीछे कर मैं आगे आया। वह मुझे वक्ष से लगाने में हिचकिचाया। मिलने-मिलाने के झंझट में न पड़कर मैंने सोचा कि आयु में तो यह मुझसे बड़ा है ही। मैंने तत्क्षण झुककर उसके चरण छू लिये। वहाँ खड़े हर व्यक्ति को जैसे काठ मार गया और दुर्योधन तो जैसे पानी-पानी हो गया।

शकुनि से रहा नहीं गया। आखिर वह बोल पड़ा—“कन्हैया ने यहाँ भी तुझे पराजित ही कर दिया, भानजे।”

“मामाजी, आप भी अद्भुत हैं! श्रद्धा और सत्कार को भी चौपड़ की गोटियों की तरह ही देखते हैं।” मैं जानता था कि मामा चौपड़ का बहुत अच्छा खिलाड़ी है।

मेरे कथन पर सब हँस पड़े। यहाँ तक कि चिंताकुल और गंभीर महाराज धृतराष्ट्र के अधरों के बीच भी मुसकराहट दौड़ गई। फिर उस अहं के हिमालय ने भी मुझे छाती से लगाया; पर कोई प्रेम की गंगा नहीं फूटी। यह मात्र औपचारिकता थी।

यदि यह नाटक नहीं हुआ होता तो भीम और दुर्योधन की अहम्मन्यता कभी एक-दूसरे को गले न लगाती। मेरे

हटते ही दोनों मिले।

दुर्योधन ने भीम को दोनों हाथों से कसते हुए कहा, “तू तो जंगल-जंगल भटककर भी इतना मोटा हो गया है।” “मेरा तो शरीर ही मोटा हुआ है, तेरी तो दृष्टि भी मोटी हो गई है।” भीम ने अप्रत्याशित रूप से इतना अच्छा उत्तर दिया।

“इसे आपने अब अनुभव किया है!” यह आवाज भीड़ से आई थी; पर किसने कहा? लोगों की आँखें उसे खोजती रह गईं।

“अच्छा हुआ कि तुमने मेरे भानजे की बुद्धि को मोटा नहीं कहा। तुम्हारी निगाह उसकी दृष्टि को ही तौलती रह गई।” शकुनि ने फिर दाँव मारा।

“आखिर यह (भीम) भी तो है आपका भानजा।” मैंने कहा, “इसे क्या आप मूर्ख समझते हैं?”

अब मामा मुसकराते हुए जो चुप हुआ तो चुप ही रह गया।

स्वस्तिवाचन आदि की औपचारिकता में लगभग दो घड़ी बीत गई। भीड़ भी बहुत कुछ छँट गई; पर कुछ लोग अभी भी बाहर खड़े थे।

मैंने धर्मराज से हँसकर कहा, “आप मंचक पर खड़े होकर हस्तिनापुर की जनता का उसके इस उल्लास भरे स्वागत के लिए आभार व्यक्त कीजिए, तभी लोग हटेंगे।”

उन्होंने ऐसा किया भी और सचमुच प्रजा लौट गई।

युधिष्ठिर से ऐसा कराने के पीछे मेरी एक राजनीति थी। मैं प्रजा के मन पर युधिष्ठिर के युवराज होने के पूर्व छवि स्थापित करना चाहता था और हुआ भी ऐसा ही। अनजाने ही धर्मराज का संक्षिप्त भाषण बड़ा उपयोगी था।

मंच पर खड़े होकर उन्होंने कहा, “हम आपकी हर्षोल्लास भरी अगवानी से अभिभूत हैं। हम तो अपने घर आए हैं। अब आप भी अपने घर जाकर विश्राम करें और हमपर ऐसी ही कृपा बनाए रखें तथा अपनी सेवा का अवसर दें।”

धर्मराज ने तो बड़े सहजभाव से यह बात कही थी; पर उनका एक-एक शब्द कौरवों के मन में बड़ी गहराई तक चुभा। हर शब्द की अर्थवत्ता कहनेवाले की मानसिकता के अनुसार कम और सुननेवाले की मानसिकता के अनुसार अधिक होती है। कौरवों की मानसिकता ही ऐसी थी कि युधिष्ठिर के इस सहज और स्वाभाविक कथन को भी वे पहले से मेरा सिखाया-पढ़ाया भाषण मान बैठे। दुर्योधन तो एकदम तनावग्रस्त हो गया। कर्ण और मामा को खींचकर वह उद्यान की ओर ले गया। मैंने मुसकराते हुए छंदक की ओर देखा। वह स्वयं तो नहीं गया, पर उसने व्यवस्था कर दी—यह पता लगाने की कि वे लोग वहाँ जाकर क्या बातें करते हैं।

मैंने पितामह से कहा, “अब आप हम लोगों की व्यवस्था करें।”

“क्या व्यवस्था करनी है?” महाराज धृतराष्ट्र बोले, “सारी व्यवस्था हो चुकी है। आप प्रासाद में चलें।”

“इन लोगों का संकल्प है कि ये पहले अपनी प्रपितामही का चरण स्पर्श करेंगे और उनसे आशीर्वाद लेंगे।” पितामह बोले।

महाराज को जैसे झटका-सा लगा। वे बोले, “यह इनका संकल्प है या आपकी सलाह है इन्हें?”

पितामह ने हँसते हुए कहा, “नहीं, यह इनका पूर्व संकल्प है। आते ही आपकी व्यवस्था के अनुसार, जब मैंने इनसे प्रासाद में चलने को कहा था, तभी कन्हैया ने मेरे कान में यह संकल्प बताया था।”

“ओ, तो यह कन्हैया की योजना है! तब अवश्य ले जाइए इन्हें वहाँ।”

“आप नहीं चलेंगे?”

“मेरा तो आज कोई संकल्प है नहीं।” फिर शायद उन्हें लगा कि मुझे ऐसा नहीं कहना चाहिए था। उन्होंने स्वयं को सँभाला—“काफी अँधेरा हो चुका है और गांधारी तो वधू के साथ गई ही है।”

लोगों ने बड़ी सहजता से उस मनःस्थिति का अंदाज लगा लिया, जब अंधे को भी अँधेरा भारी पड़ता है।

□

हम लोग प्रपितामही सत्यवती के महल की ओर बढ़े। चंद्रहीन तारों से भरा आकाश भी धरती की तरह दीवाली मना रहा था। माघ की कँपकँपाती रात स्वयं ठिठुरने लगी थी।

हमारे साथ कुछ ही लोग रह गए थे। कुछ कौरव बंधु शकुनि और दुर्योधन के साथ पहले ही चले गए थे। कुछ महाराज के साथ हो लिये थे। कृपाचार्य और कौरव पुरोहित सोमदत्त भी उन्हींके साथ चले गए। हमारे साथ रह जानेवालों में पितामह और आचार्य द्रोण तथा विकर्ण प्रमुख थे। विकर्ण के दो भाई भी उसके साथ थे ही।

मैंने देखा कि पीछे उद्धव और छंदक आ रहे हैं। मैंने अपनी चाल धीमी की और धीरे-धीरे पीछे होते-होते उस झुंड से अलग हो गया। भैया तो उसके साथ थे ही।

मुझे तो शरणागत की चिंता थी। मैंने उद्धव से पूछा, “उस वृद्ध का क्या हुआ?”

“आपके आदेश के अनुसार उसे दारुक को सहेज दिया है। क्या आप उसे द्वारका ले जाएँगे?”

“यह तो बाद में सोचा जाएगा।” मैंने कहा, “स्थिति को देखते हुए तो यहाँ का एक-एक पल उसे भारी पड़ेगा।”

फिर मैंने छंदक की ओर देखा। उसने बताया—“उद्यान में बैठक चल रही है। बस आपकी ही चर्चा है।”

“क्या?”

“पहले तो यही जिज्ञासा है कि आपको यहाँ कौन ले आया है! अवश्य ही यह विदुर की चाल होगी। यदि ऐसा है, तो उससे बड़ा हम लोगों का कोई शत्रु नहीं।”

फिर मैंने उससे कुछ नहीं पूछा। स्थिति तो समझ ही गया था। फिर चलते-चलते उस भीड़ में कुछ पूछना मैंने उपयुक्त भी नहीं समझा।

आगे जानेवालों से मेरी दूरी काफी बढ़ गई थी। लगता है, वे अपनी बातों में इतने तल्लीन थे कि मेरी अनुपस्थिति की ओर किसीका ध्यान ही नहीं गया।

अब मैंने अपने साथ के लोगों को आगे बढ़ाया और कहा, “आप लोग चलें, मैं अभी आता हूँ।”

फिर उद्धव को लेकर मैंने मार्ग बदल दिया। उधर से चला, जिधर से दुर्योधन का प्रासाद पड़ता था। इधर का अंधकार अत्यधिक घना था। हस्तिनापुर की दीवाली के पाँव इधर का अंधकार देखकर शायद ठिठक गए थे।

मैंने दूर से ही देखा कि दुर्योधन के प्रासाद द्वार पर कोई खड़ा है। प्रहरी होगा, पहले मैंने सोचा। फिर कुछ और बढ़ने पर आभास हुआ—अरे, यह तो कोई नारी है। जिज्ञासा बढ़ी, गति तेज हुई। अरे, यह तो बलंधरा है। उद्धव ने भी पहचान लिया।

पहुँचते ही वह कुछ पूछे, इसके पहले ही मैं बोल पड़ा—“बहुत अंधकार में खड़ी हो, बलंधरा! लगता है, हस्तिनापुर की दीवाली के पैर इस महल तक आते-आते उखड़ गए।”

पहले तो वह सकपकाई। फिर बोली, “नहीं, दीये तो जलते रहे। अभी बुझे हैं।”

“यहाँ दीप भी कितने अनुशासित हैं! जलें भी एक साथ और बुझें भी एक साथ।” मैंने व्यंग्य किया—“आखिर दुर्योधन का अनुशासन है!”

वह हँस पड़ी। हँसने के अतिरिक्त उसके पास कोई उत्तर तो था नहीं। हम लोगों ने भी उसकी हँसी का साथ दिया।

अब बात वही मार्ग पर ले आई—“आखिर इधर कैसे?”

मैं जानता था, दुर्योधन तो होगा नहीं। फिर भी मैंने कहा, “तुम्हारे जीजा से मिलने आया था।”

वह बोली, “पर जीजाजी तो अभी आए नहीं हैं।”

“अभी आए नहीं! अचरज है। वहाँ से तो वे बहुत पहले चल पड़े थे।” मैंने कहा, “लगता है, वे भी प्रपितामही के महल की ओर गए होंगे। मैं भी उधर ही जा रहा हूँ।”

“अभी तो आप हस्तिनापुर में रहेंगे न?” उसने पूछा।

“तेरा यह प्रश्न बड़ा विचित्र है। कब कहाँ रहूँगा, मैं स्वयं नहीं जानता। मैं तो यहाँ भी आना नहीं चाहता था, पर आ गया।”

“किंतु हम लोगों को विश्वास था कि आप अवश्य आएँगे।”

“हो सकता है, आप लोगों का विश्वास ही खींच लाया हो।” इतना कहकर मैंने एक सलज्ज नमस्कार किया और चल पड़ा।

“आपने बड़ी जल्दी पिंड छुड़ाया।” उद्धव बोला।

“मेरा काम हो गया और चल पड़ा।” मैं मुसकराया। चलते-ही-चलते मैंने उद्धव से कहा, “उस सिंह की माँद में उसकी अनुपस्थिति में अवश्य जाना चाहिए, जो आक्रामक होने वाला हो। इससे उसकी सारी आक्रामकता यह सोचने में लग जाएगी कि आखिर मेरा शिकार मेरी माँद में क्यों आया था?”

जब हम प्रपितामही के द्वार पर पहुँचे तो देखा कि कई लोग बड़ी व्यग्रता से मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। कई वृद्धों के मुख से एक साथ निकला—“कहाँ रह गए थे?”

“आप लोग भीतर नहीं गए?”

“तुम्हारी अनुपस्थिति में हम प्रवेश कैसे करते!” पितामह बोले।

पर सबसे अधिक व्यग्र विदुरजी लगे। उन्होंने धीरे से मेरे कान में कहा, “आप कई कुदृष्टियों के केंद्र में हैं। आपको सजग रहना चाहिए।”

मैंने मुसकराते हुए उनकी बातें सुन लीं।

अब हम लोग प्रपितामही सत्यवती के कक्ष में पहुँचे। प्रपितामही द्रौपदी को अपने से सटाए बैठी थीं। उनकी आँखों से ममता झर रही थी। विह्वलता में कंठ अवरुद्ध था। फिर भी सिर सहलाते हुए वह बोल रही थीं—“लोग कहते हैं, तू याज्ञसेनी है। यज्ञ की अग्नि से जनमी है। तेरी तेजस्विता भी ऐसी लगती है; पर मेरे लिए तू लाक्षागृह की अग्नि से पैदा हुई है।”

मैंने देखा कि इतना सुनते ही गांधारी के साथ ही उनके पुत्रों की दृष्टि एकदम झुक गई और पांडव भी इस स्पष्टवादिता से सकपका-से गए थे।

अब तक सत्यवती की दृष्टि मुझपर नहीं पड़ी थी।

पितामह बोल पड़े—“द्वारकाधीश आपके चरण स्पर्श करना चाहते हैं।”

उन्होंने तुरंत द्रौपदी को गोद से हटाया और मेरी ओर देखकर परम प्रसन्न हो बोलीं, “आओ बेटे, आओ।”

मैं उनके चरणों पर गिर पड़ा।

उन्होंने वृद्धों की तरह सिर सँघकर आशीर्वाद दिया और बोलीं, “तुमने आकर बहुत अच्छा किया, कन्हैया; क्योंकि अभी लाक्षागृह बुझा नहीं है। वारणावत में तो वह दृश्य था, पर हस्तिनापुर में वह अदृश्य है और बहुतों के हृदय में जल रहा है।”

मैं कुछ बोलने की स्थिति में नहीं था। कौरव पक्ष तो जैसे धरती में गड़ा जा रहा था। पांडवों की प्रसन्नता गंभीरता

ओढ़े रही। एक विचित्र सहमा-सहमा-सा सन्नाटा हमें घेरे रहा।

प्रपितामही उस सन्नाटे पर बराबर प्रहार करती रहीं। उन्होंने मुझे ही संबोधित करते हुए कहा, “मैं यह तो नहीं कहती कि तुम उस आग से खेलो; परंतु यह अवश्य कहूँगी कि उसे बुझाने की व्यवस्था करो। ऐसा कुछ जरूर करो, कन्हैया, कि इस जलती मरुभूमि में प्रेम की गंगा बहे।”

लोग मेरी ओर देखने लगे। पर मैं क्या कहूँ, कुछ समझ नहीं पाया। हाथ बाँधे खड़ा रहा।

वे पुनः बोलीं, “तुम कुछ बोलते क्यों नहीं, कन्हैया?”

“क्या कहूँ, प्रपितामही? लाक्षागृह की आग मेरे लिए अदृश्य रही और आपके कथनानुसार यहाँ के लोगों के हृदयों में जल रही आग तो अदृश्य है ही। न मैं उस अग्नि का निवारक था और न मैं इस अग्नि का निवारण कर सकूँगा। नियति उस अग्नि का कारण थी और निवारक भी बनी; वही इस अग्नि का निवारण करेगी। हम सब तो उसके हाथ के खिलौने हैं।”

एक गहरी आह पितामह ने भरी। स्पष्ट लगा कि उनके भीतर भी कुछ जल रहा है।

इस बीच प्रपितामही एकटक मेरी ओर देखती रहीं; जैसे वे बहुत कुछ कहना चाहकर भी कुछ कह नहीं पा रही हों। फिर उन्होंने द्रौपदी की गोद भरी। युधिष्ठिर को तिलक किया। पांडवों को आशीर्वाद दिया। फिर कुंती से कहा, “अपनी वधू और पुत्रों को साथ लेकर मेरे यहाँ तो तुम चली आई, पर यहाँ से गांधारी इन्हें प्रासाद में ले जाएगी और अपने पति से आशीर्वाद के साथ ससुराल का प्रथम उपदेश दिलाएगी। हम विधवाओं का ऐसे शुभ कार्य में आगे आना उचित नहीं।”

अब आदेशानुसार गांधारी आगे-आगे चली। कुंती वहीं रह गई।

हम लोग भी चलने को हुए कि मुझे अचानक टोका गया—“और सुनो, कन्हैया, बिना मुझसे मिले हस्तिनापुर मत छोड़ना।”

“आप ऐसा कैसे सोचती हैं?” मैंने कहा, “जब भी जाने लगूँगा, आशीर्वाद लेने आऊँगा ही।”

“आशीर्वाद के लिए ही नहीं, आदेश के लिए भी।” उन्होंने बड़ी गंभीरता से कहा। श्वेत केशराशि से आच्छादित और धवल वेश से परिवेष्टित प्रपितामही की आवाज हिमालय से बिच्छुरित वह्नि की तरह चारों ओर बिखर गई।

□

प्रपितामही के प्रासाद से हम बाहर निकले। रात्रि का कैशोर्य तरुणार्द्र की ओर बढ़ने लगा था। हमारे साथ आए हमारे मित्र तो साथ थे ही, पितामह, द्रोणाचार्य और विदुरजी भी थे। सबको लग रहा था कि आज प्रपितामही ने खुलकर बातें कीं। पितामह के विचार से तो वे बहुत दिनों से भरी थीं। आज अचानक फूट पड़ीं। निश्चय ही कौरव कुल पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

विदुरजी का तो कहना था—“मेरे पहुँचने के पहले पांडवों को देखकर प्रपितामही की विह्वलता पागलपन की सीमा तक पहुँचने-पहुँचने को हो गई थी। वह पांडवों का शरीर सहला-सहलाकर कह रही थीं—‘लाख का महल जल गया और तुम्हें आँच तक नहीं आई। बड़ी निर्लज्ज है तुम्हारी जिंदगी, जो हर परिस्थिति के सामने सिर झुका लेती है, सबकुछ सह लेती है।’”

“यह तो कौरवों के विरुद्ध पांडवों को भड़काना हुआ।” मैंने कहा।

“पर चाहे जो हो।” विदुरजी ने कहा, “आज पता नहीं क्या हो गया था उन्हें! वे ऐसी भाषा बोल रही थीं कि हम सबको दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ी। उन्होंने यहाँ तक कह डाला—‘संसार के लिए तो तुम भस्म हो गए थे। हमें क्या पता था कि एक दिन तुम सब प्रेत की तरह हस्तिनापुर में उपस्थित हो जाओगे।’”

मैं भी स्तब्ध रह गया। अवश्य ही उन्होंने अपना संतुलन खो दिया होगा, मैंने सोचा। पर मैंने कोई प्रतिक्रिया



व्यक्त नहीं की; क्योंकि पितामह और आचार्य द्रोण भी चुप थे। पुरोहित सोमदत्त तो जैसे कुछ सुन ही न रहे हों। थोड़ी देर बाद वे भी अभिवादन कर, 'अच्छा, मैं चलूँ। मुझे कल प्रातः यात्रा पर जाना है।' कहकर चले गए।

अब स्थिति स्पष्ट थी। राजप्रासाद गंभीर रूप से तनाव में था। मैंने जो आते ही तनावमुक्त करने की चेष्टा की थी, प्रपितामही की वाणी से वह लगभग धुल गया होगा। यों भी मैं कौरवों की दृष्टि पर चढ़ा था; फिर भी इस समय प्रपितामही द्वारा रोके जाने पर तो और भी चढ़ गया होऊँगा। उनका सारा क्रोध मुझपर ही उतरेगा। ऐसे में अतिथिगृह में रहना क्या निरापद होगा?

“क्या सोच रहे हैं, कन्हैया?” पितामह ने कहा।

“सोच रहा हूँ कि इस समय किधर चलूँ!”

“आपके ठहरने की भव्य व्यवस्था अतिथिगृह में की गई है।” आचार्यजी बोले।

“यह तो मैं जानता हूँ। यहाँ के लोग भले ही मुझे अतिथि समझें, अतिथिगृह में मेरी व्यवस्था करें; पर मैं तो प्रासाद में ही रह सकता हूँ। उसपर भी अपना अधिकार समझता हूँ। पर इस समय मेरा मन शांति चाहता है। कई दिनों का थका हूँ। सोचता हूँ, यहाँ की राजनीति और वैभव से दूर किसी उपवन प्रकोष्ठ में विश्राम करूँ। इसके लिए आपके यहाँ चल सकता हूँ, पितामह के यहाँ भी और चाचाजी (विदुर) के यहाँ भी।”

“सभी का द्वार आपके लिए खुला है।” पितामह बोले।

“सो तो मैं जानता ही हूँ।” मैंने कहा, “आपके यहाँ और आचार्यजी के यहाँ तो वह संकट रहेगा ही। प्रासाद में न रहकर भी प्रासाद में ही रहूँगा। कोई-न-कोई धमक ही पड़ेगा। मुझे वस्तुतः गंभीर खराटे की आवश्यकता है।” इसके लिए मैंने स्वयं ही विदुरजी से पूछा, “यदि मैं आपके यहाँ चलूँ तो कैसा हो?”

“मेरा सौभाग्य होगा।” वे प्रसन्न होकर बोले।

फिर सबको अभिवादन कर मैं उनके साथ हो लिया। पहले तो मैंने उद्धव को अतिथिगृह के उस कक्ष में भेजना चाहा, जो मेरे लिए आवंटित था। फिर मेरे मन में बैठा आतंक ऐसा करने से सकुचाया। उद्धव पर ही कोई आपदा आ गई तो? तब तो मैं कहीं का नहीं रहूँगा। तो फिर किसे भेजूँ? राजनीति कह रही थी कि उस कक्ष को खाली नहीं छोड़ना चाहिए। ऐसी स्थितियों के लिए मेरे पास एक ही व्यक्ति था—और वह था छंदक। मैंने उसे भेज दिया।

मेरे इस निर्णय से विदुर महाराज बड़े प्रसन्न थे। यद्यपि मैं यहाँ रहकर भी उन्हींके पास रहता; पर इस समय एक क्षण के लिए भी मुझे वे यहाँ छोड़ना नहीं चाहते थे। मेरी तरह उन्हें भी विश्वास था कि मेरा यहाँ रहना निरापद नहीं है; पर अभी तक वे चुप थे। जब रथ पर मुझे बैठाकर चल पड़े तब उन्होंने मेरे कान में धीरे से अपनी मंशा व्यक्त की। मुझे हँसी आ गई।

“रथ पर भी आप इतने धीरे से कह रहे हैं?” मैंने कहा, “सारथि तो आपके अपने व्यक्ति हैं।”

“सारथि से मुझे खतरा नहीं, खतरा तो अश्वों से है।” विदुरजी ने व्यंग्य करते हुए कहा, “अब हस्तिनापुर में अश्व भी विश्वस्त नहीं रह गए हैं।”

मुझे हँसी आ गई और विदुरजी भी हँसे; पर सारथि गंभीर था। मैं बराबर उसकी ओर देख रहा था। उसने इस व्यंग्य को अपने ऊपर लिया। अवश्य ही इसका पहले की किसी घटना से संबंध रहा होगा, जो मेरे लिए अनजान थी।

“पहले तो इतनी खराब स्थिति नहीं थी, हस्तिनापुर इतना बदल कैसे गया?” मैंने कहा।

“जब से पांडवों के जीवित होने का समाचार यहाँ आया है तब से संशय और अविश्वसनीयता का जैसे यहाँ ज्वालामुखी फूट पड़ा। मनुष्य मनुष्य का विश्वास नहीं करता। पशु तक हमारी स्थिति पर हँसते होंगे।”

भवन में प्रवेश करते हुए बड़ी आत्मीयता से उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए कहा, “इस सारी स्थिति के केंद्र में एकमात्र व्यक्ति है और उसका नाम है शकुनि। ऐसा विचित्र व्यक्ति तो मैंने संसार में नहीं देखा। जब कोई नहीं मिलता तो वह सुनसान कक्ष में अकेले ही चौपड़ की बिसात बिछाता है और स्वयं अपने से खेलता है।”

“यही स्थिति उनकी राजनीति में भी होगी। जब कोई नहीं मिलता होगा तो वह अपने से राजनीति भी करते होंगे।” मैंने कहा।

“हाँ, वह बहुधा कहता भी है कि मैं हस्तिनापुर की राजनीति को चौपड़ के पासे की तरह खेलता हूँ।”

“आग भी जब दूसरों को जला नहीं पाती तब स्वयं को ही जलाती है।” मैंने कहा।

हम बातों में ही रह गए। रात आधी जा चुकी थी। तुरंत मेरे विश्राम की व्यवस्था की गई।

कब तक सोता रहा, पता नहीं। जब उठा तो सूर्य गवाक्ष से झाँकता हुआ मेरे प्रणाम की प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे लगा कि आज काफी देर हो गई है। मैंने अनुभव किया कि ब्राह्म मुहूर्त में उठने का मेरा क्रम यात्रा में टूट जाता है। इसीसे ध्यान और योग में गड़बड़ी पड़ती है। फिर भी मैंने ऐसा अभ्यास कर लिया था कि किसी समय, कहीं भी मैं ध्यान कर सकता था। कभी-कभी तो रथ पर चलते हुए भी मैं ध्यानावस्थित हो जाता था।

इस समय परिचरों से ज्ञात हुआ कि दो बार विदुरजी मुझे देख गए हैं। वे जलपान पर मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैंने तुरंत संदेश भेजा कि वे जलपान कर अपनी दिनचर्या आरंभ करें। मुझे अभी घड़ी भर से भी अधिक समय लग सकता है।

दिन का प्रथम प्रहर निकल गया—और आपको जानकर आश्चर्य होगा कि विदुरजी अंत तक मेरी प्रतीक्षा में बैठे रहे। जब मैं पहुँचा, तभी उन्होंने जलपान किया। जलपान के बीच ही उन्होंने बताया—“दो बार महाराज के यहाँ से मेरी बुलाहट हो चुकी है। विचित्र बात तो यह है कि तुम्हारे मेरे यहाँ ठहरने के पीछे भी गंभीर राजनीति दिखाई दे रही है।”

“मैं सोचता हूँ कि मुझे वहीं ठहरना चाहिए था।” मैंने उनका मन लेने के लिए कहा, “ऐसा तो नहीं कि मैंने वहाँ न ठहरकर राजकीय मर्यादाओं का अपमान किया हो?”

“यह बात कही जा सकती है।” विदुरजी बोले, “और वे लोग इसका प्रचार भी करेंगे; पर तुमने तो वहाँ अपना प्रतिनिधि छोड़ रखा है।”

“इसीको तो वे राजनीति समझते होंगे।” मैंने हँसते हुए कहा।

“वे चाहे जो समझें; पर इसे सदा याद रखना, कन्हैया, कि हस्तिनापुर प्रासाद में अब तुम्हारा रहना निरापद नहीं है; क्योंकि कोई किसीका विश्वासी नहीं रहा।”

विदुरजी ने इसी संदर्भ में एक घटना सुनाई—“एक बार दुर्योधन बीमार पड़ा। महामात्य होने के नाते उसकी चिकित्सा की सारी व्यवस्था मुझे करनी पड़ी। मैंने राजवैद्य को बुलाया। उन्होंने अच्छी तरह दुर्योधन के स्वास्थ्य का परीक्षण किया और बोले, ‘कोई विशेष बात नहीं। ओषधि की एक मात्रा में ये स्वस्थ हो जाएँगे। रात को सोते समय ओषधि भिजवा दूँगा।’

“उस समय तो वह कुछ नहीं बोला। संध्या तक ओषधि भी आ गई। इसके बाद सुना कि उसने अपने मित्रों से मंत्रणा की। दूसरे दिन महाराज ने मुझे बुलाया और बड़े गंभीर होकर कहा, ‘कल आपके भ्रातृज ने ओषधि नहीं ग्रहण की।’

“‘क्यों?’

“‘यह तो नहीं मालूम, पर उसने कहलाया है कि ओषधि की जब तक दूनी मात्रा मुझे नहीं मिलेगी तब तक मैं

ओषधि ग्रहण नहीं करूँगा।’

“ ‘ठीक है।’ मैंने भी ध्यान नहीं दिया। सोचा, कोई झक सवार हो गई होगी। वह तो जन्म से हठी है। विवाद में पड़ने की क्या आवश्यकता! मैंने वैद्यराज के यहाँ ओषधि की दूसरी मात्रा के लिए संदेश भिजवा दिया।

“चर का कहना था कि वैद्यराज मेरा संदेश सुनते ही भड़क उठे। बोले, ‘यह सरासर मुझपर अविश्वास है। मैं राजवैद्य हूँ। अमात्य मंडल का सदस्य हूँ। मुझपर अविश्वास करना मेरा अपमान करना है। तुम चलो, मैं अभी आता हूँ।’...अभी चर यह संदेश दे ही रहा था कि वैद्यराज का रथ मेरे द्वार पर आ धमका। क्रोध से लाल वैद्यराज सीधे यहीं आ गए, जहाँ इस समय हम लोग बैठे हैं और बड़े आक्रोश में बोले, ‘जिस वैद्य का राज्य अविश्वास करे, उसे राजवैद्य पद पर नहीं रहना चाहिए।’ और उन्होंने तुरंत अपना त्यागपत्र दे दिया।”

विदुरजी ने बताया—“मैंने अभी तक नहीं समझा कि मामला क्या है? वैद्यराज को ओषधि की दूनी मात्रा देने में इतना आक्रोश क्यों है?

“मैंने उनका सत्कार करते हुए शांत होने को कहा। जब वे थोड़े प्रकृतिस्थ हुए तब मैंने कहा, ‘आप तो जानते हैं, दुर्योधन जन्म का हठी और झक्की है। यदि वह चाहता है तो ओषधि की दूनी मात्रा देने में आपको कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।’ वे फिर उबल पड़े—‘महामात्य होकर भी आप बड़े सरल हैं। मैं ओषधि की एक नहीं, दस मात्राएँ दे सकता हूँ। मेरा क्या जाएगा! धन तो राजकोष का लगना है; पर आप जानते हैं, उसने दूनी मात्रा क्यों माँगी है?’

“मैं क्या कहता! केवल उनका मुँह देखता रहा।

“ ‘वह मुझपर अविश्वास करता है। वह इसकी एक मात्रा किसीको खिलाकर देखेगा कि यह विष तो नहीं है, तब अपने पर प्रयोग करेगा। यह सरासर मेरा अपमान है।’ उन्होंने बड़े गंभीर स्वर में कहा, ‘चिकित्सक धर्म विष को ओषधि बनाने में है, ओषधि को विष नहीं।’

“अब मेरा मन भी इस स्थिति से बड़ा दुःखी हुआ। वे ओषधि की दुहरी मात्रा लेकर आए थे। उन्होंने अपने थैले से निकालकर दिखाई। पर वह पुड़िया मुझे नहीं दी। उन्होंने कहा, ‘मैं इसे महाराज को दूँगा और आपको भी मेरे साथ चलना पड़ेगा।’

“लाचार मैं भी वैद्यराज के साथ गया।” विदुरजी कहते गए—“संयोग कुछ ऐसा कि उस समय भी महाराज के पास शकुनि बैठा था। उसको देखते ही वैद्यराज की क्रोधाग्नि में घी पड़ गया। वह एकदम भभक उठे और बिना किसी मर्यादा का खयाल रखे महाराज को ओषधि की वह पुड़िया थमाते हुए सारी बात कहते गए। अंत में यह भी कहा, ‘आप ही अपने हाथ से इसे आधा करके मुझे दे दें, या कल भेजी गई उस पुड़िया को भी मँगाकर उसे भी मिलाकर इसकी तीन मात्रा बनाकर एक मुझे दे दें, अथवा कलवाली पुड़िया मँगाकर मुझे दे दें। मैं मंत्रिपरिषद् के समक्ष इसे खाकर अपनी सत्य और कर्तव्यनिष्ठा की परीक्षा दूँगा।’

“उस वृद्ध ब्राह्मण ने तो तहलका मचा दिया। चर दुर्योधन के यहाँ भी गया। बात उसे बुलाने की थी; पर वह नहीं आया। अच्छा ही हुआ, अन्यथा बात क्या रूप लेती, भगवान् ही जाने। उसने केवल ओषधि की पुड़िया भेज दी।”

“शकुनि कुछ बोला नहीं?” मैंने पूछा।

“पहले तो ऊँट बलबलाया। वैद्यराज को शांत करने की चेष्टा की। पर जब उस वृद्ध ब्राह्मण के स्वाभिमान ने उसे डाँटा और कहा, ‘वह दूसरों के सम्मान को क्या समझ सकता है, जो अपना स्वाभिमान गांधार में रख आया हो!’ तब तो उसके ऊपर जैसे घड़ों पानी पड़ गया। वह चुप ही रह गया।”

“इतना अपमानित होकर भी वह चुप रह गया!” मैंने कहा।

“शकुनि जैसा व्यक्ति तो मिलना कठिन है।” विदुरजी बोले, “ऐसे समय तो वह भीगी बिल्ली बन जाता है। पर है वह ऐसा नाग, जिसकी आँखों में अपने विरोधी का चित्र हमेशा के लिए बन जाता है और जब मौका मिलता है, वह घात लगाकर बदला लेता है।”

यह घटना ऐसी थी कि मेरी जिज्ञासा बढ़ती गई।

“फिर क्या हुआ?” मैंने पूछा।

“महाराज ने ओषधि की दोनों पुड़ियों को अपने पास रख लिया। अपने पुत्र की ओर से उन्होंने स्वयं क्षमा माँगी। फिर भी वैद्यराज अपनी बात पर दृढ़ थे—‘जब मेरे धर्म और कर्म पर शंका की गई है, तब ऐसी स्थिति में एक क्षण के लिए भी मेरा वैद्यराज के पद पर बने रहना उचित नहीं। अत्र भवान्! मेरा त्यागपत्र स्वीकार करें।’

“महाराज सचमुच बड़े दुःखी थे। उन्होंने कहा भी कि इस कांड से मुझे बड़ी पीड़ा हुई है। रह गई आपके त्यागपत्र की बात, तो अमात्य परिषद् के किसी सदस्य के त्यागपत्र को स्वीकार या अस्वीकार करने का प्रथम अधिकार महामात्य का है।”

बातों का सिलसिला ऐसा चला कि समय का कुछ भान ही नहीं रहा। दिन मध्याह्न की ओर बढ़ चला था। विदुरजी ने भी अनुभव किया कि आज राजप्रासाद में जाने में काफी विलंब हो गया। वे तुरंत उठ चले। तब तक प्रतिहारी ने मुझे सूचना दी कि मुझसे मिलने आई एक महिला नीचे प्रतीक्षाकक्ष में बैठी है।

“महिला और इस समय!” मेरा मन एक जिज्ञासा से छूटते ही दूसरी जिज्ञासा के घेरे में आ गया। मैं तत्क्षण प्रतीक्षाकक्ष में आया। ‘यह तो बलंधरा है।’ देखते ही शंका हुई—भीम ने फिर कोई अभद्रता की है क्या?

मैंने पूछा, “अरे, तुम यहाँ कैसे?”

“क्यों? मैं यहाँ नहीं आ सकती क्या?”

“नहीं, यह बात नहीं है। तुम्हें कैसे पता चला कि मैं यहाँ हूँ?”

“इस बात को पूरा हस्तिनापुर जानता है कि आप यहाँ ठहरे हैं। यदि मैंने जान लिया तो आश्चर्य क्यों?” वह बोली।

मैंने समझ लिया कि मेरा यहाँ रहना अच्छी तरह प्रचारित कर दिया गया है। खैर, इस बात को आगे बढ़ाने से लाभ ही क्या! मैंने बातों के क्रम को दूसरी ओर मोड़ा—“अच्छा, तो यह बताओ कि तुम्हारा कैसे आना हुआ?”

“मुझे आपसे कुछ गोपनीय बातें करनी हैं।”

“यहाँ तो कोई है नहीं।” मैंने कहा। फिर भी द्वारपाल को बुलाकर सावधान कर दिया।

चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर आश्वस्त होने के बाद उसने बोलना आरंभ किया—“पहले तो मैं जीजी की ओर से आपका धन्यवाद करती हूँ।” फिर वह बड़े रहस्यमय ढंग से मुसकराई—“उनका कहना है कि आपने जो आश्वासन दिया था, उसे निभाया।”

मैं समझ तो गया कि चेकितान को पुष्कर लौटाने के संदर्भ को दुर्योधन ने मेरे और अपने बीच हुए एक संधि के रूप में प्रचारित किया था और यह भी सोचा था कि पुष्कर लौटाने के प्रतिफलस्वरूप मैं द्रौपदी स्वयंवर में उसकी सहायता करूँगा। यह सुनकर भानुमती सबसे अधिक घबराई थी। वह मुझसे यह आश्वासन लेने सबसे छिपकर आई थी कि राजप्रासाद में कभी द्रौपदी मेरी सौत बनकर न आए। अब परिणाम भानुमती के अनुकूल हुआ था, तो उसने धन्यवाद भिजवाया था।

मैंने बलंधरा से स्पष्ट कहा, “न मैंने कोई आश्वासन दुर्योधन को दिया था, न भानुमती को और न दोनों को निराश ही किया था। मैंने तटस्थभाव से दोनों की आकांक्षाएँ सुनी थीं। हुआ तो वही, जो होना था। इसमें मैं धन्यवाद का पात्र कहाँ? पात्र तो नियति है।”

“पर जीजी को आप पर विश्वास था।”

“विश्वास तो दुर्योधन को भी था।” मैंने हँसते हुए कहा, “यह तुम कह सकती हो कि जिस सीमा तक तुम्हारी जीजी को मुझमें विश्वास था और है, उस सीमा तक दुर्योधन मुझमें विश्वास कर नहीं पाया। वस्तुतः तुम्हारी जीजी का विश्वास ही फलदायी हुआ है।”

“पर उसके मूल में तो वह आपकी कृपा ही मानती है।”

“यह उसकी कृपा है।” मैं फिर हँसा—“कुछ लोग तो मुझे भगवान् तक मानते हैं। यह उनका विश्वास है।”

“मैं भी मानती हूँ।”

“तब तो तुम बड़भागी हो। तुमने भगवान् को देखा तो है; पर मैंने उसे नहीं देखा।” फिर मैं खिलखिलाकर हँसा। निश्चित ही यह हँसी उसे बड़ी मायावी लगी होगी।

कुछ देर रुकने के बाद उसने बड़ी गंभीरता से कहा, “जीजी ने आपसे एक विनती की है।”

“क्या?”

“यही कि अब आप जीजा पर कृपा करें।” उसने कहा, “यह प्रार्थना करने वे स्वयं उपस्थित होने वाली थीं; पर वे आने योग्य नहीं हैं। आजकल अस्वस्थ हैं।”

“आजकल अस्वस्थ हैं!” मैं बोला, “तो मैं स्वयं उनके पास चल सकता हूँ। अरे, वह मेरी भाभी हैं।”

“नहीं-नहीं, आप चलने का कष्ट न करें, नहीं तो वह स्वयं संकट में पड़ जाएँगी—और उनके पति पर कृपा करें।”

मैं मुसकराता ही रहा। अब वह थोड़ा और स्पष्ट हुई—“आप चाहेंगे तो जीजाजी युवराज बने रहेंगे और आगे भी राजसिंहासन उनके पुत्रों में से किसीको मिल जाएगा।”

अब मैंने समझा कि भीतर-भीतर किस षड्यंत्र की अवतारणा हो रही है।

“फिर युधिष्ठिर का क्या होगा?” मैंने पूछा।

“इसे तो आप सोचिए।”

“शेष सब तुम्हारी जीजी सोच लेंगी और इसे मैं सोचूँ।”

“बात यह है कि यह जीजी के सौभाग्य का प्रश्न है।” फिर बलंधरा ने दुर्योधन द्वारा विष खानेवाले उस नाटक की कथा दुहराई, जो पहले से ही मुझे मालूम थी।

“एक ओर तुम्हारी जीजी के सौभाग्य का प्रश्न है, दूसरी ओर हस्तिनापुर के भविष्य का और तीसरी ओर सत्य, न्याय एवं धर्म की रक्षा का। मेरी तो विचित्र स्थिति है।”

“पर इस स्थिति का आप ही सामना कर सकते हैं, भगवान्।”

मैंने मुसकराते हुए बात टालनी चाही। फिर मेरे मन में आया, क्यों नहीं मैं अपनी स्थिति स्पष्ट कर दूँ! मैंने मुसकराते हुए ही उससे पूछा, “तुम मुझे भगवान् मानती हो?”

“क्यों नहीं! सभी आपको भगवान् समझते हैं।”

“तब जानती हो, भगवान् की पृथ्वी पर अवतारणा क्यों होती है—‘धर्म संस्थापनार्थाय’।” यद्यपि यह बात युद्धस्थल में मैंने अर्जुन से सबके सामने कही थी; पर इस समय एकांत में बलंधरा से कह रहा था।

□

## छह

हस्तिनापुर भीतर-ही-भीतर खौल रहा था, केवल विस्फोट की देरी थी। मध्याह्न का भोजन कर आज मैंने विश्राम भी नहीं किया और विदुरजी के आवास से सीधे राजप्रासाद के अतिथिगृह के उस कक्ष में पहुँचा, जो मेरे लिए आवंटित था। वहाँ छंदक सवेरे से ही मेरी प्रतीक्षा कर रहा था।

“आपको अभी अवकाश मिला! सवेरे से कितने लोग आपसे मिलने आते रहे! मैं पहले से ही समझता रहा कि मेरी उपस्थिति से अधिक आपकी अनुपस्थिति पर दृष्टि रखी जाएगी।”

मैं कुछ पूछूँ, इसके पहले ही छंदक बोल पड़ा—“सुशर्मा आपसे नहीं मिला? वह आपसे मिलने के लिए आतुर था। मैंने उसे बता दिया था कि आप कहाँ हैं।”

“मेरा रहना किसीसे छिपा तो था नहीं।” मैं बोला, “पर सुशर्मा मेरे यहाँ आया नहीं था।”

“सवेरे से दो बार तो पितामह के यहाँ से आपके लिए बुलाहट आई है।” उसने कहा, “और निजबल नामक एक मल्ल भी भीम के साथ आपसे मिलने आया था।”

छंदक कह ही रहा था कि भीम ने पुनः प्रवेश किया।

मैंने देखते ही पूछा, “यह निजबल कौन है?”

“इस समय वह हस्तिनापुर का महामल्ल है। हमारा पुराना मित्र है। हम दोनों एक ही अक्षवाट (अखाड़े) में अभ्यास करते थे।”

“तो क्या, वह अब भी तुम्हारा मित्र है?”

“क्यों, इसमें कोई संदेह है क्या?” भीम बोला।

मुझे उसकी सहजता पर हँसी आ गई। मैंने पूछा, “वह यहाँ क्यों आया था?”

“आपसे मिलने।” भीम बोला।

“और आप उसे लेकर सीधे चले आए! बिना मुझे पूर्व सूचना दिए। धन्य हैं आप!”

वह चुपचाप मेरा मुँह देखने लगा; जैसे उसकी मौन दृष्टि पूछ रही हो, ‘इसमें मैंने भूल क्या की?’

मैंने उससे कहा, “वृकोदर, तुम्हारी सहजता इस परिवर्तित हस्तिनापुर को समझ नहीं सकती।”

“पर परिवर्तन तो सहज दिखाई दे रहा है, इसमें समझने की क्या बात है?” भीम बोला।

“क्या परिवर्तन देख रहे हो?”

“कल दुःशासन कह रहा था कि हम लोग हस्तिनापुर में नहीं रहेंगे। तब मैंने पूछा, हस्तिनापुर के सिवा तुम्हारा ठिकाना कहाँ लगेगा? तब उसने कहा, क्या समझते हो? मेरे मामा ने गांधार में मेरी पूरी व्यवस्था कर रखी है।” भीम ने बताया।

मैंने हँसते हुए पूछा, “तो आपने उसे रोका नहीं?”

“मुझे रोकने की क्या आवश्यकता!”

“अरे, वह आपका पुराना मित्र है, भाई है।” मैंने व्यंग्य किया—“अरे, यदि तुमने उसे रुकने को नहीं कहा तो उसके जाने में सहायता तो करो।”

“हाँ, यह कर सकता हूँ।” भीम तुरंत मेरे पास से उठ गया।

लगता है, उसने मेरे व्यंग्य को नहीं समझा। मैंने कहा, “वृकोदर, जितना बड़ा तुम्हारा उदर है, उतनी ही छोटी तुम्हारी बुद्धि।”

फिर मैंने तुरंत बात बदली—“बलंधरा मिली कि नहीं?”

“चेष्टा बहुत की, पर अभी तक तो नहीं मिली।” जैसा मेरा प्रश्न वैसे ही हास्य और व्यंग्य से भरा उसका उत्तर। वहाँ जितने लोग थे, सभी हँस पड़े।

“मेरा तात्पर्य है कि अभी तक तुम्हारा और उसका हस्तिनापुर में सामना हुआ या नहीं? वह भी तुम्हारी पुरानी मित्र है!”

“सामना भले ही न हो, पर मित्र तो है ही।”

“तुम उसे चाहते भी हो और हर तरह से उसका हित भी चाहोगे?”

“सो तो चाहूँगा ही।”

“पर ध्यान से सुन लो, वह तुम्हारा हित नहीं चाहती।”

मेरे इतना कहते ही भीम गंभीर हो गया। बोला, “आप यह कैसे कह सकते हैं?”

“इसके लिए मेरे पास प्रमाण है।” मैंने और गंभीरता अपनाई। फिर मैं छंदक से बातें करने लगा और दूसरी जानकारीयें लेने लगा। मेरा उद्देश्य तो भीम के मन में संप्रति दो बीज बोना था—एक, दुःशासन के संबंध में और दूसरा, बलंधरा के संबंध में। हस्तिनापुर छोड़ने की दुःशासन की परीक्षा वह पहले कर ले।...और दूसरी बात तो मैंने बड़े रहस्यमय ढंग से शुरू की थी। उसकी जिज्ञासाओं को मैंने सुलगा दिया था और भभकने की प्रतीक्षा कर रहा था; क्योंकि बलंधरा के संबंध में मुझे एक ऐसी बात उसे समझानी थी, जिसे यदि मैं सामान्य ढंग से कहता तो वह विश्वास ही न करता।

छंदक ने बताया—“नगर महापौर भी आए थे। वे पांडवों और आप सबका नागरिक अभिनंदन करना चाहते हैं।”

“इसके लिए तो उन्हें महाराज से अनुमति लेनी होगी।” मैंने कहा।

“मैंने भी उनसे यही कहा था।” छंदक बोला, “तब उन्होंने कहा कि यह राजकीय अभिनंदन तो है नहीं, यह प्रजा द्वारा किया जा रहा अभिनंदन है। फिर भी वे महाराज से मिले थे; पर महाराज कुछ बोले नहीं। जब उन्होंने यह कहा कि यह प्रजा की सामूहिक इच्छा है, तब उन्होंने महामात्य से बातें करने को कहा था; पर अभी तक उनकी महामात्य से बातें नहीं हो पाई हैं। हाँ, वे पितामह से मिले थे और पितामह से बहुत खुलकर बातें हुई।”

“तो क्या कहा पितामह ने?” मैंने छंदक से पूछा।

छंदक का कहना था—“जब मैंने यही जिज्ञासा महापौर से की तो वे बड़ी उपेक्षापूर्ण हँसी हँसने लगे और बोले, ‘पितामह तो वृद्ध, नख-दंतहीन सिंह जैसे हैं, जो चाहते हैं कि जंगल में उन्हींका शासन चले; पर कुछ कर नहीं पाते।’ ” इतना कहकर छंदक मुसकराया। मैं भी सोचने लगा कि पितामह की प्रकृति और उनकी विवशता का अनुमान हर व्यक्ति को लग गया है।

छंदक ने ही फिर बताया—“इसी क्रम में महापौर कह रहे थे कि जब हम लोग पितामह से मिले और हमने अपनी इच्छा व्यक्त की, तब वे प्रसन्न तो हुए; पर जब मैंने कहा कि प्रजा का सौभाग्य होगा कि उस अभिनंदन समारोह की अध्यक्षता आप करें, तो जैसे वे सोच में पड़ गए और थोड़ी देर बाद बोले, ‘अरे भाई, मैं तो परिवार का ही व्यक्ति हूँ। मेरे द्वारा अध्यक्षता करना उचित नहीं होगा। अच्छा हो कि अध्यक्षता आप ही करें। आप महापौर रहे हैं और यह कार्यक्रम नगर की प्रजा द्वारा हो रहा है।’ ”

मेरे मन ने कहा, चलो एक रास्ता पितामह ने आखिर निकाल ही लिया। मैंने कहा, “इसके लिए फिर तुम्हें कुंती बुआ से भी मिलना चाहिए और युधिष्ठिर से भी।”

“पहले वे आपसे मिलने आए थे। अब वे पांडवों से मिलने गए हैं।” छंदक बोला। फिर उसने भीम की ओर संकेत करके कहा, “आपसे भी मिलना चाहते थे।”

“इनसे मिलकर क्या करेंगे?” मैंने कहा, “इन्हें बलंधरा प्रपंच में ही रहने दो। ये भी देख लें कि प्रेम अंधा होता है या सत्ता का स्वार्थ।”

“मैं कुछ समझ नहीं पाया?” भीम बोला।

“अब जल्दी ही सबकुछ समझ जाओगे।” मैंने रहस्य को रहस्य बनाए रखा।

अब उसकी जिज्ञासा से रहा नहीं गया। उसने मेरा हाथ पकड़ा और खींचता मुझे कक्ष के बाहर ले चला। सीधे उद्यान में लाकर ही दम लिया। लोगों ने सोचा कि क्या परिहास है? राही मार्ग को ही खींचे चला जा रहा है। मैं भी हँसता हुआ खिंचता चला गया।

उद्यान के लता प्रकोष्ठ में आकर उसने कहा, “अब सही बात बताइए, पहेली मत बुझाइए।”

मैंने बलंधरा के मिलने का सारा प्रसंग कह सुनाया और बताया—“वह मुझसे कहने आई थी कि जीजाजी को युवराज बने रहने दिया जाए और आप आशीर्वाद दें कि उनका पुत्र ही हस्तिनापुर राजसिंहासन पर बैठे।”

“ऐसा!” उसके चेहरे पर विस्मय का भाव उभरा।

मैंने उस अग्नि में और घृत डाला—“अब तुम्हीं समझो, जो इस स्थिति में भी दुर्योधन को युवराज बनाए रखना चाह रही है, वह तुम्हारी भलाई कैसे चाह सकती है? क्या तुम दुर्योधन के शासन में सकुशल रह सकोगे?”

“वह तो अगली पीढ़ी के लिए भी आपको बाँध रही है।” भीम बोला, “जैसे प्रपितामही सत्यवती ने महाराज शांतनु को वचन से बाँध लिया था।”

“इसे तो तुम्हें सोचना है।” मैंने हँसते हुए कहा, “न तो मैं राजा शांतनु हूँ और न मैं उससे विवाह करना चाहता हूँ। विवाह के इच्छुक तो तुम हो। अब तुम ही समझो कि क्या बलंधरा से परिणय की शर्त पर सारी राजसत्ता तुम कौरवों को दे सकते हो!”

अब वह एकदम मुझे छोड़कर चलने को हुआ। आग पूरी भभक उठी थी। मैं समझ गया कि यह सीधे बलंधरा से मिलेगा, तब इसका क्रोध कुछ भी उलटा-सीधा कर सकता है। मैंने उसे रोका—“देखो, यह अवसर व्यर्थ आवेश में आने का नहीं है।” मैंने उसे समझाया—“देखो, जैसे गदायुद्ध में गदा का सामना गदा से करते हैं वैसे ही इस समय तुम्हें कूटनीति का सामना कूटनीति से करना चाहिए। यदि तुम कूटनीति में गदा चलाने लगोगे तो यह धर्म-विरुद्ध भी होगा और नीति-विरुद्ध भी।”

“तब आप क्या चाहते हैं?”

“मैं चाहता हूँ कि तुम एकांत में बलंधरा से मिलो और नाटकीयता से कहो, ‘लगता है, तुम्हारा प्रेम अब हमें दुर्योधन का दास ही बनाकर छोड़ेगा। और जानती हो, दुर्योधन का दास होने का तात्पर्य है, जीवन से हाथ धोना। वह एक क्षण के लिए भी मुझे जीवित देखना नहीं चाहता। उसने कभी मुझे विष खिलाकर गंगा में बहा दिया था, लाक्षागृह में जलवा दिया था; पर अब तक उसे सफलता नहीं मिली। पर अब बलंधरा, तेरे प्रेम में फँसकर मैं वैसे ही मारा जाऊँगा जैसे पतंगा दीप के प्रेम में फँसकर या मृग नाद के प्रेम में फँसकर मारा जाता है।’ ”

मेरी बात उसने बड़े ध्यान से सुनी। पर वह इतने आवेश में था कि उसने कहा, “मैं तुम्हारी तरह अभिनेता नहीं हूँ। मैं तो सहज बुद्धि का सहज व्यक्ति हूँ। छल-प्रपंच नहीं जानता। मैं तो सीधे जाऊँगा और उसका गला ही घोट



दूँगा।”

“अरे-अरे, यह क्या कह रहे हो?” मैंने हँसते हुए कहा, “जिसको तुमने हृदय दे दिया है, उसीका गला घोट दोगे! उसके छटपटाने के पहले तुम्हारा हृदय छटपटाने लगेगा। और, क्या तुम ऐसा कर सकोगे!” मैं थोड़ा गंभीर हुआ—“तुम जिसे नाटकीयता कहते हो, वही कूटनीति का अभेद्य कवच है। आज राजनीति में परिस्थिति के अनुसार बार-बार मुद्राएँ और मुखौटे बदलने पड़ते हैं। यही मुद्राएँ और मुखौटे ढाल का भी काम करते हैं और तलवार का भी। आज हस्तिनापुर को मेरी नाटकीयता की जितनी आवश्यकता है, उतनी तुम्हारे बल-प्रयोग या आक्रोश की नहीं।” वह मुझे गौर से सुनता रहा। मैं कहता गया—“ऐसा करो कि साँप भी मरे और लाठी भी न टूटे। तुम ऐसा कुछ करो कि बलंधरा फिर मेरे पास आए और कहे कि मैंने जो कुछ कहा था, वह जीजी का संदेह मात्र था। उसके पीछे मेरी इच्छा नहीं थी।”

उसे अब समझ में आया कि मैं क्या करूँ। वह बिना कोई प्रतिक्रिया व्यक्त किए चुपचाप चला गया।

□

उद्यान से लौटकर मैं पुनः अपने कक्ष में आया। मैंने देखा, बलराम भैया के साथ एक व्यक्ति और बैठा है। प्रशस्त ललाट और आकर्षक व्यक्तित्व। मैंने इस व्यक्ति को पहले कभी नहीं देखा था। उसके संबंध में जिज्ञासा होना स्वाभाविक था।

मैं कुछ पूछूँ, इसके पहले ही छंदक ने परिचय दिया—“ये भैया के साथ पधारे हैं। हस्तिनापुर के महापौर हैं।”  
“हूँ नहीं, कभी था।” उसने कहा।

“इस समय कौन महापौर है?”

“कोई नहीं।” वह बोला। फिर विस्तार से जो कुछ बताया, उसका सारांश था कि उसका नाम चंद्रसेन है। हस्तिनापुर की नगरीय व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए इस पद का सृजन धर्मराज ने किया था और उन्होंने प्रजा की सहमति पर उसे उस पद पर मनोनीत भी किया था। जब पांडव वारणावत चले गए और उनके भस्म हो जाने की दुःखद सूचना हस्तिनापुर में आई, तब उनके साथ ही यह पद भी भस्म हो गया।

“पद ही भस्म हो गया!” मुझे हँसी आ गई—“पद तो कभी भस्म होता नहीं। उसे समाप्त किया जा सकता है। यदि दुर्योधन का आपमें विश्वास नहीं था तो किसी और को वे महापौर नियुक्त कर सकते थे।”

“पर ऐसा नहीं किया गया।” उसने बताया—“लाक्षागृह की घटना के दूसरे दिन ही मुनादी करा दी गई थी, जिसकी शब्दावली थी—‘पांडवों के भस्म होते ही युवराज युधिष्ठिर द्वारा की गई सारी व्यवस्था को भस्म समझा जाए। अब युवराज दुर्योधन की नई व्यवस्था से शासन चलेगा।’ ”

फिर मैंने पूछा, “उन्होंने कोई नई व्यवस्था की?”

“कई नई व्यवस्थाएँ की गई।” उसने बताया—“पर महापौर का पद जो भस्म हुआ, वह भस्म ही रहा। जब प्रजा को ज्ञान हुआ कि पांडव जीवित हैं, वे पुनः हस्तिनापुर आ रहे हैं, तब हस्तिनापुर की प्रजा के प्रमुख मेरे पास आए और उन्होंने कहा, ‘आप अब भी मेरे महापौर हैं; क्योंकि आप कभी हटाए तो गए नहीं।’ ”

मैंने पूछा, “जब पद भस्म हो गया था तब आप महापौर कैसे?”

“वैसे ही जैसे पांडव भस्म हो गए थे और फिर प्रकट हो गए।” उसने ऐसे ढंग से कहा कि हम सबको हँसी आ गई और वह भी हँसने लगा।

और फिर उसने अपना मंतव्य सुनाया। मैंने मन-ही-मन सोचा कि परिस्थितियाँ तो स्वयं अपने अनुकूल बनती जा रही हैं। वर्तमान सत्ता पर मेरे प्रति प्रजा की आत्मीयता के दबाव की बड़ी आवश्यकता थी। किंतु यदि बहुसंख्य लोग उस अभिनंदन पर्व पर उपस्थित हुए तो यही स्थिति प्रतिकूल हो जाएगी। इसलिए मैंने पूछा, “हस्तिनापुर की

जो वर्तमान दशा है, उसमें आपके बुलाने पर प्रजा इकट्ठी हो जाएगी?"

"मैं अपने मन से थोड़े ही यह सब कह रहा हूँ। यह प्रजा की इच्छा है। उसके दबाव से मैं सक्रिय हुआ हूँ, तो प्रजा के उपस्थित न होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वह मेरे बुलाए बिना भी एकत्र हो जाएगी।" उसने कहा।

"तब मेरे लिए क्या आदेश है?"

"आदेश नहीं, प्रार्थना है कि आप इस अभिनंदन सभा की अध्यक्षता करें।"

"इसमें तो मेरा गौरव ही है; पर यह सभा तो हस्तिनापुर की प्रजा की है। मैं तो हस्तिनापुर की प्रजा हूँ नहीं। अतिथि हूँ। अतिथि की तरह उपस्थित हो जाऊँगा।"

"मात्र अतिथि की तरह नहीं, आप हमारे अभिनंदनीय हैं। हम सब आपका भी अभिनंदन करना चाहते हैं।"

"अभिनंदनीय तो वे ही हैं, जो लाक्षागृह में भस्म हो गए थे और नहीं हुए।"

"तब आप हमारे लिए पूजनीय हैं। हम आपकी अर्चना करेंगे; क्योंकि पांडवों को बचानेवाला हमारे लिए पांडवों से महान् है।"

"उन्हें बचानेवाला भी मैं नहीं हूँ।" एक रहस्यमय मुसकराहट के बीच मैं बोलता रहा—"और जिस नियति ने उन्हें बचाया है, मैं उसका निमित्त भी नहीं।"

मैं इतना कह तो गया; पर तुरंत विचार आया कि हम सबको इस संदर्भ में मौन रहना चाहिए। भलाई इसीमें है। मैंने तत्क्षण बात बदली—"खैर, अब यह अध्याय समाप्त हो गया। इसके पृष्ठ उलटने की आवश्यकता नहीं; किंतु आपका कार्य पुनीत है। मैं इस कार्य में उपस्थित अवश्य रहूँगा। आप मेरी उपस्थिति को चाहे जिस रूप में लें।" मैंने कहा और पूछा, "आपका यह कार्यक्रम कब है?"

"अभी हम सब निश्चित नहीं कर पाए हैं। अभी तो हम आप लोगों की अनुमति ले रहे हैं।"

"तब क्या आपने दुर्योधन से भी अनुमति ले ली है?"

"मैं उनसे अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं समझता।" वह कुछ झुंझलाया—"विचित्र बात है, सत्ता पक्ष की ओर जाइए तो उसका बड़े-से-बड़ा व्यक्ति भी एक-दूसरे पर टाल रहा है। फिर हमें उनकी अनुमति की जरूरत भी नहीं। यह राजकीय समारोह नहीं, प्रजा का समारोह है। हाँ, हम लोग उन्हें आमंत्रित अवश्य करेंगे। वे आएँ चाहे न आएँ।"

"क्या वे नहीं भी आ सकते हैं?"

"इसका उत्तर तो वे ही दे सकते हैं, या प्रभु दे सकता है।" इतना कहकर वह बड़े विचित्र ढंग से मुसकराया और चलने को हुआ।

मैं स्वयं उठकर उसे बहुत दूर तक छोड़ने आया; क्योंकि वह मेरी राजनीति का बड़ा सशक्त मोहरा था।

कक्ष में आते ही बलराम भैया ने पूछा, "द्वारका चलने का भी कुछ निश्चय किया है?"

मेरा भी ध्यान गया कि हम लोगों को द्वारका छोड़े बहुत दिन हो गए हैं; पर यह समय भी हस्तिनापुर छोड़ने का नहीं है। मेरा मन हुआ कि वह द्वारका चलें, मैं यहाँ से मुक्त होते ही आऊँगा। तब तक वे फिर बोल पड़े—"बहुत दिनों तक राजधानी को छोड़ना बुद्धिमत्ता नहीं है।"

"यह तो ठीक है, पर हस्तिनापुर अभी हमें छोड़ नहीं पाएगा।" मैंने यह भी कहा, "अभी हम लोग पितामह के यहाँ चलते हैं। उन्होंने बुलाया भी है। हम इस विषय में भी उनसे चर्चा करेंगे।"

इसपर वेकुछ नहीं बोले। कुछ क्षणों बाद उन्होंने पूछा, "तुम्हारे यहाँ निजबल आया था? मेरे यहाँ उसे लेकर

भीम गया था।”

मैंने निजबल का आना स्वीकार किया और पूछा, “क्या कह रहा था वह?”

“उसकी इच्छा है कि हम लोग एक दिन उसके अखाड़े पर चलें।”

“क्यों?” मैंने पूछा।

“कंस और चाणूर-मर्दक को वह देखना चाहता है।”

“वह तो देख ही चुका है।” मैंने हँसते हुए कहा, “उसके देखने का कोई और अर्थ तो नहीं है?”

अब भैया गंभीर हुए।

मैंने कहा, “दुर्योधन ने उसे हस्तिनापुर का महामल्ल बनाया है। उसका निजी व्यक्ति होगा, तभी तो। वह आपसे और कुछ नहीं कह रहा था?”

“इस बात पर तो मैंने ध्यान ही नहीं दिया।” भैया की गंभीरता और गाढ़ी हुई—“यों तो वह मेरे यहाँ घंटों बैठा रहा। इधर-उधर की बातें करता रहा। उसीने पूछा भी था कि आप लोग कितने दिनों से द्वारका से बाहर हैं? उसीने सावधान भी किया था कि इतने दिनों तक राजधानी से दूर नहीं रहना चाहिए।”

“अरे, वह महामल्ल ही नहीं, नीतिज्ञ भी है।” मैंने कहा, “अब तो उसकी मंशा साफ लगती है। वह चाहता है कि हम लोग यहाँ से शीघ्र चले जाएँ। उसकी यह मंशा तो शायद पूरी न हो सके; क्योंकि यहाँ से जाना या न जाना नियति के हाथ में है, हमारे हाथ में नहीं। पर हम लोग उसकी दूसरी मंशा तो पूरी कर ही सकते हैं, चुनौती की तरह उसके आह्वान को स्वीकार कर। कभी भीम के ही साथ उसके अखाड़े में हम चले चलें।”

“वह स्वयं एक दिन ले चलने वाला है।” भैया बोले।

“अच्छा, तो वह तैयारी से ले चलना चाहता है। अब मैं समझ गया।” मैं बोला, “नीति कहती है कि शत्रु के अखाड़े में नहीं जाना चाहिए—और वह भी उसकी इच्छा से तो बिल्कुल ही नहीं जाना चाहिए। हमें अप्रत्याशित वहाँ धमक पड़ना चाहिए।”

“हम अप्रत्याशित चलें या न चलें, यह हमारी इच्छा पर है।” भैया बोले, “अब तुम हर किसीको अपना शत्रु बना लेने का स्वभाव छोड़ो।”

“मैं स्वयं किसीको शत्रु बनाता नहीं। यदि वह खुद शत्रुता साधे तो मैं क्या करूँ!”

“तुम जिस क्षण से किसीको शत्रु की दृष्टि से देखते हो, वह उसी क्षण से तुम्हारा शत्रु हो जाता है। तुम यदि उसे मित्र की दृष्टि से देखो तो वह तुम्हारा मित्र ही हो जाएगा।” यह भैया की सहजता बोली थी।

मौज-मस्ती में डूबे रहनेवाले भैया की प्रकृति को राजनीति अनुकूल नहीं पड़ती थी। इसलिए उसे वह दूर से प्रणाम करते थे। वस्तुतः मेरी स्थिति ऐसी नहीं थी और न हस्तिनापुर की ही ऐसी स्थिति थी।

मैंने भैया से कहा, “आप सोचते हैं कि मेरी दृष्टि ही लोगों को शत्रु या मित्र बनाती है; पर वस्तुस्थिति एकदम इससे भिन्न है। वास्तव में मुझे जो जिस दृष्टि से देखता है, मैं उसे उसी दृष्टि से दिखाई देता हूँ।” यद्यपि इसी बात को बाद में ‘गीता’ में मैंने और जोर देकर कहा था।

भैया कभी मुझसे विवाद नहीं करते थे। इस बार भी वे चुप ही रह गए।

अब मैं वहाँ उपस्थित मित्रों—उद्धव, छंदक और सात्यकि की ओर मुड़ा। कब से वे चुपचाप और परिस्थिति की गंभीरता का आकलन कर रहे थे।

मेरी बातें उनसे चली ही थीं कि मुझे बुलाने के लिए फिर पितामह का चर आ गया। इसके पहले वह दो बार आ चुका था। मैंने सोचा कि भैया को लेता चलूँ—और जब भैया को लेता चलूँ तो उद्धव को क्यों छोड़ दूँ! फिर

सात्यकि बेचारे ने क्या बुरा किया है!

इसी उधेड़बुन में था कि चर ने पुनः कहा, “पितामह ने अपना रथ आपको लिवा लाने के लिए भेजा है। वे यथाशीघ्र आपसे मिलना चाहते हैं।”

“उस रथ पर कितने व्यक्ति आ सकते हैं?” मैंने पूछा।

“आने को तो आपके अतिरिक्त दो व्यक्ति और आ सकते हैं; किंतु उन्होंने केवल आपको बुला लाने के लिए कहा है।” फिर वह मेरे पास आकर बोला, “वे आपसे एकांत में कुछ गंभीर बातें करना चाहते हैं।”

तब तक भैया भी बोल पड़े—“जाते क्यों नहीं? देर करने से कोई लाभ तो है नहीं।”

भैया के आदेश ने मुझे द्विविधा से उबार दिया और मैं तुरंत चल पड़ा। जब मैं पितामह के आवास पर पहुँचा, सूर्य अस्ताचल में छिप चुका था। गुलाबी संध्या काली पड़ने लगी थी।

□

“अच्छा हुआ कि तुम आ गए।” पितामह बोले, “आज प्रातः से मैं तुम्हें याद ही कर रहा था।” इतना कहते हुए वे मुझे एक एकांत कक्ष में ले गए और बिना मेरा हालचाल पूछे और बिना किसी औपचारिक बातचीत के उन्होंने कहना शुरू किया—“अब तो हस्तिनापुर में वह होने जा रहा है, जो आज तक नहीं हुआ है।”

मैंने अनुभव किया कि पितामह भीतर से काफी भरे हैं। मैंने बड़े सामान्य ढंग से हँसते हुए कहा, “हस्तिनापुर आजकल इतिहास बना रहा है। इतिहास उसी का होना ‘होना’ मानता है, जो अभी तक नहीं हुआ है।”

“पर यहाँ पर तो वह होने जा रहा है, जिसपर इतिहास थूकेगा।” पितामह बोले, “मुझे गुप्तचरों ने सूचना दी है कि शकुनि चार व्यक्तियों के विरुद्ध अभिचार करा रहा है।”

‘अभिचार’ शब्द मैंने पहली बार सुना था। मैंने तुरंत पूछा, “यह अभिचार क्या है?”

“अरे, तुम अभिचार नहीं जानते?” पितामह को मेरी अज्ञता पर आश्चर्य था। फिर उन्होंने बताया कि—“इस क्रिया के अंतर्गत मारण, उच्चाटन और वशीकरण आदि किया जाता है।

“शास्त्रोक्त विधि तो है, पर सात्त्विक विद्या है नहीं। इसलिए आचार्य सांदीपनि ने तुम्हें नहीं बताया।” पितामह बोले, “और शायद वे भी न जानते हों, क्योंकि आर्यावर्त की अधिकांश गुरु परंपरा सात्त्विक विद्या में ही रुचि रखती है। हमारे यहाँ इष्टाकृत, इष्टकर्म और इष्टापूर्त यज्ञ तो होते हैं; पर किसी उत्तम इष्ट और परोपकार के लिए किए जाते हैं, किसीको मारने या उच्चाटन के लिए नहीं।”

“पर महाराज द्रुपद ने तो आचार्य द्रोण से बदला लेने के लिए इष्टापूर्त यज्ञ कराया था।”

“नहीं, बिल्कुल नहीं। उन्होंने पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञ कराया था। इसीसे उसका नाम दिया था—‘पुत्रेष्टि’।” पितामह बोले, “यह बात दूसरी है कि वे ऐसा वीर पुत्र चाहते थे, जो द्रोण से उनका प्रतिशोध ले सके।”

फिर भी अभिचार की कल्पना मुझे नितांत भ्रामक और काल्पनिक लग रही थी। मैंने उपहास करते हुए कहा, “चलिए, एक बात तो अच्छी सुनने में आ रही है।”

“क्या?”

“यदि अभिचार भी कोई क्रिया है तो युद्ध संसार से समाप्त हो जाएगा।” मैंने कहा, “और वह संसार स्वर्ग से बढ़कर होगा; क्योंकि स्वर्ग भी युद्ध-मुक्त नहीं है। अच्छा होगा, जब दूसरों के लिए मारने-मरने का व्यापार नहीं होगा। आखिर एक सामान्य सैनिक क्यों लड़ता है—अपना और अपने परिवार का पेट पालने के लिए। जीवन के लिए मौत का सौदा तो खत्म होगा। जिन्हें हमें मारना होगा, हम उनके विरुद्ध अभिचार करा देंगे।”

पितामह को कुछ ऐसा लगा जैसे मैं उनके कथन की उपेक्षा या उनका उपहास कर रहा हूँ। वे कुछ झुँझलाकर बोले, “तुमने तो मेरी बात की गंभीरता ही समाप्त कर दी; पर कन्हैया, मैं कह रहा हूँ कि अभिचार क्रिया है, होती

है और उसका विधान है।” इसी संदर्भ में उन्होंने एक श्लोक सुनाया—

“औषध्यो रक्त पुष्पाश्च कटुकाः कण्टकान्विताः ।

शत्रूणामभिचारार्थमथर्वेषु निदर्शिताः ॥

“शत्रु का अनिष्ट करने के लिए अभिचार क्रिया की जाती है। इस अनुष्ठान में रक्त पुष्प की तरह की ओषधि, कटु व कंटकान्वित नाना प्रकार के फल-फूल की आवश्यकता पड़ती है। इस क्रिया की विधि अथर्ववेद में भी वर्णित है।”

इसके बाद तो मैं चुप हो गया।

वे बोले, “अब तो तुम्हें इस तामसी विद्या पर विश्वास हो गया होगा?”

मैंने बस स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

वे बोलते रहे—“तो सुनो, शकुनि चार लोगों पर मारण कर रहा है। वे चार हैं—मैं, विदुर, भीम और अर्जुन।”

“आश्चर्य है कि उसने मुझे छोड़ दिया!” मैं बीच में ही बोला।

“यही तो मुझे आश्चर्य है।” पितामह बोले, “शायद उस तांत्रिक पर तुम्हारे ईश्वरत्व का प्रभाव हो। उसने तुम्हारा भी नाम लिया हो और वह तैयार न हुआ हो।”

“तब तो आपकी व्यग्रता उचित है।” मैंने कहा।

“मैं अपने लिए व्यग्र नहीं हूँ। मुझे तो इच्छा मृत्यु का वरदान है। मेरी मृत्यु मेरी इच्छा के पहले नहीं आ सकती। मुझे चिंता शेष तीन की है।”

“क्या महात्मा विदुरजी इस स्थिति से अवगत हैं?” मैंने पूछा।

पितामह झोंक में बोल गए—“वह मुझसे पूर्व से अवगत हैं।” फिर अपनी भूल पर स्वयं हँसने लगे और कहा, “देखो, झूठ बहुत देर तक स्वयं नहीं टिकता। वास्तविकता खुल ही जाती है। वस्तुतः यह रहस्य उन्होंने ही मुझे बताया था, किसी गुप्तचर ने नहीं।”

“और उन्हें बताया होगा विकर्ण ने।” मैंने कहा, “क्योंकि इतनी गंभीर और रहस्यमय स्थिति तक कोई गुप्तचर पहुँचे, मेरा मन नहीं कहता।”

“हो सकता है।” पितामह ने स्वीकार किया—“तुम्हारे साथ-ही-साथ आज मैंने उसे भी बुलाया था; पर वह अभी तक तो नहीं आया।”

“यदि मेरा सोचना ठीक है तो हो सकता है, वह आए भी न।” मैंने कहा, “तो आपने विदुरजी से यह नहीं पूछा कि इस विषय में क्या करना चाहिए?”

“उसने बस इतना ही कहा, ‘जो प्रभु करेगा, ठीक ही करेगा।’”

“उन्होंने उचित ही कहा। आखिर लाक्षागृह में जो हुआ था, वह प्रभु की कृपा से ही हुआ था; भले ही उसके लिए कोई निमित्त बन गया हो।”

“पर इसके लिए तुम्हीं निमित्त बनो और जल्दी करो।” पितामह की व्यग्रता एक बार फिर उभरी।

“आपका कुछ अनुमान है कि यह अनुष्ठान कहाँ हो रहा होगा?”

“ठीक-ठीक स्थान तो नहीं बता सकता, पर इतना निश्चित है कि यमुना के उस पार खांडव वन के किसी एकांत और निर्जन स्थान में ही यह संभव है; क्योंकि सुना है, यह अनुष्ठान जरा सा भी विघ्न सह नहीं सकता। एक मामूली बाधा भी इसे समाप्त कर सकती है।”

अब मेरी दृष्टि खांडव वन पर थी। वहाँ पर सर्प बहुत हैं। उनका उपयोग किया जा सकता है। मैं इसी विषय में

सोचने लगा।

“जब से मैंने यह घटना सुनी है तब से एक बात तो साफ हो गई है।”

“क्या?”

“चाहे हम लोग कितना ही प्रयत्न करें, पर कौरव पांडवों को हस्तिनापुर में शांति से रहने नहीं देंगे।” इतना कहते-कहते पितामह की आकृति पर चिंता की एक काली छाया उग आई, जो डूबती संध्या के उस धुँधलके में और भी गहरी हो गई थी।

मेरे दाहिने ओर स्तंभों में लगी मशालों के जलाने का उपक्रम शुरू हो गया था। एक के बाद एक मशालें जलाई जा रही थीं। अंधकार की स्थिर छाती पर काँपता प्रकाश फैलने लगा था। प्रहरी की अनुमति लेकर जब एक प्रकाशवाहक कक्ष में घुसा तब एक चुप्पी हम लोगों के अधरों पर आपसे आप आकर चिपक गई थी।

प्रकाशवाहक के जाने के बाद पितामह ने पुनः कहा, “इस संदर्भ में भी तुम्हें सोचना होगा।”

“किस संदर्भ में?”

“यही कि ऐसी स्थिति में पांडवों के लिए क्या किया जाए!”

“इसे तो आपको ही सोचना है। इसमें मैं क्या कर सकता हूँ! आप जैसा आदेश करेंगे, वह तो करूँगा ही; पर इस समय तो हमें सद्यः आए संकट पर विचार करना है।”

इतना कहकर मैं उठकर चलने को हुआ। पितामह का सौजन्य मुझे कक्ष के बाहर दूर तक छोड़ने आया।

अनुकूल अवसर देखकर मैंने दूसरा विषय छोड़ा—“नगर का महापौर चंद्रसेन आया था।”

“हाँ, वह मेरे पास भी आया था। वह पांडवों का नागरिक अभिनंदन करना चाहता है।” उन्होंने कहा।

“इस विषय में आपकी क्या राय है?”

पितामह गंभीर हो गए। बहुत सोचते हुए बोले, “वस्तुतः चंद्रसेन अब महापौर भी नहीं है। फिर भी यदि प्रजा पांडवों का अभिनंदन करना चाहती है तो करे।”

“आप उसमें उपस्थित होंगे न?”

“यह बाद की बात है। अभी से क्या कहूँ!” पितामह बोले, “क्योंकि मेरा पहले से सोचा कभी होता नहीं है। यह मेरा दुर्भाग्य है।”

“इससे आप अपना दुर्भाग्य क्यों सोचते हैं?” मैंने कहा, “आप यह सोचिए कि किसी संकल्प को पूरा करने के लिए जिस आत्मबल की आवश्यकता होती है, उसमें आपकी ओर से कहीं कोई कमी तो नहीं है।”

वे बड़ी गंभीरता से मुझे देखने लगे।

मैंने फिर कहा, “यह छोटा मुँह बड़ी बात है; पर मुँह से निकल गई, क्या कहूँ! क्षमा-प्रार्थी हूँ।”

पितामह मौन थे और मौन ही रह गए। एक असह्य-सी लगनेवाली गंभीरता का आस्तरण उनके पूरे व्यक्तित्व पर पड़ गया। मैंने तुरंत उनके चरण छुए। वे भी उसी समय लौट पड़े। उन्हें बोझिल क्षणों से मुक्ति मिली।

मैं उसी रथ से चल पड़ा था। अँधेरा और गाढ़ा हो गया था। रात का प्रथम प्रहर आधा समाप्त हो चुका था, पर राजपथ अब भी जाग रहा था। अश्वों और रथों के साथ ही लोग पैदल भी आ-जा रहे थे। मैं इन सबको देखते हुए भी नहीं देख पा रहा था। मेरा मन तो खांडव वन और अभिचार क्रिया में उलझा था। यही सोच रहा था कि पहले शकुनि की इस क्रिया को किस प्रकार निष्फल किया जाए।

ले-देकर दो ही व्यक्ति इस समय मेरे दृष्टिपथ में आ रहे थे, जिनके द्वारा इस विषय में कुछ किया जा सकता था—एक छंदक और दूसरा भीम। एक बुद्धि की प्रखरता का प्रतीक और दूसरा शारीरिक बल का। पितामह के

कथनानुसार मेरे पास समय बहुत कम था। मैं सीधे राजप्रासाद के अतिथिगृह में आया और पितामह के सारथि को धन्यवाद दे अपने कक्ष की ओर बढ़ा।

संयोग मेरे अनुकूल था। भीम उधर से आता दिखाई दिया।

“मैं तुम्हींको खोज रहा था।” मैंने उसे रोकते हुए कहा।

“और मैं आपके कक्ष में बैठा हुआ कब से आपकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ!”

“क्या हुआ? बलंधरा से झगड़कर आ गए?”

“झगड़ा! आपने ही तो मना किया था।” भीम मुसकराया।

उसने बताया कि उसने उसे वस्तुस्थिति समझाई, तब उसने कहा कि इस ओर तो मेरा ध्यान ही नहीं गया था। मैं तो जीजी का संदेश लेकर कन्हैया के पास गई थी।

भीम का कहना था—“मैंने उससे पूछा, ‘उस कथन में तुम्हारी मंशा नहीं थी?’

“‘उस समय तो थी।’ बलंधरा ने वस्तुस्थिति स्वीकार की—‘पर इस समय वह बिल्कुल नष्ट हो चुकी है। कोई जानबूझकर अपने भविष्य में आग थोड़ेही लगाएगा।’

“‘तो अब मैं कन्हैया से क्या कहूँ?’ मैंने बलंधरा से पूछा। वह बोली, ‘अब स्पष्ट कह दीजिएगा कि बलंधरा अपनी जीजी का केवल संदेश लेकर आई थी। उसके पीछे उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं थी।’ उसने यह भी कहा, ‘यदि आवश्यकता हुई तो मैं स्वयं उनसे मिलूँगी।’ ”

“इसका तात्पर्य है कि वह तुम्हारे लिए अपनी जीजी को छोड़ देगी?”

“छोड़ देगी नहीं वरन् छोड़ चुकी है।” भीम ने ऐसे ढंग से कहा कि मुझे हँसी आ गई और वह भी हँसने लगा।

“इसका मतलब है कि विजयश्री तुम्हारा ही नहीं वरन् तुम्हारे प्रेम का भी चरण चुंबन करने को तैयार है!”

उसकी मुद्रा गर्वोन्नत हो गई।

“तुमसे एक महत्वपूर्ण बात कहनी थी।” यह कहते हुए उसे मैं अपने कक्ष में ले गया। भैया जा चुके थे; पर उद्धव और छंदक अब भी बैठे थे। मैंने उनके सामने ही पितामह का बताया अभिचार का प्रकरण छोड़ा।

“इस नीचता पर उतर सकते हैं कौरव! मैंने कभी सोचा भी नहीं था।” भीम बोला।

“आश्चर्य है कि तुमने लाक्षागृह की घटना के बाद भी नहीं सोचा।” मैंने कहा, “इस समय कौरवों की नीचता विचारणीय नहीं है। विचारणीय यह है कि अभिचार को असफल करने के लिए हमें क्या करना चाहिए?”

“हमें पांचाल से लाई सेना लेकर सीधे खांडव वन में घुस जाना चाहिए और पता लगाकर अभिचार अनुष्ठान पर टूट पड़ना चाहिए तथा शकुनि मामा को किनारे लगा देना चाहिए। न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी।”

बाँसुरी का नाम सुनते ही आज भी मेरा मन वृंदावन के कुंजों में चला जाता है। मेरे सामने इस समय भी राधा आकर खड़ी हो गई; मानो वह मुझसे झगड़ा करते हुए कहने लगी—‘मेरा दुर्भाग्य था कि मैं बाँसुरी न बन सकी, अन्यथा हर समय मैं तुम्हारे साथ रहती।’

“क्या सोचने लगे?” भीम ने मुझे टोका।

“सोचता हूँ कि तुम कितने बड़े पागल हो!” अपनी मनःस्थिति छिपाते हुए मैं संदर्भ से जुड़ा—“तुम हमेशा युद्ध मोल लेने की बात छोड़ते हो। मेरे विचार से युद्ध विवशता की अंतिम स्थिति है। जब तक युद्ध अनिवार्य न हो जाए तब तक उसकी बात नहीं सोचनी चाहिए।”

“यही धर्मराज भी कहते हैं—और हम हर जगह मार खा जाते हैं।”

“तुम गलत सोचते हो। मार तो खा रहे हैं कौरव। हमेशा पराजय ही उनके हाथ लगती है।” मैंने उसे समझाया

—“शकुनि का वध तो तुम कर सकते हो; पर उसका परिणाम जानते हो? उसी क्षण से हस्तिनापुर में कौरवों और पांडवों का युद्ध आरंभ हो जाएगा—और युद्ध के अपराधी होंगे तुम। सारी प्रजा तुम्हारे विरुद्ध होगी।”

“तब हमें क्या करना चाहिए?” उसकी फुफकार एकदम ठंडी पड़ गई।

“हमें कूटनीति से काम लेना चाहिए।” मैंने छंदक को संबोधित करते हुए कहा, “तुम मेरे विश्वस्त अंगरक्षक रक्ताक्ष को ले सकते हो। वह कालयवन की मृत्यु के बाद से मेरे साथ छाया की तरह लगा है। उसकी सहायता से खांडव वन में उस स्थान का पता चलाओ, जहाँ यह अनुष्ठान हो रहा है या होने की तैयारी में है।”

फिर मैंने भीम से कहा, “सुना है, खांडव वन में नागों और सर्पों का बाहुल्य है। शायद इसीलिए शकुनि ने वह स्थान चुना है कि यदि बात खुल भी जाए तो किसीका साहस उस नाग-संकुल क्षेत्र में जाने का न हो। तुम लोगों को भी बड़ी सावधानी से वहाँ जाना है।”

“ठीक है, पर सावधानी से पहुँचकर भी मैं वहाँ क्या करूँगा?” भीम के स्वर से लगा कि वह युद्ध न करने के मेरे निर्णय से अप्रसन्न है।

“अरे भाई, मेरी पूरी बात तो सुनो।” मैंने कहा, “नकुल की अश्वशाला में एक अश्वपाल था। वह नागों को वश में करने और पकड़ने की कला में सिद्धहस्त था। नकुल का विश्वासी भी था। आज भी वह हस्तिनापुर में होगा। हो सकता है, वह उससे मिला भी हो। उसका पता लगाकर उसे ले जाओ। वह नागों को पकड़े और उसीसे कहो कि वह चुपचाप अनुष्ठान के स्थान पर उन्हें छोड़ आए।”

मैंने सारी योजना बताकर कहा, “हमें अनुष्ठान भंग करना है और सामने भी नहीं आना है। अपनी ओर से इसका प्रचार भी नहीं करना है; बल्कि कोई कहे तो हमें यही कहना चाहिए कि कौरव हमारे भाई हैं; ऐसा करना तो दूर, ऐसा सोच भी नहीं सकते।”

भीम मुसकराया—“अद्भुत हो तुम भी! कुछ लोग तुम्हें छलिया कहते हैं, वह ठीक ही कहते हैं। तुम्हारी लीला को समझ पाना सबके वश की बात नहीं है।”

मैंने कहा, “अब बातें करने का समय नहीं है। आप लोग तुरंत अपने कामों में लग जाइए।”

भीम और छंदक उसी समय कक्ष से चले गए।

□

रात तो मैंने महात्मा विदुर के आवास पर ही बिताई। न तो मैंने अपनी तरफ से कुछ कहा और न उन्होंने ही कोई विशेष सूचना दी। फिर भी मेरा मन विगत संदर्भों में ही उलझा रहा।

मैं सोने की चेष्टा कर रहा था। नींद की माया अभी पूरी तरह मुझपर छाई नहीं थी कि मुझे लगा जैसे कोई मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। उसने कहा, ‘तुम इतने व्यग्र क्यों हो? मारण तो शत्रु पर चलता है न! यदि तुम उसे अपना शत्रु न समझो तो तुमपर कैसे चलेगा?’

मुझे और कोई तो दिखाई नहीं दिया, पर उसकी आवाज बराबर आती रही। हो सकता है, वह मेरा ही प्रत्यय हो। मैं उसे मौन सुनता रहा—‘तुम उसे शत्रु न समझो और वह तुम्हें शत्रु समझे, तो इसका तात्पर्य यह है कि वह अपना शत्रु स्वयं है—और ऐसे मारण और उच्चाटन का उलटा प्रभाव पड़ेगा।’

बस इतना सुनना था कि मैं जाग उठा; जैसे माँ की गोद से कोई उनींदा बच्चा अचानक हाथ-पैर मारता हुआ उठ बैठे।

मैं उठकर टहलने लगा। मैंने वातायन से देखा, रात आधी जा चुकी है। संसार गुमसुम और बेसुध चैत्र की शीतल तथा सुगंधित हवा के झोंकों में उसाँसें भर रहा है।

मैं फिर आकर शय्या पर ढुलक गया। कब नींद आई, पता नहीं।





अगला सवेरा मेरे लिए संशय और आशंकाओं से भरा था। आज संध्या-पूजन से शीघ्र ही निवृत्त हुआ और जलपान के बाद अतिथिगृह में आया। छंदक के चले जाने के बाद अब मेरे कक्ष में उद्धव अकेला था। जब भीतर घुसा तो देखा, महापौर चंद्रसेन मेरी प्रतीक्षा में बैठा है।

वह मुझे देखते ही खड़ा हो गया। उससे मुझे पता चला कि पूरा नगर अभिनंदन की व्यवस्था में लगा है। अब तिथि का निर्णय मुझे करना है।

“सारा कार्यक्रम आपका और तिथि का निश्चय मैं करूँ! कैसी बात कर रहे हैं आप!”

महापौर ने मुसकराते हुए कहा, “जिससे आपको असुविधा न हो।”

“सुविधा-असुविधा तो आपको देखनी है, यहाँ की सत्ता को देखनी है।” मैंने कहा।

उसने कहा, “पर सत्ता गंभीर रूप से उदासीन है।” इसके बाद उसने हर एक से मिलने, आग्रह करने और उसकी उदासीनता की वह कहानी दुहराई, जिसे वह एक बार मुझे सुना चुका था।

मैंने कहा, “आपको शकुनि मामा से मिलना चाहिए। सुना है, आजकल वे हस्तिनापुर पर छाए हैं।”

“मैंने दो-तीन बार चेष्टा की, पर भेंट न हो सकी।”

“ऐसा क्या है कि भेंट नहीं हो पा रही है? ऐसा तो नहीं कि वे आपसे मिलना न चाह रहे हों?” मैंने पूछा।

“ऐसी बात तो होनी नहीं चाहिए।” वे बोले, “लगता है, वे नगर में हैं नहीं। यदि होते तो कहीं-न-कहीं गंगातट, उद्यान में, दुर्योधन के यहाँ या कर्ण के आवास पर दिखाई अवश्य पड़ जाते।”

“कर्ण के यहाँ भी आप गए थे?” मैंने पूछा।

“हाँ, गया था न!” उसने कहा, “कौरव पक्ष का एक वही व्यक्ति ऐसा है, जिसने खुलकर हमारा समर्थन किया और कहा, ‘वीरों का सदा अभिनंदन करना चाहिए। मनुष्य के श्रेष्ठ गुणों का अभिनंदन करनेवालों की अस्मिता चिरंजीवी होती है।’” वह अब कर्ण की प्रशंसा में बोलने लगा था—“अद्भुत व्यक्ति हैं वे भी। सूतपुत्र होकर भी कहीं से सूतपुत्र नहीं लगते। उनकी प्रकृति कौरवों से नहीं मिलती, फिर भी वे कौरवों के कट्टर पक्षधर हैं।”

“उनसे आपने मामा के बारे में नहीं पूछा?”

“पूछा था।” उसने बताया—“शकुनि का नाम लेते ही वे भड़क पड़े। बोले, ‘होंगे कहीं। मैं उनका ठेका लेकर तो बैठा नहीं हूँ!’”

मेरा मन भी बोल पड़ा—‘चाहे जो हो, पर कर्ण के जीवन में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा है। इसलिए हमारे विपक्ष में होकर भी, हमारा विरोध करके भी पता नहीं क्यों, वे कौरवों की अपेक्षा अधिक करीब मालूम होते हैं। वे वय में मुझसे बहुत बड़े हैं; फिर वे न तो मेरा निरादर करते हैं और न उपेक्षा।’

मैंने चंद्रसेन को सलाह देते हुए कहा, “दो-चार दिनों बाद आप कोई भी तिथि रख लें।”

“क्यों, कहीं जाने वाले हैं?”

“नहीं तो।”

“तब आपने चार दिनों बाद की बात क्यों कही?”

अब मैं क्या उत्तर देता! हँसते हुए बोला, “हस्तिनापुर के जल में हिलोर बहुत है। जरा जल को स्थिर होने दो।”

वह भी हँसने लगा और फिर अभिवादन कर चला गया।

अब कक्ष में उद्धव के साथ मैं अकेला था। मैंने उसे विदुर के यहाँ की घटना से अवगत कराया और कहा कि यों तो मेरा सदा से यह विश्वास रहा है कि होता वही है, जो नियति चाहती है और मुझे नियति अनुकूल भी लगती है। यदि ऐसा न होता तो अभिचार की पूर्व सूचना मुझे न मिली होती और उसके विरुद्ध हम कुछ करने की चेष्टा

न कर पाते। फिर ऐसा नहीं कि विदुर महाराज निष्क्रिय होंगे। वे तो इस अनुष्ठान के प्रथम लक्ष्य हैं। वे भी अपनी ओर से कुछ-न-कुछ तो कर ही रहे होंगे।

इसका अनुमान मुझे इससे भी लगा है कि वे अप्रत्याशित रूप से शांत और गंभीर थे। इधर-उधर की कोई बात उन्होंने नहीं की थी। फिर भी ज्यों-ज्यों समय सरकता गया, हमारी व्यग्रता बढ़ती गई।

थोड़ी देर बाद पूरे अतिथिभवन में हलचल-सी मच गई। मैंने समझ लिया कि कुछ हो गया है। मेरा मन अचानक अर्जुन की ओर गया। वह कुशल से तो है? मैं उद्धव से भी कुछ कह नहीं पाया। ऐसी व्यग्रता की विषम स्थिति मेरे जीवन में बहुत कम आई है। पर शीघ्र ही ज्ञात हुआ कि दुर्योधन अचानक अतिथिभवन में आ धमका है। यह सारी हलचल उसीके अप्रत्याशित आगमन की है। उसके साथ उसके दो भाई—बलाकी और महाबाहु भी हैं। वह सीधे मेरे कक्ष में आया। उसने अपने भाइयों और अंगरक्षकों को बाहर ही रखा।

“आप मुझसे नाराज हैं क्या?” उसने आते ही पूछा।

विचार आया कि आज अचानक यह पूछने क्यों चला आया? शंकाकुल मन हर स्थिति को शंका की दृष्टि से ही देखता है। मैंने कहा भी—“इस प्रश्न के पूछने में आपसे कुछ देर हो गई।” और हँसने लगा।

“बात यह है कि मैं कल से ही आपसे मिलना चाहता था; पर कोई-न-कोई राजकाज आता गया और विलंब होता गया। क्या इसके लिए भी मैं आपसे क्षमा माँगूँ?”

“नहीं जी। मैंने तो परिहास किया था।” मैंने कृत्रिम आत्मीयता के स्वर में कहा, “कुछ संयोग ऐसा हुआ कि उस रात मैं सीधे विदुर चाचा के आवास पर गया था। इतने दिनों के संघर्ष के बाद वहाँ मिली शांति बड़ी सुखद रही। वहीं जम गया। अब भी रातें वहीं बिताता हूँ। दिन में तो यहाँ चला आता हूँ।”

“रहते आप यहाँ अवश्य हैं, पर अतिथिगृह का भोजन भी नहीं करते। मेरा भेजा भोजन भी आप औरों में बाँट देते हैं। मेरे प्रति इतना दुराव क्यों?”

मुझे लगा कि मेरी सारी गतिविधि की सूचना इसे मिलती रहती है। हँसकर टालने के सिवा मेरे पास उसकी बात का कोई उत्तर नहीं था।

“यह भी मात्र संयोग है।” मैंने कहा, “आवास से निकलते समय चाचाजी इतना खिला-पिला देते हैं कि और कुछ खाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। दिन में जहाँ जाता हूँ, वहाँ भी खाता-पीता रहता ही हूँ। फिर आपके यहाँ के भेजे पकवान इतने सुस्वादु होते हैं कि लोग खुद ही उनपर टूट पड़ते हैं।”

“मैं सब समझता हूँ, कन्हैया!” दुर्योधन अब अपने असली रूप में आया—“यह सारी खुराफात उस क्षत्ता (दासीपुत्र के साथ ही एक गाली भी) की है। जो उसके यहाँ आता है, वह उसका मस्तिष्क खराब कर देता है। पर अब यह अधिक चलनेवाला नहीं है।”

मैं कुछ उत्तर देता, इसके पूर्व ही एक चर आया। चर ने दुर्योधन के कान में कुछ कहा और उसकी आकृति पर चिंता की कालिमा दौड़ गई। वह एकदम उठ खड़ा हुआ।

“अच्छा चलता हूँ। फिर मिलूँगा।” कहकर वह हवा के झोंके की तरह बाहर निकला। मैं उसे सम्मानपूर्वक बिदा करने के लिए पीछे-पीछे लगा।

“आजकल मामाजी भी दिखाई नहीं देते! दुःशासन तो नगर में है न? सुना है, वह गांधार जाने वाला है?” मैंने एक के बाद एक प्रश्नों की झड़ी लगा दी। पर वह जो भागा कि बिना कुछ कहे-सुने अतिथिगृह के बाहर हो गया।

दुर्योधन मुझसे कुछ प्रसन्न था; क्योंकि भानुमती ने उससे कहा था कि शायद आपको युवराज पद पर बने रहने के लिए वासुदेव राजी हो गए हैं। इस प्रसंग में बलंधरा की भूमिका की उसने प्रशंसा की। इसी विषय में वह मेरे

यहाँ आया था। किंतु अचानक खांडव वन की दुर्घटना के कारण उसे जाना पड़ा।

इतना यह समझने के लिए पर्याप्त था कि शकुनि का पासा उसीके विरुद्ध पड़ा। कक्ष में आकर मैंने उद्धव से भी इसका संकेत किया।

“स्थिति तो कुछ ऐसी ही लगती है।” उसने भी मेरा समर्थन किया। पर हुआ क्या और कैसे हुआ, इसकी जिज्ञासा अब शिखर छूने लगी थी।

तब तक रक्ताक्ष ने भीम के आने की सूचना दी।

“कहाँ है वह?” मैंने पूछा। उसे क्षण भर के लिए भी अलग छोड़ देना नया संकट पैदा कर देगा; क्योंकि विजयोन्माद में उसका बढ़-चढ़कर बोलना उसकी प्रकृति है।

जब रक्ताक्ष ने यह बताया कि मार्ग में उसका सामना दुर्योधन से हो गया और वह उसीसे उलझ गया है, तब मैं और भी घबराया। मैं तुरंत रक्ताक्ष को उसे बुलाने के लिए भेजने ही वाला था कि वह आता दिखाई दिया।

वह परम प्रसन्न लगा। आते ही उसने सावधान किया कि सबकुछ गोपनीय ही रहना चाहिए।

मैंने कहा, “आते ही तुम दुर्योधन से उलझ गए, मैं तो घबरा ही गया था।”

“आप मुझे जितना मूर्ख समझते हैं, वस्तुतः मैं उतना मूर्ख हूँ नहीं।” भीम बोला और मेरे साथ वह भी हँसने लगा।

फिर उसने जो बताया, वह जितना अद्भुत था उतना ही रोमांचक भी। उसने बताया—“आपने जिस अश्वपाल की चर्चा की थी, अब वह बेकारी के दिन बिता रहा है। राजकीय सेवा से निष्कासित है। मुझे उसे खोजने में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा। वह नकुल के पास ही बैठा मिल गया। मैंने उसे जब आपकी मंशा बताई तब वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने कहा कि ‘यह कौन सी बड़ी बात है! आप लोग मेरे साथ चलिए। मुझे खांडव वन का चप्पा-चप्पा मालूम है। मैं अनुमान से बता सकता हूँ कि यह अनुष्ठान कहाँ हो रहा होगा। गंगा के कछार में एक स्थान पर कुछ तांत्रिक रहते हैं। मेरा विचार है कि वहीं यह कुचक्र रचा जा रहा होगा। बड़े सहजभाव से दो घड़ी में वहाँ पहुँचा जा सकता है।’

“इसके बाद हम लोगों से वह बोला, ‘आप लोग गंगा किनारे चलें, मैं वहीं मिलूँगा।’ ”

भीम ने आगे बताया—“जब हम लोग पहुँचे, इसके पहले ही वह गंगा के किनारे अपना तूर्य (एक प्रकार का बाजा), तुरही एवं एक लंबी लौह शलाका जैसा अस्त्र और बड़ी झोली लिये बैठा था। हम सब एक तरणी से पार हुए। सभी अश्वविहीन। हमारे अश्व उसने एक स्थान पर बँधवा दिए। हम पैदल ही आगे बढ़े। उसने कहा कि ‘आप बिल्कुल भयभीत न हों। हर नाग हमारे लिए पालित श्वान से भी अधिक वचनपालक होता है। जैसा मैं उन्हें आदेश दूँगा, वे वैसा ही करेंगे।’ ”

भीम बोलता रहा—“अब वह पूर्व अश्वपाल और आज का नागपाल हमारा नेता था। हम उसके नेतृत्व में चल रहे थे। थोड़ी दूर चलने के बाद उसने एक विराट् वट वृक्ष के मूल तने के पास दूहे की तरह उठी हुई धरती दिखाई और कहा, ‘यह मेरे पालित श्वानों का घर है।’

“फिर तुरही बजाते हुए उस लंबी लौह शलाका से उसने थोड़ा ही खोदा होगा कि कोई फोड़ा फूटे—बिलबिलाते हुए कई नाग निकल आए। फिर उनपर उसने अभिमंत्रित जल छिड़का और वे सचमुच उसकी आज्ञानुसार झोली में आते गए।

“दो-चार जगह उसने ऐसा ही किया। झोली पूरी भर गई। अब उसे कंधे पर लेकर वह हमारे आगे-आगे चला। रात हो गई थी। यों भी अँधेरा था तथा उस जंगल में वह अँधेरा और भी घना हो गया था। वह बोला, ‘आप लोग घबराइएगा नहीं, ठीक मेरे पीछे आइए। हम लोग इसी पगडंडी से अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाएँगे। फिर वहाँ

पहुँचते-पहुँचते चंद्रोदय हो जाएगा। तब इतनी परेशानी नहीं होगी।”

फिर रक्ताक्ष की ओर देखकर भीम मुसकराया और उसके विषय में बताया—“पहले यह ठीक उसके पीछे था, फिर अचानक यह इतना डर गया कि मुझे आगे करके मेरे पीछे हो गया।”

“बात यह थी कि उस थैली में से एकाएक दो-एक नाग फनफनाए। मुझे बड़ा भय लगा।” रक्ताक्ष बोला।

अब भीम की कथा अपने अंतिम पड़ाव पर आ गई थी। उसने बताया—“अब पूर्व में चतुर्दशी का चंद्रमा निकल आया था। हमें दूर से ही एक झोंपड़ी दिखाई दी, जिससे छनकर प्रकाश आ रहा था। उस धुँधलके में झोंपड़ी से निकल रहे धुएँ का हमें आभास हुआ। हमने अनुभव किया कि यज्ञ जैसी कोई क्रिया हो रही है। अनुष्ठान चल रहा है।”

भीम बताता गया—“उस अश्वपाल ने हमें यहीं पर रोक दिया और अपनी झोली लेकर चुपचाप दबे पाँव आगे बढ़ा तथा झोंपड़ी के निकट पहुँचकर सारी झोली उड़ेल दी। उन विषधरों पर फिर अभिमंत्रित जल छिड़का। सबके सब झोंपड़ी में घुसते चले गए और क्षण भर में कोलाहल मच गया।

“इसी बीच एक विलक्षण घटना और हुई।” भीम के नेत्र विस्फारित हो गए—“हमें स्पष्ट दिखाई दिया कि एक के बाद एक कई मशालें उस झोंपड़ी पर पड़ीं और उसमें आग लग गई।”

मैं तो समझ गया कि यह विदुरजी की ओर से किया गया प्रयत्न रहा होगा; पर मैंने कुछ कहा नहीं। भीम के चमत्कृत मन को चमत्कृत ही रहने दिया और कहा, “इस बार भी उनपर हुए दैवी प्रकोप ने ही तुम्हें बचा लिया।”

भीम अभी मेरे कक्ष में बैठा ही था कि अचानक पितामह के चर आए। उन्होंने कहा, “पितामह बड़ी व्यग्रता से आपको स्मरण कर रहे हैं।”

“क्या बात है?”

“यह तो मुझे नहीं मालूम।” उसने कहा।

“उनकी मुद्रा कैसी है?” यह मेरा दूसरा प्रश्न था।

“उनकी मुद्रा सदा एक जैसी ही रहती है।” चर बोला, “पितामह की मुद्रा देखकर कुछ भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता। वे उस धरती के समान हमेशा गंभीर दीखते हैं, जो अपने भीतर आग के साथ-साथ पानी भी छिपाए रखती है।”

“पर धरती से ज्वालामुखी भी फूटता है, पानी के सोते भी उभरते हैं।” मैंने कहा।

“ऐसा आप लोगों के सामने होगा, हम लोगों के सामने कभी नहीं हुआ।” चर बोला और बताया—“मैं रथ भी लाया हूँ।”

मैंने समझ लिया कि कोई अति आवश्यक बात होगी। उसी रथ से चल पड़ा।

पितामह के आवास पर पहुँचते ही पता चला कि वे अंतरंग कक्ष में हैं। वहीं विदुरजी भी हैं। कोई गंभीर मंत्रणा चल रही है। चर मुझे उसी कक्ष की ओर ले चला।

मुझे देखते ही पितामह खिल उठे।

“लगता है, दैव हमारे अनुकूल हैं।” वे बोले।

मैंने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। मैं सबकुछ जानकर अनजान बना रहा। मैंने विदुरजी की ओर देखा, वे भी मौन ही थे।

“कन्हैया, तुमने कुछ सुना?” पितामह ने पूछा और स्वयं ही बोल उठे—“अभी-अभी सूचना मिली है कि शकुनि को विषधर ने डस लिया है और दुःशासन का पैर बुरी तरह जल गया है।”

“यह तो दुःखद है।” मैंने कहा, “पर आश्चर्य है कि दोनों घटनाएँ एक साथ कैसे हुई!”

“यही तो मैं नहीं समझ पा रहा हूँ।” विदुरजी कैसे बोल गए।

मेरे मन ने कहा कि आप कैसे समझ पाएँगे। आपकी व्यवस्था तो अग्निकांड तक ही सीमित थी। फिर भी मैंने विस्मय का ही प्रदर्शन किया और कहा, “अब लोग यही प्रचारित करेंगे कि पांडवों का पौरा अच्छा नहीं है। उनका आगमन शुभ नहीं है। उनके आते ही अनिष्ट होने लगे।”

“पर भगवान् जो करता है, ठीक ही करता है।” पितामह ने कहा मुझसे ही, पर वे विदुरजी की ओर देखकर मुसकराए। फिर भी विदुरजी की प्रतिक्रिया शून्य थी। सबकुछ जानते हुए भी वे वैसे ही मौन रहना चाहते थे जैसा मैं था। लगता है, पितामह ने षड्यंत्र की जो सूचना मुझे दी थी, वह भी विदुर चाचा ने ही उन्हें बताई थी। इसीलिए हम तीनों एक विचित्र नाटकीयता ओढ़े हुए थे।

“पर यह सब हुआ कैसे?” मैंने पूछा।

“यह तो नहीं मालूम।” विदुर चाचा बोले, “राजवैद्य को बुलाकर सीधे पितामह को सूचित करने यहाँ चला आया और अब वहीं जा रहा हूँ; क्योंकि स्थिति गंभीर है।”

उनके चले जाने के बाद मैंने पितामह से दुर्योधन के अपने यहाँ आने की और अचानक चले जाने की बात कही।

वे प्रसन्नता से बोले, “देखो, मारनेवाले से बचानेवाले के हाथ कितने लंबे होते हैं!”

मैं फिर भी चुप था।

“यदि स्थिति गंभीर है तो हम लोगों को देखने चलना चाहिए।” पितामह बोले।

पर मैंने सोचा कि दुर्योधन ने पहली जानकारी को तो मुझसे छिपाया है। ऐसे में क्या मेरा वहाँ जाना उचित होगा? अप्रत्याशित मुझे देखकर इन सबके पीछे मेरा हाथ होने की उन्हें शंका हो सकती है।

मैंने पितामह से ही पूछा, “क्या मेरा अभी चलना उचित होगा?”

पितामह भी सोच में पड़ गए। उन्होंने मेरी स्थिति का अनुमान लगा लिया। फिर दबाव नहीं दिया।

“पर मुझे तो जाना ही चाहिए। महामात्य ने मुझे सूचित कर दिया है।” वे बोले।

हम दोनों आवास से साथ ही निकले। उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए बड़ी गंभीरता से पूछा, “इन सबके पीछे तुम्हारी तो कोई लीला नहीं, कन्हैया?”

“जहाँ कुछ समझ में नहीं आता वहाँ लोगों को मेरी ही लीला दिखाई देती है और अनायास ही मेरा व्यक्तित्व ईश्वरत्व की ओर बढ़ता जाता है।” मैंने मुसकराते हुए कहा। एक रहस्यमय हँसी उनके चेहरे पर भी उग आई, जो मुझे बिदा देते समय तक बनी रही।

पितामह के निवास से निकलकर मेरा रथ चला जा रहा था। मैंने देखा, इतने समय में ही सारा वातावरण बदला-बदला दिखाई देने लगा था। चहल-पहल का जैसे किसीने गला घोट दिया हो। एक भयग्रस्त सन्नाटा साँय-साँय कर रहा था। एक घड़ी में ही इतना परिवर्तन!

जब मैं अतिथिगृह में पहुँचा तो वहाँ भी विचित्र फुसफुसाहट थी। कक्ष में पहुँचते ही देखा कि भीम अब भी बैठा है और अपनी प्रकृति के अनुसार उद्धव से हाँक रहा है। छंदक शायद अभी ही आया था। वह भी दोनों की बातों का आनंद ले रहा था।

“तुमने बड़ी देर लगा दी।” मैंने छंदक से कहा।

“बात यह है कि भीम के चले आने के बाद भी पूरी परिस्थिति पर दृष्टि रखे हुए उन्हींके पीछे लगा था।” छंदक

बोला, “आपको तो पितामह ने बुलाया था, क्या कहा उन्होंने?”

“कहते क्या! चमत्कृत थे।”

“उन्हें कैसे पता चला?”

“राजवैद्य को बुलाकर महामात्य सीधे वहीं चले आए थे। लगता है, उन्होंने ही पितामह को विस्तार से बताया था।”

“इसके आगे की बात शायद आपने न सुनी हो।” छंदक ने हँसते हुए कहा, “राजवैद्य नहीं आए। उन्होंने कहला दिया कि मैं त्यागपत्र दे चुका हूँ। अब मैं राजदरबार का चाकर नहीं रहा।”

“पर यह तो बड़ी गलत बात है।” मैंने आवेश में कहा, “राजवैद्य न होकर भी वे वैद्य तो हैं, कि उन्होंने वैद्य कर्म छोड़ दिया है! हर कर्म के साथ उसका एक धर्म होता है, जो जुड़ता है उसके कर्तव्यबोध से। एक रोगी मर रहा है और वैद्य यह कहे कि मैं नहीं आऊँगा! वस्तुतः वह अपने कर्तव्य से च्युत हो रहा है। वह अपने धर्म से च्युत हो रहा है।”

छंदक का तर्क था कि कौरवों का अब उनपर विश्वास नहीं रहा।

“वह अविश्वास नहीं, दुर्योधन की क्षुद्रता थी। उसका स्वयं अपने से अविश्वास था। यदि कौरवों का वैद्यराज में विश्वास न होता तो वे उन्हें पुनः बुलाते क्यों?” मैंने कहा, “इन सब बातों को छोड़ो। वैद्यराज अपने धर्म से बँधे हैं। उनके लिए न कोई विश्वस्त है और न कोई अविश्वस्त; न कोई शत्रु है और न मित्र। उन्हें अपने सामने बस मानव पीड़ा को देखना चाहिए। उसके आर्तनाद को सुनना चाहिए; जैसे भगवान् न पापी को देखता है और न पुण्यात्मा को। वह तो केवल उसकी व्याकुल पुकार सुनता है और चल पड़ता है। वैसे ही वैद्यराज को केवल व्याकुल व्यक्ति की पुकार सुननी चाहिए और चल पड़ना चाहिए।”

“महामात्य फिर उन्हें बुलाने गए हैं।” छंदक ने कहा, “देखिए, अब क्या होता है!”

“पर अब लोगों की स्थिति क्या है?” मैंने छंदक से पूछा।

“जैसे मैं सब जानता हूँ।” वह हँसने लगा। फिर उसने बताया—“दुःशासन तो लगभग बच गया। वह मशाल गिरते ही झोंपड़ी से भागा। उसका केवल पैर जला है। पर मामा तो वहीं संज्ञाशून्य होने लगा था; जबकि उसे सामान्य विषधर ने ही काटा है—वह भी पैर में।”

“यह तुम्हें कैसे मालूम कि वह विषधर सामान्य था या भयानक?”

“नकुल के अश्वपाल मित्र ने उसी समय कहा था कि इसके विष से ऐसा त्वरित प्रभाव नहीं होना चाहिए। उसका कहना था कि मामा पर विष से अधिक विषधर का प्रभाव पड़ा है, या इस अयाचित स्थिति से वह आतंकित हो गया है। फिर जहाँ सर्प ने काटा था, उस तांत्रिक ने चूसकर विष धरती पर उगल दिया था। उसे तो कुछ होना ही नहीं चाहिए था। मुझे ऐसी सूचना मिली है कि रह-रहकर उसे अब भी लहर आ रही है।”

“शायद तुम जानते नहीं, छंदक, कि मन पर लगी चोट तन पर लगी चोट से अधिक गहरी होती है।” मैंने कहा। फिर पूछा, “राजभवन से यहाँ कोई सूचना तो नहीं आई थी?”

अब उद्धव ने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया। मैंने देखा कि वह आज प्रातः से ही काफी उदास-उदास-सा है। मैंने उससे उदासी का कारण पूछा। वह बोला, “इधर निरंतर तनाव भोगते-भोगते त्रस्त हो गया हूँ। सोचता हूँ, कुछ दिनों के लिए चला जाऊँ। बहुत दिन हो गया है घर छोटे।”

“यदि पल्लवी और पुष्पवी की याद आ रही हो तो बड़े भाई होने के नाते मैं कुछ कह नहीं सकता।” मैं मुसकराते हुए कहता रहा—“और यदि केवल तनाव की बात है, तो यहाँ कौन तनाव में नहीं है! हम निरंतर युद्ध लड़ रहे हैं।”

युद्ध केवल रणक्षेत्र में नहीं होता। उसकी असली जड़ें हमारे मन में होती हैं। यह तनाव ही अब हमारा जीवन है। तुम तनाव से भागने की सोचते हो; पर सोचो, तुम जीवन से भागकर कहाँ जाओगे?”

उद्धव चुप था—और चुप हो गया। उसकी उदासी भी घनी हो गई।

मैं इस द्विविधा में था कि राजभवन में चलूँ या न चलूँ; क्योंकि मेरे पास कोई आधिकारिक सूचना नहीं थी। फिर भी मुँह-ही-मुँह सारा नगर जानने लगा था कि कुछ हो गया है। किसीने कहा कि यक्षों ने मामा-भानजे को खूब मारा है। कोई कहता कि यह दैवी प्रकोप है। पर कुछ हुआ जरूर है।

कांपिल्य से मेरे साथ आए बहुत से लोगों ने मुझसे जिज्ञासाएँ कीं; पर मैं किसीसे कुछ कहने की स्थिति में नहीं था। यह तो बहुत अच्छी बात थी कि भीम दोपहर का भोजन करके मेरे ही कक्ष में खरटि भर रहा था। यदि वह जागता होता तो इन लोगों की बातचीत में अवश्य हिस्सा लेता और कुछ ऊटपटाँग बक देता तो उलटी मुसीबत खड़ी हो जाती। मैंने उन लोगों से इतना ही कहा कि जो आप सुन रहे हैं, वही मैं भी सुन रहा हूँ।

इसी बीच बलराम भैया आ गए। उन्होंने मुझे एकांत में ले जाकर कहा, “अभी दुर्योधन का चर आया था। उसने दुःशासन के जलने और शकुनि को सर्प काटने की बात बताई है। दुर्योधन ने मुझे बुलाया है। मैं सोचता हूँ, मैं तुम्हें भी लेता चलूँ।”

मैं यही तो चाहता था। भैया के साथ हो लिया। बिना किसीसे कुछ कहे चुपचाप चल पड़ा।

राजभवन की उदासी दूर से ही दिखाई दी। प्रहरी भी सिर नीचा किए मौन खड़े थे। कोई किसीसे कुछ बोल नहीं रहा था। राजभवन परिसर में भी संभ्रांत लोगों की भीड़ थी। बहुत से लोग उद्यान की ओर भी चुपचाप बैठे थे। सभी के कान राजभवन की ओर लगे थे कि शायद कोई सूचना मिले; क्योंकि वे सुनी-सुनाई बात पर विश्वास कर चले आए थे। आधिकारिक समाचार की प्रतीक्षा में थे; पर राजभवन उन्हें अपने से अधिक मौन और शोकमग्न दिखाई दे रहा था।

रथ देखकर बहुत से लोग हमारे पास आए; पर कुछ पूछ न सके। प्रणाम कर मौन ही रहे। हमने भी उनके मौन अभिवादन का मौन ही उत्तर दिया और आगे बढ़े।

अंतःपुर में महाराज धृतराष्ट्र, उनकी बगल में गांधारी, सामने पितामह और विदुरजी बैठे थे। हमारे अभिवादन का भी हमें ठंडा ही उत्तर मिला। पितामह के संकेत पर ही पास के सिंहासनों पर हमने अपने स्थान ग्रहण किए।

हर आकृति एक-दूसरे को देखती हुई, एक-दूसरे को पढ़ती हुई चुप थी। मैंने धृतराष्ट्र की ओर देखा। उनकी आँखों का अँधेरा आँसुओं में घुलने लगा था। अचानक उनके मुँह से निकला—“कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि जहाँ ये लोग हाथ डालते हैं, वहीं असफलता हाथ लगती है!”

“तब तो बुद्धिमानी इसीमें है कि कहीं हाथ डाला ही न जाए।” मैंने कहा।

अब धृतराष्ट्र पर जैसे घड़ों पानी पड़ गया। हर बार मेरी आहट पहचानने वाली उनकी क्षमता इस बार कैसे धोखा खा गई। लगता है, उनका मन इस दुर्घटना और उसके परिणाम में बेतरह उलझा रहा था। इसीलिए वे हमारी उपस्थिति का अनुमान न लगा सके। उन्होंने जैसे मुझे सुना ही नहीं और एकदम बात बदलते हुए कहा, “अब उन लोगों का क्या हाल है? महामात्य, जरा देखिए तो।”

विदुर महाराज उठे और अंतःपुर के अंतरंग कक्ष में चले गए। थोड़ी देर बाद वे वैद्यराज, दुर्योधन तथा उसके अन्य कई भाइयों के साथ लौटे।

“नाड़ी की गति से तो यही पता चलता है कि महाराज शकुनि के मन पर गहरा आघात लगा है।” वैद्यराज बोले, “वे पूर्णतः संज्ञाशून्य भी नहीं हैं और न उनपर सर्पविष का ही प्रभाव है। यदि विष का प्रभाव होता तो शरीर नीला

पड़ गया होता। लगता है, सर्पदंश से अधिक सर्प की फुफकार लगी है। वे स्वयं धीरे-धीरे ठीक हो जाएँगे।”

“क्या आपकी ओषधि त्वरित प्रभाव नहीं करेगी?” महाराज ने पूछा।

“यदि विष का प्रभाव होता तो ओषधि तुरंत लाभ करती। विष का प्रभाव विष से दूर होता है।” वैद्यराज बोले,

“पर उन्हें फुफकार लगी है। इसमें ओषधि से अधिक मंत्र प्रभाव करेगा।”

“ऐसा कोई मांत्रिक है?” इस बार गांधारी ने पूछा।

“इस विद्या में सिद्ध तो आपका एक अश्वपाल ही है।” वैद्यराज ने बताया।

“पर अब वह है नहीं।” महामात्य ने सूचना दी।

“क्या वह दिवंगत हो गया?” महाराज ने पूछा।

“जी नहीं। वह कुमार नकुल द्वारा नियुक्त अश्वपाल था। उनके चले जाने के बाद वह राजकीय सेवा से हटा दिया गया।” महामात्य ने बताया और महाराज ने माथा ठोंका। पितामह ने भी दुर्योधन की ओर देखा। दुर्योधन की दृष्टि नीची हो गई।

“राजकीय सेवा से हटा दिए जाने से क्या होता है! उसका पता-ठिकाना तो कहीं-न-कहीं राजकीय अभिलेख में अंकित तो होगा।” मैंने कहा, “और यदि वह अभिलेख इस समय न मिले तो नकुल से कहिए कि वह उनका पता लगाकर बुला लाएगा; पर पांडव दिखाई नहीं पड़ रहे हैं। आखिर वे हैं कहाँ?”

“उन्हें सूचना नहीं है।” महामात्य बोले और उन्होंने एक जानकारी और दी—“एक बात और है, महाराज! अंतःपुर में पांडव बिना अनुमति के प्रवेश नहीं करते।”

“आखिर क्यों?” मैंने पूछा।

“यह तो युवराज ही जानें।” विदुरजी ने फिर दुर्योधन की ओर संकेत किया—“यहाँ की सारी व्यवस्था अब इन्हींके अधीन है।”

इतना सुनना था कि महाराज की अंधी आँखों से अपने ही बेटे पर चिनगारियाँ छूटने लगीं। उन्होंने बड़े आक्रोश के स्वर में कहा, “पांडवों को तुरंत बुलाया जाए।”

चर दौड़ पड़े।

महाराज ने गहरी चिंता व्यक्त की—“निष्कासित कर्मचारी तो स्वयं चोट खाया सर्प होता है। उससे कभी अनुकूल सेवा की अपेक्षा नहीं की जा सकती।”

“पर हम लोग निष्कासित कर्मचारी को नहीं, एक मांत्रिक को बुला रहे हैं।” मैंने कहा और स्वयं पूर्व की बात दुहराई—“मांत्रिक न शत्रु देखता है, न मित्र। वह केवल सर्पविष देखता है—और उसका उपचार करना उसका धर्म है। यदि वह इस धर्म से च्युत होगा तो उसकी मंत्र-शक्ति जाती रहेगी।”

मेरे कथन से महाराज को बड़ा ढाढ़स मिला। दुर्योधन की दृष्टि अब मेरे प्रति कृतज्ञता से भरने लगी थी। पर पितामह न जाने किस मुद्रा में थे। वे बोले, “चलो, कहीं-न-कहीं धर्म सुरक्षित तो है। राजभवन में न रहकर इन मांत्रिक के घरों में ही सही।”

उनके इस कथन की आवश्यकता तो थी, पर पितामह जैसे व्यक्ति से यह अपेक्षा नहीं थी। इसीसे इस कथन की गहरी प्रतिक्रिया हुई। कई लोग तो तिलमिलाकर रह गए।

मुझे कर्ण दिखाई नहीं दिया। मैं समझ तो गया था कि कर्ण इस संदर्भ से नाराज ही होगा। मैंने जानबूझकर चिकोटी काटी—“कर्ण भी तो किसी विपत्ति में नहीं फँसे?”

“नहीं तो!” दुर्योधन चौंका। उसने सोचा कि कन्हैया कह रहा है, कहीं कोई बात हो तो नहीं गई; पर कुछ बोला



नहीं।

मैंने दोबारा जोर दिया—“किंतु कर्ण कहीं दिखाई नहीं दे रहे हैं!”

इस बार भी दुर्योधन मौन ही रहा और किसीने भी मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया।

थोड़ी देर बाद पांडव सदल-बल आ गए। साथ में कुंती बुआ तथा द्रौपदी भी थीं। अभिवादन की औपचारिकता के बाद कुंती बुआ गांधारी की बगल में बैठीं। आश्चर्य था कि इस बार दुर्योधन ने बड़े आदर के साथ पांडवों के बैठने की जगह बनाई।

अभी लोग ठीक से अपने स्थान पर बैठ भी नहीं पाए थे कि महाराज की व्यग्रता बोल पड़ी—“क्यों नकुल, तुम्हारा कोई अश्वपाल था, जो सर्पों का मंत्र जानता था?”

नकुल ने कुछ कहने के पूर्व मेरी ओर देखा। मैंने बताने का संकेत किया।

वह बोला, “हाँ, था तो, पर अब वह राजकीय चाकरी में नहीं है।”

“यह मैं जानता हूँ।” महाराज बोले।

“राजकीय चाकरी में भले ही न हो, पर हस्तिनापुर में तो होगा ही।” मैंने कहा। नकुल की मुद्रा से लगा कि वह मेरे व्यवहार पर चकित है।

वह सकपकाया-सा देखता रहा। अब मैं अपने स्थान से उठा और उसका हाथ पकड़कर अंतःपुर के बाहर ले जाते हुए बोला, “तुम मुझे पता बताओ। मैं अभी, कहीं-न-कहीं से उसे खोज निकलवाता हूँ।”

इसी बहाने हम दोनों अंतःपुर से बाहर हुए। मैंने एकांत में नकुल को समझाया—“अब राजनीति यही कहती है कि हम उस अश्वपाल को सिखा-पढ़ाकर ले आएँ कि वह पिछला रहस्य बिल्कुल न खोले और शकुनि का मांत्रिक उपचार करे।”

“यदि वह मरता है तो मरने दीजिए।” नकुल ने कहा, “शत्रु को मरने देने से बढ़कर कौन सी राजनीति होती है!”

“मरता तो मैं मरने ही देता। वैद्यराज का कथन है कि उसपर विष का प्रभाव नहीं है, फुफकार का प्रभाव है—और वह धीरे-धीरे ठीक हो जाएगा। जब रोगी को ठीक होना ही है, तब हम अपनी ओर से क्यों न उसपर उपकार जताएँ?”

अब वह मुसकराया। बोला, “आपको समझ पाना बड़ा कठिन है, द्वारकाधीश!”



## सात

परिस्थितियाँ कुछ बदली थीं। इस बदलाव का प्रभाव लोगों के मनों पर भी पड़ा था। पांडवों और कौरवों में निकटता बढ़ी थी। कुछ खुलकर बातें भी होती थीं। पर मुझे अब भी अधिकांश कौरव उस हरी-भरी धरती की तरह समझते थे, जो अपने भीतर ज्वालामुखी छिपाए रहती है। इसलिए वे आते थे। मेरे व्यक्तित्व की हरियाली का आनंद भी लेते थे; पर शंकित भी रहते थे। यद्यपि दूरी कम जरूर हुई थी, पर थी। इसको मैं ही नहीं, और लोग भी अनुभव करते थे।

एक दिन मैंने विदुर महाराज से कहा, “आप यदि अनुमति दें तो कुछ दिन तक प्रासाद में भी रह लूँ। उन लोगों का उलाहना भी समाप्त हो जाए और इस काल की संक्रमणता को थोड़ा सक्रिय सहयोग दूँ।”

“मेरे आतिथ्य से इतने ऊब क्यों गए हैं, तात? क्या मेरी सेवा में कोई कमी है?” महात्मा विदुर बोले।

मैं उनसे ज्ञान और वय सभी में छोटा था। फिर भी वे मुझे सदा आदरसूचक शब्द से ही संबोधित करते थे। कभी-कभी तो मुझे बड़ा अटपटा लगता था।

इस समय तो मुझे बहुत ही अटपटा लगा। मैंने मुसकराते हुए उनके आतिथ्य की प्रशंसा की और उनका अनुग्रह स्वीकार किया।

“यह सही है कि इस संक्रमण काल को आपकी सक्रियता की और अधिक आवश्यकता है; पर मैं आपकी सेवा से स्वयं को वंचित करना नहीं चाहूँगा।”

मैं समझ गया कि आग पर राख पड़ गई है, पर भीतर-ही-भीतर वह सुलग रही है। मैंने विदुरजी की बात मान ली। भोजन, पानी एवं रात विदुरजी के यहाँ बिताना और रहना अधिकतर प्रासाद में। अब मेरे सामने संप्रति दो कार्य थे—एक, चंद्रसेन द्वारा आयोजित प्रजा के अभिनंदन समारोह को सफल बनाना और दूसरा, निजबल के अक्षवाट में जाना। दोनों कार्यक्रम दुःशासन और शकुनि के अस्वस्थ होने से टलते जा रहे थे। फिर मुझपर द्वारका लौटने का भी दबाव था।

अब मेरे यहाँ मिलनेवालों की संख्या पहले से बढ़ गई थी। अब पांडव और कौरव दोनों आते थे। पहले वे कम ही आते थे और बहुधा दोनों अलग-अलग आते थे। अब वे साथ-साथ भी आने लगे; पर इनमें कभी-कभी विचित्र स्थिति हो जाती थी।

एक संध्या दुर्योधन के साथ कर्ण भी आया। कर्ण की मुद्रा से लगा, वह भी अब मुझे ठीक समझता है। मैं उसका बड़ा सम्मान करता था। एक तो वह मुझसे वय में बड़ा था, दूसरे मैं उसकी वास्तविकता से भी कुछ परिचित था।

मैंने उससे कहा, “मैंने कई अवसरों पर सोचा कि आपसे भेंट होगी, पर आप दिखाई नहीं पड़े।”  
“मैं भगवान् थोड़े ही हूँ कि भक्त के सोचते ही उपस्थित हो जाऊँ।” उसके आवाज के टेढ़ेपन ने फिर स्वयं को दुहराया—“न मैं भगवान् हूँ और न आप मेरे भक्त।”

मैंने उसके कथन को मुसकराते हुए बड़ी सहजता से पी लिया और वैसी ही सहजता से बोला भी—“शकुनि मामा की रुग्णता के साथ मैं बहुत देर तक वहीं था। सोचा, आप भी दिखाई पड़ेंगे; पर आपके दर्शन नहीं हुए।”  
“सही अर्थों में तो मामा ने अपनी करनी का फल भोगा। शकुनि मामा का और मेरा मार्ग अलग-अलग है।” वह

एकदम उबला—“वह तिकड़म में विश्वास करते हैं और मैं असि की धार में।”

सबकुछ जानते हुए भी मैंने कहा, “मैं आपको समझ नहीं पाया।”

अब दुर्योधन को लगा कि कर्ण का उबाल और कहीं न खुल जाए। वह बीच में ही बोल पड़ा—“बात यह है कि इन्होंने मामा को खांडव वन जाने से बार-बार रोका था; पर वे वहाँ चले गए और यह घटना भी हो गई। इसीसे कर्ण उनसे नाराज है।”

“ये आखिर मामा को क्यों रोकना चाहते थे?” मैंने फिर खोलने की चेष्टा की।

दुर्योधन ने फिर ढाकने की कोशिश की—“क्योंकि खांडव वन दुर्गम है और अनेक प्रकार के जीव-जंतुओं से भरा है। फिर यमुना के उस पार काफी दूरी तक है। केवल आनंद लेने और वायु-सेवन के लिए वहाँ जाना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं था।”

मैं कृत्रिम हँसी हँसा।

“मामा इतने मूर्ख (मामा की आयु लगभग हमीं लोगों की थी या कुछ ही अधिक हो। इसीसे उनके लिए यदा-कदा ‘मूर्ख’ शब्द का प्रयोग भी चलता था।) तो नहीं हैं कि वायु-सेवन के लिए वहाँ जाएँ। हो सकता है, ऐसे कार्य से गए हों, जिसे हम न जानते हों।”

“हो सकता है।” दुर्योधन का इतना कहना था कि कर्ण अभिवादन आदि की औपचारिकता निबाहे उठकर चला गया। हम लोग देखते रह गए। अद्भुत था कर्ण। हिमालय-सा दृढ़, गंगा-सा पवित्र और सूर्य-सा संकल्पबद्ध।

कर्ण के जाने के बाद अकेला पाकर दुर्योधन ने कुछ संकोच के साथ अपनी बात छेड़ी—“मैं बहुत आश्वस्त हूँ।”

“किस बात के लिए?”

“जब से आपने मुझे युवराज पद पर बने रहने के लिए शुभाशंसा की है।”

“मेरी शुभाशंसा से क्या होगा? प्रभु की शुभाशंसा चाहिए।” मैंने उसे थोड़ा टटोलने की कोशिश की—“पर बार-बार आकर यही प्रश्न खड़ा हो जाता है कि युधिष्ठिर का क्या होगा!”

वह गंभीर हो गया। फिर धीरे से बोला, “इसे तो आपको सोचना है।”

“यह सोचनेवाला मैं कौन होता हूँ! मैं न आपके परिवार का हूँ, न आपके घर का, न घाट का।” इतना कहकर मैं जोर से हँसते हुए बोला, “इसे भी आप लोगों को ही सोचना चाहिए।”

वह चुप रह गया। शायद उसे लगा कि मैं युधिष्ठिर की ओर ढुलक रहा हूँ।

वह धीरे से बोला, “मुझे तो आपकी वचनबद्धता देखनी है।” इतना कहने के बाद वह उठा और अभिवादन कर चला गया।

थोड़ी देर बाद मैं मिलनेवालों से मुक्त हुआ। सूर्य अस्ताचल की ओर ढुलक चुका था। स्नान आदि करके संध्या-पूजन के बाद मैंने वंशी उठाई और उद्धव को लेकर उद्यान की ओर चला। फिर पुष्करिणी के किनारे बैठकर मैं सात सुरों के संसार में चला गया।

संध्या धुँधलका ओढ़ चुकी थी। पश्चिम के आकाश की अरुणिमा लगभग पुत चुकी थी। दिवस की यह मुद्रा मेरे लिए मनभावन थी।

मैं पुष्करिणी के जल में पैर हिलाता, वंशी बजाता रहा कि भीम चंद्रसेन के साथ आता दिखाई दिया। उसने दूर से ही व्यंग्य किया—“यह प्रकृति, यह पुष्करिणी, पास में झुरमुट और फिर वंशी; आज क्या होने वाला है?”

“होगा क्या! मेरे पास तो बलंधरा भी नहीं है।” मैंने कहा। उद्धव तो बड़ा तेज खिलखिलाया; पर भीम झेंप गया।

फिर वह कुछ बोल नहीं सका।

मैंने चंद्रसेन से कहा, “कहो महापौर! अब कितने दिनों तक हमें हस्तिनापुर में रोके रहोगे?”

“क्या बताऊँ! मामा और दुःशासन की रुग्णता ने सारा काम खराब कर दिया।”

“क्या प्रजा अब अभिनंदन करना नहीं चाहती?”

“वह तो चाहती है।” चंद्रसेन बोला, “प्रतिदिन मेरे यहाँ लोग आते रहते हैं और अभिनंदन समारोह की तिथि घोषित करने के लिए दबाव डालते हैं।”

“तब घोषित कर दो।”

“कैसे घोषित करूँ? एक दिन पितामह से मिला था। इस विषय में बातें कीं तो उन्होंने कहा कि तुम रहने दो। सारा कार्यक्रम राजभवन की ओर से होगा। उसीमें संपूर्ण प्रजा आमंत्रित की जाएगी।”

“ऐसा कहा पितामह ने!” मुझे आश्चर्य था। ‘आखिर उनकी मंशा क्या है?’ मैं सोचने लगा।

तभी चंद्रसेन बोला, “उनका कहना था कि जिस दिन युधिष्ठिर को युवराज पद सौंपा जाएगा, उसी दिन प्रजा उनका अभिनंदन कर लेगी।”

“तुमने पूछा नहीं कि इसके लिए कोई तिथि तो निश्चित करनी पड़ेगी?”

“हाँ, पूछा था।” चंद्रसेन ने बताया—“उनका कहना था कि आचार्य धौम्य और महाराज से पूछकर किसी निश्चित तिथि की घोषणा की जाएगी।”

हम लोग बातें करते-करते अब उद्यान से निकलने के मार्ग में आ गए थे। मन निरंतर एक ही प्रश्न से उलझ रहा था कि क्या धर्मराज इतनी सरलता से युवराज बन जाएँगे। फिर दुर्योधन का क्या होगा? उसकी आत्महत्या की धमकी का क्या होगा? और उसके साथी तथा भाई क्या करेंगे?

इन्हीं प्रश्नों में उलझा हुआ मैं भीम से बोला, “तुम्हारी इधर विकर्ण से भेंट हुई थी?”

“वह मुझसे नहीं मिला।” भीम ने छूटते ही कहा, “उसकी अर्जुन से आत्मीयता है। वह उसीके पास आता है और पता नहीं क्या, कान में मुँह डालकर घंटों बातें करता है। एक दिन मैंने उसे टोका भी। तब हँसते हुए मेरे पास आया। मेरे पेट पर हाथ फेरते हुए बोला, ‘तेरा यह पेट कठोर-से-कठोर भोजन पचा सकता है, पर मामूली-से-मामूली बात पचाने की भी इसमें ताकत नहीं है।’ ”

भीम ने ऐसे ढंग से कहा कि हम सबको हँसी आ गई।

फिर उसीने बताया—“महाराज ने एक दिन बड़े भैया को बुलाया था। वे महाराज से मिले थे। मिलकर बहुत प्रसन्न थे। पर उन्होंने यह नहीं बताया कि महाराज और उनके बीच क्या बातें हुई।”

“क्या वे अकेले गए थे?” मैंने पूछा।

“हाँ, महाराज ने उन्हें अकेले ही बुलाया था।” भीम बोला।

मेरा माथा ठनका। अवश्य कोई गंभीर बात हो गई। मैंने फिर भीम से पूछा, “आपने भैया से यह जानने की चेष्टा नहीं की कि वहाँ महाराज अकेले थे या उनके साथ और कोई था?”

“हाँ, यह अर्जुन ने पूछा था।” भीम बोला, “तब उन्होंने बताया कि वहाँ महाराज के अतिरिक्त मामा भी था।”

“तब तो लाख के घर के साथ वैश्वानर भी था। लगता है कि आग लगने वाली है, फिर लाक्षागृह जलेगा।” मैंने कहा और भीम को सावधान किया—“देखो, भैया को अकेला कहीं मत जाने दिया करो। वे इतने सहज और सरल हैं कि उनकी यह सहजता किसी-न-किसी दिन तुम सबको फिर विपत्ति में डाल देगी।”

युधिष्ठिर के संबंध में सबसे बड़ा संकट यह था कि वे द्वापर के नहीं, सतयुग के व्यक्ति थे। द्वापर की छलता

और प्रपंचता उन्हें छू तक नहीं गई थी। आज हस्तिनापुर को वाणी की जिस कुटिलता और मन की सजगता की आवश्यकता थी, वह उनमें बिल्कुल नहीं थी। वे जैसे थे वैसा ही दूसरों को भी समझते थे और उनके प्रभाव में जल्दी आ जाते थे—और कहीं उन्होंने कोई वचन दे दिया तो उसपर दृढ़ हो जाते थे। उसे वे धर्म से ऐसा जोड़ते थे कि वही उनके भाइयों, मित्रों और स्वयं उनके लिए संकट हो जाता था।

मैंने पूछा, “कुछ तो उन्होंने बताया होगा कि महाराज ने क्यों बुलाया था?”

“बस महाराज और मामा की प्रशंसा करते रहे। कहते रहे कि लोग उनके बारे में तरह-तरह की बातें उड़ाते हैं, शंकाएँ उत्पन्न करते हैं; पर मैंने उन जैसा सज्जन व्यक्ति नहीं देखा।”

मन ने कहा कि जरूर दाल में कुछ काला है। मैंने कुछ नहीं कहा।

भीम ही बोलता रहा—“भैया बता रहे थे कि वे तो मुझे अपनी गद्दी दे देना चाहते हैं। उनके कथनानुसार, महाराज उनसे यह कहते हुए भर आए थे कि ‘पांडु की गद्दी के तुम्हीं तो उत्तराधिकारी हो। अब तुम्हीं गद्दी पर आओ। मैं विकलांग कब तक गद्दी सँभालता रहूँगा! तुम राजसिंहासन पर बैठो। दुर्योधन युवराज है ही। तुम लोग अपना-अपना काम देखो। अब मेरा भरोसा छोड़ो। मैं भी किसी अरण्य में अपना आश्रम बनाकर जीवन सार्थक करूँ।’”

“तो क्या अब धृतराष्ट्र जंगल में तपस्या करने वाले हैं?” मैंने पूछा।

भीम बोला, “भैया तो ऐसा ही कह रहे थे; पर वे अभी जाएँगे नहीं। उन्हें भैया और मामा ने रोका है। मामा का कहना है कि अभी इन लोगों को आपके निर्देश की आवश्यकता पड़ेगी। आपकी छाया से वंचित रहकर क्या युधिष्ठिर एक दिन भी रह सकेंगे?”

“तब तुम्हारे भैया ने क्या कहा?”

“क्या कहा, यह तो वे ही बता सकते हैं।” भीम बोला, “पर क्या कहा होगा, इसे तो आप भी जानते हैं और मैं भी। मेरे विचार से तो यही कहा होगा कि बिना आपके निर्देश के मैं पग भर भी न चल पाऊँगा।”

‘बस हो गया सब चौपट।’ मेरे मन ने कहा। क्योंकि धृतराष्ट्र के अनुसार शासन करने का तात्पर्य था, शकुनि की इच्छा के अनुसार शासन करना। धृतराष्ट्र की आज्ञा का पालन शकुनि की आज्ञा का पालन था। मुझे लगा कि शकुनि चौपड़ का पुराना खिलाड़ी है। इस बार भी उसने अपने मन का ही पासा फेंका।

पर मैं कुछ बोला नहीं; क्योंकि चंद्रसेन भीम के साथ था। मैंने बस इतना ही कहा, “युधिष्ठिर ने वही कहा, जो उन्हें कहना चाहिए था। बड़ों की उपेक्षा करके हस्तिनापुर की सत्ता नहीं चलाई जा सकती।”

“जब आप ठीक कहते हैं, तब तो यह ठीक ही हुआ।” भीम बोला।

“ठीक और अठीक का निर्णय करनेवाले हम कौन हैं! इसका निर्णय तो भविष्य करेगा।” इतना कहकर मैंने वंशी में फूँक मारी।

मेरा वंशी की ओर आकृष्ट होने का तात्पर्य था कि अब आप लोग चलिए। इस बात को भीम से अधिक चंद्रसेन ने भाँपा। उसने भीम का हाथ दबाया और चलने का संकेत किया।

“अच्छा तो अब मैं चलता हूँ। अब आप वंशी के साथ अकेले रहिए।”

“मैं वंशी के साथ अकेला ही रहना चाहता हूँ; जैसे हर प्रेमी अपनी प्रेमिका के साथ रहने की आकांक्षा करता है।” मैं कुछ जोर से हँसा। उन दोनों को मेरी हँसी कुछ विचित्र-सी दिखाई दी। वे मेरा मुँह देखते रह गए।

भीम बोला, “अब तो अँधेरा घना हो रहा है। थोड़ी देर में आपको देखने में भी कष्ट होगा।”

“मुझे कुछ कष्ट नहीं होगा। इसलिए नहीं कि मेरे पास उलूक दृष्टि है।” एक बार मैं फिर हँसा—“जब धृतराष्ट्र

दिन में भी अँधेरा देखते हैं तब मैं रात को भी अँधेरा नहीं देख सकता! अरे, अंधकार ही तो मेरा जन्मजात साथी है। हर अँधेरा मेरा अपना है और मैं उसीमें किरण खोजता रहा हूँ।”

वे मुझे समझने की कोशिश करते रहे। मैं कहता गया—“जब तुम्हारे भैया राजा हो रहे हैं, तब भी मैं चैन की वंशी न बजाऊँगा तो कब बजाऊँगा!”

“तो अब मैं भी राजभवन से तिथि के बारे में घोषणा की प्रतीक्षा करूँ?” चंद्रसेन ने पूछा।

“अवश्य।” मैंने कहा, “प्रजा से कहिए कि वह युधिष्ठिर के राज्यारोहण की प्रतीक्षा करे।”

□

मैं सुरों में ऐसा खोया कि मुझे समय का ज्ञान ही नहीं रहा। यदि उद्यान के कर्मचारी ने मुझे टोका न होता तो शायद मुझे यह भान न होता कि रात दो घड़ी जा चुकी है। मैं सीधे अतिथिगृह में आया। किसीसे कुछ कहा-सुना नहीं। छंदक से मिलकर रथ पर चढ़ा और महात्मा विदुर के घर आया।

विदुरजी प्रतीक्षा में थे ही। मुझे देखते ही वे बोल पड़े—“आज बड़ी देर कर दी?”

“आज मैं चैन की वंशी बजा रहा था।” मैंने हँसते हुए कहा।

“क्यों? कोई मनचाही वस्तु मिली है क्या?” विदुरजी बोले और वे भी मुसकराए।

“मनचाही तो है ही। जिसके युवराज पद के लिए चिंतित थे, वह राजगद्दी पा रहा है। इससे बड़ी तथा मनचाही बात और क्या हो सकती है!”

विदुरजी गंभीर हो गए।

“क्या आपको नहीं मालूम?” मैंने पूछा।

“मालूम तो है। यह सूचना मेरे द्वारा ही पितामह के पास भेजी गई है।” विदुरजी ने बताया—“मुझे महाराज ने बुलाया था। उन्होंने कहा कि अब मैं चाहता हूँ कि पांडु का राज्य उनके पुत्रों को सौंप दूँ और सारे प्रपंच से मुक्त हो जाऊँ।”

“तब आपने क्या कहा?”

“मैं क्या कहता, सिवा इसके कि ‘इससे उत्तम और क्या होगा? पर क्या आप सारे प्रपंच से मुक्त हो पाएँगे?’

“तब शकुनि बोला, ‘यही तो मैं सोचता हूँ। अरे जीजाजी, अभी तो युधिष्ठिर ही आपको नहीं छोड़ पाएगा। वह इतना कृतघ्न नहीं है।’”

“इसमें कृतघ्नता की क्या बात है?”

“यही तो मैं समझ नहीं पाया।” विदुरजी बोले, “मुझे तो इस निश्चय के पीछे कोई षड्यंत्र ही मालूम होता है। पर मैंने महाराज से कोई जिज्ञासा नहीं की; क्योंकि शकुनि के अतिरिक्त उस समय महाराज के निकट कोई और नहीं था।”

“इसीलिए तो हम लोगों को अब चैन की वंशी बजानी चाहिए।” मैंने कहा।

“तुम तो बिल्कुल पितामह की तरह बोल रहे हो, कन्हैया।” विदुरजी ने बताया कि पितामह भी चैन की वंशी बजा रहे हैं।

अब मैं विदुरजी को सुनने लगा था। उन्होंने बताया—“जब मैंने महाराज की सूचना पितामह को दी, तब वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा, ‘यह सद्बुद्धि धृतराष्ट्र की अपनी तो हो नहीं सकती। अवश्य ही किसी और ने उन्हें सुझाया होगा।’ उनका लक्ष्य मेरी ओर ही था। उन्होंने मुसकराते हुए मुझे देखा भी। पर मैंने उन्हें स्पष्ट बता दिया कि इसमें मेरी कोई भूमिका नहीं है।

“‘तब कन्हैया की होगी।’ पितामह ने कहा।

“ ‘जहाँ तक मैं जानता हूँ, इधर कन्हैया से उनका मिलना ही नहीं हुआ है।’ मैंने पितामह से कहा।

“ ‘तब?’ पितामह ने प्रश्नवाचक मुद्रा से मुझे देखा।

“ ‘जहाँ तक मेरी जानकारी है।’ मैंने कहा, ‘इस निश्चय के पीछे शकुनि का हाथ है।’

“ ‘लगता है, खांडव वनवाली घटना का प्रभाव है।’ पितामह बोले, ‘देखा, कभी-कभी छोटी मुद्रा भी काम आ जाती है।’ इसके बाद उनकी आकृति से ऐसा लगा जैसे वे बहुत बड़े झंझट से मुक्त हो गए।”

“इसका मतलब है कि अब पितामह भी मेरी तरह चैन की वंशी बजा रहे हैं।”

“ऐसा हो जाए तो सभी प्रसन्न होंगे।” विदुरजी बोले, “पर पितामह की अधिक प्रसन्नता इस बात में है कि मुझे आगे आना नहीं पड़ा और काम हो गया। वस्तुतः वे तटस्थभाव से जीना चाहते हैं।”

“यदि ऐसा है, तो उन्हें संन्यास ले लेना चाहिए।” मैंने कहा।

“वे यह भी नहीं कर सकते।” विदुरजी बोले।

“अभी आपने यह कहा है कि यदि ऐसा हो जाए तो सभी प्रसन्न होंगे। तो क्या आपको लगता है कि ऐसा नहीं भी हो सकता?”

“यह मैं कैसे कह सकता हूँ!” विदुरजी बोले, “इसका निर्णय तो भविष्य करेगा।”

मुझे लगा कि भीम को दिया मेरा उत्तर स्वयं मेरे पास लौट आया।

जितनी सूचना मुझे मिली थी, उसके आधार पर मैंने निष्कर्ष निकाल लिया था कि युधिष्ठिर को बड़े कुठाव में फँसा दिया गया है। यदि उन्होंने वचन दे दिया है कि महाराज के कथन के अनुसार शासन करूँगा, तो वास्तविक शासक शकुनि ही होगा। क्योंकि धर्मराज अपने वचन से हटेंगे नहीं। वे हर बात धृतराष्ट्र की मानेंगे और वह बात वास्तव में शकुनि की ही होगी। ऐसे में उनके भाइयों का क्या होगा? वे वृद्ध सिंह की तरह केवल गुराँते रह जाएँगे।

मैं रात में बहुत देर तक यही सोचता रहा कि युवराज पद पर दुर्योधन रहेगा ही। सत्ता शकुनि के संकेत पर नाचेगी। तब इस स्थिति में पांडवों का क्या होगा? फिर मुझे व्यास की भविष्यवाणी याद आई। मैं घबरा गया।

ऐसी स्थिति में मैं बहुधा स्वयं से ही बातें करने लगता हूँ। इस समय भी मेरे मन ने ही मुझे समझाया—‘तुम व्यर्थ की क्यों चिंता करते हो? अब तक पांडवों के जीवन में जो कुछ हुआ है, क्या उसके कर्ता तुम रहे हो? तुम्हारे पग तो तब चले हैं जब तुम्हें मार्ग दिखाई दिया है। अभी भी प्रतीक्षा करो। नियति कोई-न-कोई रास्ता निकालेगी—और तब आगे बढ़ना।’

फिर मैं सो गया।

मुझे आश्चर्य था कि इतना सब होने के बाद भी धर्मराज मेरे यहाँ नहीं पधारे। यह एक अनहोनी बात थी। अर्जुन के भी दर्शन नहीं हुए। किसी-न-किसीको तो आना चाहिए। मैं यही सोचता और प्रतीक्षा करता रह गया। सूर्योदय के बाद की दो घड़ी और बीत गई, तब मैं महात्मा विदुर के आवास से बाहर निकला।

पहले मेरी इच्छा हुई कि मैं अतिथिगृह में चलूँ। देखूँ, वहाँ कोई प्रतीक्षा तो नहीं कर रहा है; पर मन बदला। सीधे पांडव निवास की ओर मैंने अपना रथ मुड़वाया।

ज्यों ही पांडव आवास के बाहर उतरा त्यों ही सबकी शंकित दृष्टि मुझसे चिपक गई। किसीने मुझे रोका नहीं, वरन् द्वारपालों ने झुककर अभिवादन भी किया। मैंने अपने सारथि दारुक को रथ को छाया में खड़ा करने का आदेश दिया। वह दूर वट वृक्ष के नीचे चला। मैंने देखा कि उस वट वृक्ष के नीचे बैठे कुछ लोग मुझे बड़े गौर से देख रहे हैं। मैंने समझ लिया कि पांडव आवास चारों ओर से गुप्तचरों से घिरा है। कोई गंभीर बात अवश्य है।

मैं सीधे सामान्य कक्ष में गया। वहीं सबसे भेंट हो गई। केवल भीम नहीं था। मेरे पहुँचते ही छोटे-बड़े सभी खड़े

हो गए। कुंती बुआ, द्रौपदी, अर्जुन—सभी चिंतित दिखे। युधिष्ठिर भी बहुत सामान्य नहीं लगे। सहदेव अँगुलियों पर कुछ गणना कर रहा था। उसी में नकुल भी कुछ व्यस्त दिखा। स्पष्ट लगा कि मेरे आने के पहले किसी गंभीर संदर्भ में बातें हो रही थीं।

“बधाई हो, बधाई हो!” मैंने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा, “बुआजी, अब तो मुँह मीठा कराइए। अब आप राजमाता बनने जा रही हैं। आपके पुत्र का राज्याभिषेक होने वाला है।”

“राज्याभिषेक की बात तो उस समय भी उठी थी, जब हम वारणावत गए थे और लाख का राजमहल हमें मिला था।” कुंती बुआ ने कहा।

“यही तो कहता हूँ कि समय-समय की बात है।” मैंने कहा, “उस समय हस्तिनापुर छोड़ने के बाद हमें जलता राजमहल मिला और आज हस्तिनापुर में ही राजभवन की शीतलता हमें मिलेगी।”

युधिष्ठिर को लगा कि मैं व्यंग्य किए जा रहा हूँ। उन्होंने बड़े संकोच के साथ पूछा, “यह आपको कैसे पता चला?”

“आप नहीं बताइएगा तो क्या आप समझते हैं कि मुझे पता नहीं लगेगा!” मैंने कहा, “अरे भाई, राजमहल के निर्णय को राजभवन की दीवारें तो जानती ही हैं। फिर हवा का हर झोंका मुझसे कुछ-न-कुछ कहता रहता है। मैं सर्वव्यापी तो नहीं हूँ, पर जो सर्वव्यापी है, उसकी मुझपर कृपा है।”

युधिष्ठिर एकदम चुप हो गए। अब द्रौपदी बोली, “आप स्वयं को सर्वव्यापी न समझते हों, पर मैं तो आपको सर्वव्यापी समझती हूँ। मैं अभी आपको हृदय से याद कर रही थी और आप उपस्थित हो गए।”

“तुम जब भी हृदय से याद करोगी तो मैं उपस्थित हो जाऊँगा।” मैंने हमेशा से कही हुई बात फिर दुहराई—“यह केवल तुम्हारे ही लिए नहीं है, औरों के लिए भी यही बात है। वे जब हृदय से याद करते हैं, मुझे उपस्थित होना पड़ता है।”

“यदि आप न उपस्थित हों तो?” द्रौपदी ने मुसकराते हुए पूछा।

“तो समझना, कहीं मेरे प्रति तुम्हारे विश्वास में कमी है, या मुझे याद करने में तुम्हारे हृदय ने अभी पूरा जोर नहीं लगाया है।” मेरे साथ ही द्रौपदी भी हँस पड़ी और कुंती भी; पर अन्य लोग अभी गंभीर ही थे।

इधर-उधर से मेरी दृष्टि युधिष्ठिर पर आकर ठहर जाती थी। वे कुछ असामान्य-से लग रहे थे। वे कभी पैर के नाखून से धरती कुरेदते हुए और कभी दाँतों से ओठ दबाते हुए दृष्टि नीची किए बैठे रहे। उनके संकोच ने जबान पकड़ ली थी; पर उनका अपराधबोध कुछ कहने के लिए व्यग्र था। अंत में इस व्यग्रता की ही विजय हुई। वे हाथ मलते हुए बोले, “मुझसे कुछ भूल हो गई है। इस विषय में मुझे आपसे भी राय लेनी चाहिए थी; पर क्या करूँ, मुझे अवसर ही नहीं मिला।”

“सलाह लेनी तो दूर, आपने जो किया, उसकी इन्हें सूचना तक नहीं दी।” इसपर अर्जुन बोला।

“मैं वचनबद्ध था।” धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा, “सारी बातों के बाद मामाजी शकुनि ने मुझसे कहा था—‘देखिए, आप किसीसे कुछ मत कहिएगा—और द्वारकाधीश से तो बिल्कुल भी नहीं। हम लोग उन्हें अचानक समाचार देकर चकित कर देना चाहते हैं।’”

“चकित तो मैं अब भी हूँ।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “सिंहासन का एक भाग भी देने की जिसकी इच्छा नहीं थी, वह आपको पूरा सिंहासन दे रहा है—वह भी बिना माँगे, स्वेच्छा से, सहर्ष।”

“पर उस सिंहासन से क्या लाभ, जिसकी स्वतंत्रता किसी और की मुट्ठी में हो?” द्रौपदी बोली, “क्या राजभवन का बंदी सिंह होने से जंगल का स्वच्छंद मृग होना कहीं अच्छा नहीं?”



मैं कुछ कहूँ, इसके पहले मैंने देखा कि भीम आ गया। अब उसने बोलना शुरू किया—“अच्छा किया, द्वारकाधीश, कि आप हम सबके बीच पधारे। अब एक बात तो स्पष्ट हो ही जाएगी।”

“क्या?” मैंने पूछा।

और वह विस्तार से बताने लगा—“वह बातचीत भैया, महाराज और मामा के बीच हुई थी। उसके निर्णय से बँधने के लिए हम लोग किस सीमा तक बाध्य हैं?”

“ठीक उसी सीमा तक जिस सीमा तक भैया बाध्य हैं।” मैंने कहा, “जरा सोचो तो, क्या तुम भैया का विरोध कर सकते हो? उनकी बातों का पालन तुम्हें करना होगा। फिर भैया ने यदि कोई वचन दिया है तो केवल उनकी ही ओर से दिया वचन तो माना नहीं जाएगा।”

मैंने देखा कि भीम की मुद्रा कुछ विद्रोही हो रही है। मैंने उसे डाँटा—“फिर तुम लोग हर बात में शंका ही क्यों पैदा करते हो? क्यों नहीं मानते कि बातें शुद्ध और पवित्र मन से भी की गई हो सकती हैं?”

“मन की पवित्रता और मामा—दोनों एक साथ रह नहीं सकते।” इस बार नकुल बोला। वह नकुल बोला, जो खांडव वन में मामा के ‘करतब’ अपनी आँखों से देख चुका था।

मैं उसका कुछ उत्तर दूँ तथा वह कुछ और आगे बढ़ जाए, यह उचित नहीं होता। मैंने एकदम बात बदल दी। सहदेव से बोला, “तुम कब से क्या गणना करते हुए बैठे हो?”

“मैं देख रहा हूँ कि भैया से हुई बातचीत के समय ग्रहों की स्थिति हमारे पक्ष में बहुत अधिक नहीं थी।”

“थोड़ा-बहुत तो थी!” मैंने उसे परिहास में उड़ाया—“तुम तो ऐसे ज्योतिषी हो, जो शायद भोजन के समय की भी ग्रहों की स्थिति देखते होगे।”

सहदेव ने पुनः अपने कथन पर जोर दिया—“पर ग्रहों की जबान पकड़ी नहीं जा सकती।”

“और धर्मराज जैसे भाई की जबान पकड़ी जा सकती है!” मेरे इतना कहते ही सब चुप हो गए। मैं बोलता रहा—“संदेह रस्सी को भी साँप में बदल लेता है और विश्वास साँप को भी रस्सी बना देता है।” मैंने कहा, “तो क्यों नहीं, हम विश्वास का सहारा लें? फिर पितामह, चाचा विदुर, प्रपितामही आदि लोगों के रहते हुए मामा का साहस है कि वह कोई गड़बड़ करे।”

मैंने अपनी आवाज में थोड़ी गंभीरता और पैदा की तथा बड़े प्रभावशाली ढंग से बोला, “और आप उस नियति में विश्वास कीजिए, जो राजभवन को ज्वालामुखी बना सकता है और उसी ज्वालामुखी से आपको सुरक्षित निकाल भी सकता है।”

□

अतिथिभवन में प्रवेश करते ही ज्ञात हुआ कि चाचा देवभाग (उद्धव के पिता) पधारे हैं। क्या बात है? मथुरा में सब कुशल तो है? मैं सीधे अपने कक्ष में भागा।

वे मुझे देखते ही खड़े हो गए। इस औपचारिकता से मैं विस्मृत था। मैं उनके चरणों पर गिर पड़ा। उन्होंने मुझे उठाकर वक्ष से लगा लिया। आत्मीयता का स्नेह आँखों से झरने लगा। उनकी भावुकता स्वयं को सँभाल नहीं पाई और ऐसा सिसक-सिसककर बच्चों-सा रोने लगे कि क्या बताऊँ! उनकी आत्मीयता में ऐसी सिसकन मैंने जीवन में पहली बार देखी थी। बाद में पता चला कि उद्धव से मिलकर भी वे इतने विह्वल नहीं हुए थे।

बात यह थी कि बहुत दिनों बाद भेंट हुई थी। उनके व्यक्तित्व में बड़ा ही परिवर्तन हो गया था। बढ़ती वय की स्पष्ट छाया दिखाई दे रही थी। उन्होंने केश बढ़ा लिये थे। श्मश्रु के बालों पर जीवन की संध्या उतर आई थी। सिर के बालों में तो अब भी गंगा-यमुना का संगम था।

गौर वर्ण, तेजस्वी व्यक्तित्व अब पहले से और भी अधिक आकर्षक हो गया था। हिमालय जैसी भव्यता एवं

तेजस्विता, गंगा जैसी पवित्रता और माता जैसी आत्मीयता मुझसे ऐसी लिपटी कि शीघ्र छोड़ने का नाम ही नहीं लेती थी। वे बैठे भी तो मुझे अपनी गोद में बैठाकर।

फिर भी सिसकते रहे। बोले, “ये आँसू थमते नहीं हैं; क्योंकि ये मेरे नहीं हैं, ये उन गोपियों के हैं, जिन्हें तुम वृंदावन में छोड़ आए हो और जिन्हें तुम शीघ्र आने का आश्वासन दे आए थे। फिर कभी उनकी ओर मुँह फेरकर देखा भी नहीं। वे अनुभव करती हैं कि मेरा निश्छल प्रेम छला गया।”

इस विषय में चाचाजी से क्या बात करता? प्रेम संदर्भ हार्दिकता की गहराई में होनेवाली वह छटपटाहट है, जो बड़ों के सामने परदा करती है और उसके हटते ही वह उघड़ जाती है। जब भी मैं एकांत में जाता हूँ, उस छटपटाहट का अनुभव करता हूँ। मेरा एकांत एक वृंदावन है, जहाँ गोपियाँ ही मेरे साथ रहती हैं। उन्हींसे अठखेलियाँ करता हूँ, खेलता हूँ और रास रचाता हूँ। प्रयत्न भी करूँ, तब भी मैं गोपियों से अलग नहीं होता। फिर मैं कैसे कहूँ? और वह भी चाचाजी से कि यह बात नहीं है कि मैंने उधर कभी दृष्टि नहीं की। वस्तुतः मैं जिधर भी दृष्टि करता हूँ, मेरी गोपियाँ ही मुझे दिखाई देती हैं। न वे मुझसे अलग हुई और न मैं उनसे। नियति ने बाहर की दूरियाँ बढ़ा दीं। यह बाहर की दूरी जितनी बढ़ती गई, भीतर की दूरी उतनी ही सिमटती गई—और अब तो एक बिंदु पर आ गई है; जिसमें न गोपियाँ अलग हैं, न कृष्ण और न कृष्ण अलग है, न राधा। गोपी-कृष्ण, राधा-कृष्ण अथवा रह जाता है आधा कृष्ण।

मैं इतना आत्मलीन हो गया था कि मुझे यह ध्यान ही नहीं रहा कि मैं चाचा की गोद में बैठा हूँ। जब उनके आँसू थमे और तल पर आए तो उन्होंने मेरे भार का अनुभव किया। वे मुझे हटाकर अभारी होना चाहते थे और ऐसा उन्होंने किया भी।

“ऐसा लगता है कि तुम कहीं खो गए।” वे बोले, “गोपियों का प्रसंग ही ऐसा है; जब मेरे जैसा निरपेक्ष व्यक्ति भी उनमें खो जाता है तब तुम्हारी तो बात ही अलग है।”

मैं अब भी चुप था।

“जब तुम उन्हें न याद कर सके, तब तुम हम लोगों को क्या याद करते!” वे बड़ी आत्मीयता से बोले, “अब हम लोग भी बूढ़े हो चले हैं। तुम्हारी ही बाँहों के सहारे हैं।”

एक सलज्ज मुसकराहट मेरे अधरों पर दौड़ गई।

“अब इतना लज्जित मत कीजिए।” मैंने कहा।

“अब तुम्हीं बताओ, क्या करूँ?” उन्होंने कहा, “तुम जो गए, सो गए ही। अपने भक्त पर भी ऐसा जादू फेंका कि वह तुम्हें छोड़कर कहीं जाने का नाम ही नहीं लेता। अपने परिवार को ही उसने भुला दिया।” उनका स्पष्ट संकेत उद्धव की ओर था।

“उद्धव बेचारा भी इधर काफी उदास है। वह मुझे छोड़कर जाना चाहता है; किंतु परिस्थितियाँ यहाँ हर क्षण ऐसी पैदा हो रही हैं कि हम निरंतर उलझते जा रहे हैं। वह मुझे छोड़ भी नहीं पा रहा है।”

पारिवारिक कुशलक्षेम के बाद फिर मेरी-उनकी मथुरा की स्थिति और राजनीति के संबंध में बातें होने लगीं। इसी बीच भीम निजबल को लेकर आ धमका। चाचा को देखते ही पहले वह भी सकते में पड़ गया। सोचित अभिवादन के बाद उसे भी भान हो गया कि चाचाजी हम लोगों का कुशल समाचार ही लेने आए हैं। उन्होंने कहा भी—“समाचार मिला कि तुम लोग हस्तिनापुर में हो, तो तुम्हें देखने की सहज लालसा मैं रोक नहीं पाया।”

“कहो निजबल, हमें तुम्हारे अक्षवाट में कब आना है?” मैंने पूछा, “उसीके अनुसार मुझे तैयारी भी करनी पड़ेगी।”

“तैयारी करनी पड़ेगी!” वह सकपकाया—“आपको क्या, तैयारी तो मुझे करनी है।”

“क्यों? तुम तैयारी करोगे और मैं बिना तैयारी के आऊँगा!” मैंने कहा, “भैया को भी साथ लाना है न! तुम तो उन कृष्ण और बलराम को देखना चाहते हो, जिन्होंने चाणूर एवं मुष्टिक तथा कंस और उसके भाइयों का मर्दन किया था। याद रखना, ऐसे कृष्ण को केवल कंस ने देखा था। जब तक तुम कंस नहीं बनोगे, ऐसा कृष्ण दिखाई नहीं पड़ेगा।”

वह और भी चकित हुआ। उसे लगा कि पहले जो गुप्त योजना बनाई गई थी, शायद उसकी सूचना इन्हें मिल चुकी है। तभी इनकी भाषा द्विविध हो गई है।

फिर मेरी मायावी मुसकराहट ने उसके मन में उठे संदेह पर और गहरा रंग चढ़ाया। वह एकदम घबरा उठा। मनुष्य साँप से नहीं, पर अपने मन में बैठे साँप के भय से घबराता है। मेरा उद्देश्य उसी भय को और जाग्रत करना था। इसीलिए मैंने जानबूझकर अपने मामा कंस का उसे स्मरण कराया और वह काँप उठा। अब उसे पक्का यकीन हो गया कि दुर्योधन ने उससे मिलकर जो दुरभिसंधि की थी, उसका आभास मुझे लग गया है।

वह एकदम मेरे चरणों पर गिर पड़ा। बोला, “हम आपको देखना नहीं, आपका दर्शन करना चाहते हैं; पर कंस बनकर नहीं वरन् सहज मानव बनकर।”

“वह तो तुम अभी भी कर रहे हो।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“मैं दर्शन करके धन्य हुआ ही हूँ, पर मेरे साथी भी चाहते हैं।” उसने कहा, “इस समय आप दोनों भाई आर्यावर्त के श्रेष्ठ मानव हैं। हमारा अक्षवाट आपका स्वागत, अभिनंदन और अर्चन करके धन्य होना चाहता है।”

मुझे लगा, दुरभिसंधि का त्रण फूटकर पहले ही बह गया है। हस्तिनापुर की स्थिति के बदलने के साथ-साथ अब निजबल की योजना भी बदल चुकी है।

□

दो दिनों के बाद ही मुझे निजबल के अखाड़े में ससम्मान आमंत्रित किया गया। हम दोनों भाई भीम के साथ निजबल के अक्षवाट में पहुँचे। हस्तिनापुर के सारे मल्ल उपस्थित थे। उसमें दुर्योधन भी था। उसने पहुँचते ही हमारा स्वागत किया। इसके बाद वह निजबल को किनारे ले जाकर कुछ कहने लगा।

अब भीम भी मेरे कान के पास आकर बोला, “हमें सावधान रहना चाहिए।”

“मूर्खतापूर्ण बात मत करो।” मैंने भीम से कहा और उसकी ओर से मुँह हटा लिया।

हम दोनों भाई भव्य सिंहासन पर बैठ गए। वैसा ही सिंहासन दुर्योधन का भी था; पर मेरे सिंहासन के नीचे। दुर्योधन की बगल में भीम को बैठाया गया।

अक्षवाट के महामल्ल निजबल का हमारे स्वागत में भाषण हुआ। उसने मेरे बचपन की उन सारी घटनाओं को रेखांकित किया, जो कंस द्वारा मेरी हत्या के लिए आयोजित की गई थीं। फिर हमारी मल्ल विद्या की प्रशस्ति गाई गई और हमें अपने समय का महाकाल घोषित किया गया। दुर्योधन ने भी हम लोगों की प्रशस्ति में बहुत कुछ कहा; पर उसके सारे भाषण में कूटनीति की गंध थी। सीधे-सीधे बातें न कहकर बड़ी चतुराई से उसने मेरी हर प्रकार की छवि को ध्वस्त करने की चेष्टा की। मैं उसके कहे कुछ वाक्यों को दुहराता हूँ—“ऐसा नहीं है कि आर्यावर्त में ऐसे मल्ल नहीं हैं। मल्ल होना बड़ी बात है, अच्छा मल्ल होना और भी बड़ी बात है; पर एक अच्छा मनुष्य होना उससे भी बड़ी बात है।”

इस वाक्य पर तालियाँ भी बजीं, लोगों ने ‘साधु-साधु’ की ध्वनि भी की। मैंने समझ लिया कि इस एक वाक्य में मेरे महामल्ल होने और भगवान् की चमत्कारपूर्ण छवि तोड़ने का उसका जाना-बूझा प्रयास है।

फिर उसने मल्लों को बधाई देते हुए कहा, “अच्छा किया कि आप लोगों ने शीघ्र ही इन्हें अपने अक्षवाट में

आमंत्रित किया; क्योंकि जल्दी ही ये लोग यहाँ से द्वारका के लिए प्रस्थान करने वाले हैं। क्योंकि दो-एक दिन में ही ये जिस उद्देश्य से यहाँ आए हैं, वह पूरा होने वाला है।”

मैं समझ गया कि इस कथन का संबंध युधिष्ठिर के प्रस्तावित राज्याभिषेक से है। और वह मल्लों से नहीं वरन् मुझसे कह रहा है कि तब आपकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं रह जाएगी, आपको द्वारका चला जाना चाहिए। स्पष्ट लगा कि हस्तिनापुर में मेरी उपस्थिति उसे भारी पड़ रही है। वह किसी विशेष षड्यंत्र की अवतारणा में लगा है।

अब उन लोगों ने भैया को बोलने के लिए कहा। वे कब के भाषण करने वाले थे! फिर भी तैरना न जानते हुए भी वे पानी में उतर गए और बोलने के लिए खड़े हुए। संबोधनों के बाद उनका पहला ही वाक्य था—“भाषण करना मेरा काम नहीं। भाषण तो कन्हैया करेगा। मैं तो काम में विश्वास करता हूँ। आप आर्यावर्त के किसी भी मल्ल को बुलाइए। मेरा-उसका दो-दो हाथ हो जाए और आप देखते रहिए।”

मुझे हँसी आ गई। दुर्योधन ने हमारे शौर्य की क्षमता पर जो अप्रत्यक्ष आक्रमण किया था, भैया ने ही किसी मल्ल को सार्वजनिक चुनौती देकर उसपर पानी फेर दिया। बैठते-बैठते उन्होंने यह भी कह दिया कि “यहाँ मैं अपनी मल्ल विद्या यदि प्रदर्शित भी करूँ, तो किसके साथ! मेरे जोड़ का तो कोई दिखाई नहीं देता। सभी मित्र हैं। दुर्योधन तो मेरा शिष्य ही ठहरा।”

भैया के इतना कहते ही दुर्योधन की आकृति का रंग ही बदल गया। वह ऐसा कसमसाया कि मुझे लगा कि कहीं वह उठकर यह न कह बैठे कि मैं मल्ल विद्या में इनका शिष्य नहीं, मैंने इनसे गदा विद्या अवश्य सीखी है। पर वह कसमसाकर ही रह गया।

भैया ने अपने वक्तव्य में मुझे भाषण के लिए प्रस्तुत कर ही दिया था। फिर समारोह के संचालक ने अपार श्रद्धा और सम्मान प्रदर्शित करते हुए मुझसे आशीर्वचन देने के लिए कहा।

मैं बोलने के लिए खड़ा हुआ। मैंने कोई लंबा भाषण नहीं किया। पहले मैंने मल्ल विद्या की विशेषताएँ बताई और कहा, “यह एक सात्त्विक विद्या है। आदि विद्या है। यह उस समय से चली आई विद्या है, जब मनुष्य ने आयुधों का आविष्कार नहीं किया था। आज भी इसमें किसी आयुध का प्रयोग वर्जित है। यह सामूहिक विद्या नहीं है, व्यक्तिगत विद्या है। कभी मल्लों का समूह दूसरे समूह से नहीं लड़ता। जो कुछ होता है, आमने-सामने होता है। स्वबल, सामर्थ्य और युक्ति ही इसमें काम आती है। इसमें धोखा, कपट और छल का बिल्कुल निषेध है। मामाजी (कंस) ने यही किया और उसका तत्क्षण फल पाया। मेरा पूरा विश्वास है कि आपमें से कोई भी मेरे मामाजी का अनुसरण नहीं करेगा, अन्यथा अपने विनाश के साथ-साथ आप हमारे अग्रज दुर्योधनजी के भव्य ललाट पर भी अपकीर्ति का टीका लगाएँगे।”

चोर का जी आधा। इतना सुनते ही दुर्योधन और निजबल की मुद्राएँ बदल गईं। अगली पंक्ति में बैठे कुछ मल्लों ने भी कानाफूसी शुरू की। मैं समझ गया कि मुझे मिली सूचना ठीक थी। षड्यंत्र यह रचा गया था कि भीम को मूर्ख बनाकर, उसीके माध्यम से मुझे यहाँ बुलाया जाए। मल्लयुद्ध के लिए चुनौती दी जाए और कई एक साथ मेरे ऊपर टूट पड़ें।

इसमें वे सफल होते या नहीं, यह तो भगवान् ही जाने; पर उनकी मंशा यही थी। बोलने के बीच में ही मेरे मन में आया कि क्यों नहीं इस षड्यंत्र का सार्वजनिक उद्घाटन कर दिया जाए; क्योंकि उद्घाटित षड्यंत्र की अपकीर्ति पराजय से कम नहीं होती।

मैंने संकेत से बातें कहीं—“मुझे सूचना मिली थी कि लोग उन मल्लों को देखना चाहते हैं जिन्होंने चाणूर, कंस

और उसके भाइयों का वध कर दिया था। तब मैंने उनसे हँसते हुए कहा था कि उन मल्लों को कंस और चाणूर ही देख सकते हैं। मुझे प्रसन्नता है कि आपमें से किसीने कंस और चाणूर बनने की चेष्टा नहीं की।”

इतना कहते ही ‘साधु-साधु’ का समवेत स्वर गूँजा। उनपर तो जैसे घड़ों पानी पड़ गया, जो पहले इस षड्यंत्र में शामिल थे और बाद में परिवर्तित परिस्थिति में उसका विचार छोड़ चुके थे। अंत में अपने अभिनंदन के प्रति आभार व्यक्त कर मैं बैठ गया।

यों कार्यक्रम लंबा चला। अपराह्न से ही आरंभ हो गया था। जब मैं वहाँ से चला, संध्या हो चुकी थी। याद आया कि देवभाग चाचा को अतिथिभवन में ही छोड़कर आया हूँ। आज मैंने उन्हें लेकर पितामह से मिलने का निश्चय किया था। चाचा को मिलाने के बहाने मैं स्वयं पितामह का मस्तिष्क पढ़ना चाहता था; क्योंकि अब तक जो कुछ हुआ था वह, मेरे विचार से, पांडवों के पक्ष में नहीं था। आखिर वे क्या सोचते हैं?

मैं सीधे अतिथिगृह में आया।

“तुमने मुझे अच्छा फँसाया!” प्रतीक्षा करते चाचा की पहली टिप्पणी थी।

बिना कुछ कहे-सुने और बिना यह बताए कि हम कहाँ चल रहे हैं, उन्हें लेकर मेरा रथ पितामह आवास की ओर बढ़ा।

पश्चिम की ओर बढ़ते रथ से डूबता सूर्य सामने ही दिखाई दिया। मैंने प्रणाम किया। चाचा व्यंग्य करते हुए बोले, “डूबते सूर्य को प्रणाम करते हो, यह देखकर प्रसन्नता होती है।”

“मैं डूबते सूर्य को प्रणाम करता ही हूँ, साथ ही उस सूर्य को भी प्रणाम करता हूँ, जो कल उगने वाला भी है।”

चाचा मुसकराए और बोले, “यही दूरदर्शिता तो तुम्हारी अपनी पहचान बनाती है।”

मैंने बात बदली। फिर मथुरा के बारे में पूछा।

उन्होंने बताया—“सत्ता पर जरासंध पूरी तरह प्रभावी है। मथुरा में सारे मागधी सैनिक भरे हैं।”

“तो क्या जरासंध ने अपनी राजधानी गिरित्रज (मगध) से मुख मोड़ लिया है?” मैंने पूछा।

“उसे कैसे छोड़ सकता है!” उन्होंने बताया—“वह कभी-कभी आता है। और नहीं तो उसका पुत्र सहदेव या पौत्र मेघसंधि में से एक-न-एक मथुरा में रहता है।”

“फिर भैया बृहद्बल की क्या भूमिका होती होगी?”

“कोई विशेष नहीं।” चाचा ने बताया—“वह राजभवन में आता-जाता रहता है। वह अमात्य परिषद् का सदस्य भी है। उसने मेघसंधि को भी पटा रखा है। इसलिए नहीं कि राजकीय सुविधा का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सके, वरन् इसलिए कि हम लोग जल में रहकर मगर से वैर लेने की स्थिति में नहीं हैं।...और फिर उन लोगों ने न तो हमें कभी परेशान किया है और न हमारी प्रजा को।”

“पर मेरे हटने के बाद तो उन लोगों ने बड़ा भीषण रक्तपात किया था।”

“उस समय की स्थिति दूसरी थी।” चाचा बोले, “उसका क्रोध भभक रहा था; फिर जाने-अनजाने उस समय एक अफवाह उड़ी थी कि किसी समय कृष्ण फिर लौट आ सकता है।”

बात चल ही रही थी कि पितामह का आवास आ गया। लोग मुझे जानते ही थे। बिना रोक-टोक के मैं उनके अंतरंग कक्ष तक पहुँच गया। आज वे यों भी बहुत प्रसन्न थे; फिर चाचा से मिलकर और भी प्रसन्न हो गए।

ऐसी तनावमुक्त स्थिति में पितामह बहुत कम दिखाई पड़ते थे। हम लोगों के बैठते और प्रकृतिस्थ होते ही वे बोले, “चलिए, भगवान् जो करता है, वह अच्छा ही करता है। न खांडव वन की घटना होती और न उनकी बुद्धि ठिकाने आती।” इतना कहने के बाद वे कुछ क्षणों के लिए रुके। शायद उन्हें लगा कि खांडव वन का नाम

चाचाजी के सामने नहीं लेना चाहिए था; क्योंकि ढकी दुर्गंध को सबके सामने खोलने से क्या लाभ! फिर उन्होंने मुद्रा बदलते हुए कहा, “तुमने कुछ सुना है, कन्हैया?”

“क्या?”

“महाराज ने निश्चय किया है कि युधिष्ठिर का अब राज्याभिषेक कर देना चाहिए। पांडु का सिंहासन अब वे पांडुपुत्रों को लौटा रहे हैं।”

“पर मैंने सुना है कि यह निश्चय महाराज का नहीं वरन् शकुनि मामा का है।”

“किसीका भी हो, पर निर्णय स्वागत योग्य है।” पितामह बोले।

मैं चुप ही रह गया।

“क्या सोचने लगे?”

“सोचता हूँ, एक ही निर्णय व्यक्तित्व के बदलने से बदल जाता है।” मैंने और स्पष्ट किया—“यदि यह निर्णय महाराज का होता तो कुछ और बात होती।”

“तुम तो विदुर की तरह सोचते हो।” पितामह बोले, “तुम यह क्यों नहीं सोचते कि समय की धारा की चोट खाकर पत्थर भी महादेव हो जाता है।”

“केवल आकृति से महादेव होता है।” मैंने कहा, “वास्तविक महादेव तो वह तब होता है, जब मंत्रसिद्ध होता है।”

“अभी उसे महादेव तो बनने दो, फिर वह मंत्रसिद्ध भी हो जाएगा।”

मैंने सोचा कि पितामह को ऐसे नहीं छोड़ना चाहिए। उनसे पूरा आश्वासन ले लेना चाहिए। मैंने थोड़ा विस्तार किया और नाटक की चर्चा की, जो युधिष्ठिर के सामने हुआ था—और उनसे वचन ले लिया गया था कि ताऊजी के निर्देश पर ही शासन होगा।

“तो इसमें भय की कौन सी बात है?”

“भय इस बात का है कि निर्देश महाराज धृतराष्ट्र का होगा, पर निर्देश के नेपथ्य में होंगे मामा।”

“होने दीजिए। आखिर हम लोग किसलिए हैं!” पितामह बोले, “यों दर्शकों को नेपथ्य के पीछे दृष्टि भी नहीं डालनी चाहिए। यह शास्त्रकारों के आदेश के विरुद्ध है।” और वे हँसने लगे।

□

बाज को देखकर पिंजड़े में कबूतर की तरह एक बात पितामह के मन में और फड़फड़ा रही थी। उन्होंने बीच-बीच में व्यास की भविष्यवाणी की चर्चा की थी और कहा था कि आचार्य धौम्य का भी पांडवों के भविष्य के बारे में ऐसा विश्वास है। फिर बातें इधर-उधर से ऐसी उलझ जाती थीं कि वे इस विषय को आगे नहीं बढ़ा पाते थे; पर पांडवों के भविष्य से वे शंकित बराबर दिखे। ऐसी स्थिति में वे क्या चाहते हैं, बात इसपर हो नहीं पाई—और मेरा मन भी इस विषय की ऐसी पगडंडी पर टहलता रहा, जो घूम-फिरकर वहीं चली आती थी, जहाँ से शुरू होती थी।

दो-एक दिन में ही युधिष्ठिर के राज्याभिषेक की घोषणा हुई।

यह घोषणा भी पितामह के नाम से प्रचारित की गई। पर हर किसीको इस घोषणा पर अचरज था। प्रत्येक बुद्धि इस घोषणा को कुतरती रही। राज्याभिषेक कोई ऐसा सामान्य समारोह नहीं है, जो एक राजकीय सूचना पर संपन्न हो सके। इसके लिए महीनों से तैयारी होती है। राजाओं, महाराजाओं को आमंत्रित किया जाता है। उनकी ओर से उपहार आते हैं। आर्यावर्त की सभी नदियों, सभी सागरों और सभी ऋतुओं में हुई वर्षा का जल एकत्रित किया जाता है। फिर विधिवत् वह जल अभिमंत्रित होता है।

तत्पश्चात् जिसका राज्याभिषेक होता है, उस व्यक्ति को जंबु-काष्ठ की चौकी पर विधिवत् स्नान कराया जाता

है। इस प्रकार उसमें यह भावना भरी जाती है कि देश का हर स्थान, हर परिस्थिति और तीर्थ के जल से तुम्हारा यह व्यक्तित्व अभिसिंचित हो रहा है। अतएव आज से इस धरती के कण-कण के प्रति तुम्हारा दायित्व है। कई दिनों तक यह कर्मकांड चलता है। पांडु के राज्याभिषेक की स्मृति पुरानी होने पर भी अभी जनता में सुरक्षित है। वह उसे पुराने अभिलेख की तरह पढ़ रही थी और सोचने लगी थी कि कुछ ऐसा जरूर होने जा रहा है, जो अभी तक नहीं हुआ है।

सुना है, मंत्रिपरिषद् में भी इस संबंध में बात उठी थी। तब महाराज की ओर से यहाँ तक कहा गया कि अनेक लोग इस समय पांडवों के साथ आए हैं। उनमें राजे-महाराजे भी हैं। द्वारकाधीश भी इस समय राजधानी में हैं। यदि वे लोग चले जाएँगे तो फिर जल्दी आना उनका संभव नहीं होगा। अतएव जैसे भी हो, इस शुभ कार्य को यथाशीघ्र संपन्न कर देना चाहिए।

मंत्रिपरिषद् ने महाराज धृतराष्ट्र की इच्छा पर अपनी मुद्रा लगा दी; पर शंका का बीज तो सबके मनो में पड़ ही चुका था। कुछ लोग इस आशंका को लेकर मेरे पास भी आए। मैंने उन्हें पिटा-पिटाया ही उत्तर दिया और सदा से कहे वाक्य को ही दुहराया कि ईश्वर जो भी करेगा, अच्छा ही करेगा।

मैंने मुसकराते हुए अपने इस वाक्य में थोड़ा सा सुधार किया—“वस्तुतः हम जो करते हैं, वह ईश्वर की प्रेरणा का ही तो परिणाम होता है।”

यह सब होते हुए भी प्रजा के उत्साह में कोई कमी नहीं थी। उसका मन तो पहले से ही तैयार था। सूचना के बाद तो एकदम उसमें उछाल आ गया। उस संध्या को मैं जिधर भी गया उधर ही मेरा स्वागत हुआ; जैसे मैं ही सारी घटना के मूल में हूँ।

मैंने एक बात बड़े ध्यान से देखी कि जनता में पांडव पक्ष के लोग तो प्रसन्न थे ही, पर कौरव पक्ष के लोग भी अप्रसन्न नहीं थे। नियति की मुद्रा पर विश्वास करते थे। उन्होंने इन सारी घटनाओं को बड़े सामान्य भाव से लिया था।

जब अतिथिभवन की ओर आया तो दूर से ही देखा कि बलंधरा अलिंद में खड़ी है। कई लोगों की दृष्टि उसपर लगी। उसकी शरीरयष्टि ही ऐसी थी कि जो नेत्र उसपर चिपक जाते थे, वह उसे सोख ही लेना चाहते थे।

“मैं आपकी ही प्रतीक्षा कर रही थी।” मेरे रथ से उतरते ही वह बोली।

“और मैं सुशर्मा की प्रतीक्षा कर रहा था।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“तो क्या मैं उन्हें भेज दूँ?”

“हाँ, यथाशीघ्र भेजो।”

“क्यों?”

“मुझे उन्हें काशी भेजना है और कहना है कि बलंधरा के स्वयंवर की यथाशीघ्र व्यवस्था करें।”

उसकी आकृति पर तुरंत लज्जा की लालिमा दौड़ गई। संध्या के कमल की तरह उसकी दृष्टि नीची हो गई।

“अब तो तुम्हारा मनचाहा हो रहा है। अब भानुमती का नहीं, तुम्हारा ही पुत्र युवराज होगा।”

“पर आश्चर्य है, जीजी और जीजा दोनों इस निर्णय से प्रसन्न हैं।”

“इसमें आश्चर्य की क्या बात है! उन्हें तो प्रसन्न होना ही चाहिए। अधिकार हरण से अधिक प्रसन्नता अपेक्षित को अधिकार देने में होती है, यदि स्वार्थ न हो तो।”

इतना सुनते ही, बिना कुछ कहे-सुने, आँखें नीची किए ही बलंधरा चली। वह क्यों आई थी? पता नहीं। न मैंने पूछा और न उसने बताया। ऐसा तो नहीं कि मेरे मन का अनुमान लगाने के लिए उसे भेजा गया हो? मेरी बातों से

वह कुछ अनुमान तो लगा नहीं पाई होगी।

इसके तीसरे दिन पूर्वाह्न समारोह की व्यवस्था थी। जहाँ सूचना पहुँच सकी थी वहाँ के लोग आने आरंभ हो गए थे। सबसे पहले अग्रवाण से चारुदेष्णा जयद के साथ आया। उसे पता चला कि मेरा आवास अतिथिभवन में है। वह अतिथि भवन से होता हुआ मुझसे मिलने महात्मा विदुर के यहाँ आया। मुझे लगा कि कुछ राजाओं को भी आमंत्रित किया गया है।

उससे मिलते ही मैंने पूछा, “चेकितान कहाँ है?”

“यह तो मुझे नहीं मालूम। जो दूत मेरे यहाँ आया था, वही तो चेकितान के यहाँ गया होगा; पर वे अभी तक नहीं आए!” चारुदेष्णा को भी आश्चर्य हुआ।

“हो सकता है, उन्हें आमंत्रित ही न किया गया हो।” मैंने कहा।

“हो सकता है।” चारुदेष्णा बोला।

उसकी बातों से ऐसा लगा कि दुर्योधन ने कुछ ही लोगों को व्यक्तिगत रूप से बुलाया है।

अब मुझे आभास लग गया कि दुर्योधन ने अपने कुछ खास लोगों को ही आमंत्रित किया है। चारुदेष्णा के चले जाने के बाद मैंने इस ओर विदुरजी का भी ध्यान आकृष्ट किया। वे आज सुबह से ही गंभीर रूप से मौन थे और मौन ही रह गए।

आयोजन के लिए तीन दिन पहले से ही गंगातट पर एक विशाल मंडप बनाया जा रहा था। मोतियों की झालर लगे इस मंडप की इंद्रधनुषी शोभा आज अद्भुत थी। भव्य विशाल प्रवेश द्वार के दोनों ओर स्वर्ण कलश लिये कन्याएँ खड़ी थीं। कलशों पर दीप प्रज्वलित थे। सामने काफी ऊँचाई पर महाराज और पट्टमहिषी का सिंहासन था। उसीके एक ओर एक सिंहासन खाली थी। उसके पार्श्व में थोड़ा रिक्त स्थान छोड़ दिया गया था। उसपर एक सिंहासन और आ सकता था। स्थान की रिक्तता सहज ही लोगों का ध्यान आकर्षित कर रही थी। उससे जरा नीचे, लगभग बराबर ही कहिए, पितामह एवं प्रपितामही के लिए स्थान निश्चित था और उससे काफी नीचे अमात्य मंडल के बैठने की जगह सुरक्षित थी।

यह तो सामने का दृश्य था। इसीके पार्श्व भाग में दोनों ओर राजा-महाराजाओं के बैठने का स्थान बनाया गया था। इसीमें आदर के साथ हम लोगों को भी बैठाया गया। हमने अपने निकट ही पांडवों को भी बैठा लिया था; क्योंकि मेरे सामने की ओर कौरव पक्ष जरा फैलकर बैठा था। यों भी उनकी संख्या काफी थी। उन्हींमें दुर्योधन के एक ओर कर्ण और दूसरी ओर शकुनि था। सभी प्रसन्न थे; पर कर्ण की मुद्रा कुछ उखड़ी-उखड़ी-सी थी। लगता था, यहाँ कुछ ऐसा है या होने वाला है, जो इसकी प्रकृति के अनुसार नहीं है।

वस्तुतः पांडवों का स्थान भी उन्हींमें सुरक्षित था; पर पक्ष-प्रतिपक्ष का एक ही ओर रहना मैंने उचित नहीं समझा और पांडवों को अपनी ओर बुला लिया था। इसके बाद भी दो मंचक मैंने अपनी बगल में और रिक्त करवाए थे।

आज पांडव असाधारण रूप से गंभीर थे। युधिष्ठिर भी मौन थे। प्रजा की भीड़ उमड़ी चली आ रही थी। एक जुलूस जैसा लेकर तथाकथित महापौर चंद्रसेन भी आता दिखाई दिया; पर उसके लिए बैठने का कोई स्थान निश्चित नहीं था। व्यवस्थापकों से उसने पूछा भी। यह भी कहा कि आज के कार्यक्रम में मुझे भी समय देने का आश्वासन दिया गया है; पर किसीने उसे ठीक उत्तर नहीं दिया। वह भीड़ में खो जाने की स्थिति में आ गया। निश्चित ही यह उपेक्षा उसे असह्य लग रही थी। आक्रोश में धक्के देते और भीड़ को चीरता वह आगे बढ़ा ही था कि मैंने उसे खड़े होकर अपने पास बुलाया और अपनी बगल में स्थान दिया।

“देखा आपने, कैसी अव्यवस्था है!” उसने बैठते ही मुझसे कहा।



“जल्दी में किए जा रहे आयोजन में ऐसा हो ही जाता है।” मैंने कहा।

“नहीं, यह सब जानबूझकर किया गया है।” उसने कहा और फिर महाराज के सिंहासन की बगल में खाली सिंहासन की ओर संकेत करते हुए कहा, “वह स्थान तो महाराज युधिष्ठिर के लिए है; पर उसकी बगल में जहाँ स्थान रिक्त है वहाँ रखा सिंहासन हटवा दिया गया है।”

अब मेरी जिज्ञासा जागी; पर मैं कुछ बोला नहीं। वही बोलता रहा—“वहाँ द्रौपदी के लिए सिंहासन रखा गया था। पर सुना है कि प्रातः कर्ण जब व्यवस्था को देखने आया था तब उस सिंहासन को हटवा दिया गया था। प्रहरी बता रहा था कि उसने यह भी कहा कि मेरी आँखों के सामने वह (द्रौपदी) कभी भी पट्टमहिषी के सिंहासन पर बैठ नहीं सकती।”

मैंने अनुभव किया कि द्रौपदी स्वयंवर में लगी चोट अब भी कर्ण को पीड़ित कर रही है। मैंने चंद्रसेन से कहा, “जब युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हो जाएगा तब पट्टमहिषी तो द्रौपदी ही होगी। आप उसे सिंहासन दीजिए या न दीजिए।”

“पर कर्ण उसे देख नहीं सकता। एक स्थिति ऐसी आती है, जब प्रतिशोध को अपनी आँखों में ही धूल झोंकने में शांति मिलती है।” चंद्रसेन बोला।

अब मेरी दृष्टि कर्ण की ओर गई। वह अपने स्थान पर नहीं था। इधर द्रौपदी और कुंती बुआ भी नहीं दिखाई पड़ रही थीं। कोई बात अवश्य है। मुझे यह भी लगा कि पांडवभक्त प्रजा यहाँ काफी आशंकित है।

थोड़ी देर बाद घोषणा हुई कि पितामह के साथ ही प्रपितामही भी पधार रही हैं। हम सब खड़े हो गए। ब्राह्मणों ने स्वस्तिवाचन आरंभ किया और प्रजा ने जयघोष।

इसके पल भर बाद ही प्रपितामही सत्यवती आती दिखाई दीं। उनकी वृद्धता ने एक ओर द्रौपदी के कंधों का सहारा लिया था और दूसरी ओर कुंती बुआ के। उनके पीछे पितामह थे।

अब दुर्योधन और युधिष्ठिर को बुलवाया गया। दोनों पितामह और प्रपितामही को उनके स्थानों पर ले गए। दोनों ने बैठने के पूर्व महामात्य से पूछा कि द्रौपदी और कुंती का सिंहासन कहाँ है?

अब एकदम सन्नाटा छा गया। महामात्य भी पहले तो हिचकिचाए। फिर धीरे से बोले, “इसका उत्तर तो दुर्योधन और अंगराज ही दे सकते हैं।”

“अंगराज को हमारी व्यवस्था से क्या लेना-देना!” प्रपितामही की तेजस्विता एकदम तड़प पड़ी। उनकी आवाज में वृद्धता का बिल्कुल प्रभाव नहीं था।

“विदुर, तुम अपने दायित्व का निर्वाह ठीक से नहीं कर रहे हो।” उनकी बातों से लगा कि यहाँ की व्यवस्था के संबंध में उन्हें पूर्व सूचना है।

महामात्य यह बताएँ कि सिंहासन लगवाए गए थे और वे हटा दिए गए, उसके पहले ही महाराज स्वयं बीच-बचाव में कूद पड़े और बोले, “यदि भूल हो गई तो भूल सुधारी भी जा सकती है। महामात्य, आप अभी व्यवस्था कीजिए।”

शीघ्र ही भूल सुधार दी गई और प्रपितामही की बगल में कुंती तथा द्रौपदी के लिए दो सिंहासन और लगा दिए गए।

इसी समय लोगों ने देखा, कर्ण खड़ा होकर कुछ कहना चाहता है। उसने आग्नेय नेत्रों से महामात्य की ओर देखा भी; पर मामा ने उसे हाथ पकड़कर शांत कर दिया। दुर्योधन ने फिर मामा से कुछ कहा। उसकी आवाज तो सुनाई नहीं पड़ी, पर ओठों के हिलने से ऐसा लगा कि वह कह रहा है, इस दासीपुत्र ने फिर अचानक दाँव मार

दिया।

ऊपर से लहराते उत्साह के भीतर धधकती हुई बड़वाग्नि का अनुमान लगभग सबको हो गया। फिर पितामह, महाराज और महामात्य के बीच संक्षिप्त-सी मंत्रणा हुई। इसके बाद उच्च स्वर में उन्होंने कहा, “सभी सावधान हो पितामह की घोषणा को ध्यान से सुनें।”

अब पितामह प्रसन्नतापूर्वक बोलने के लिए खड़े हुए।

“महाराज धृतराष्ट्रजी, परम पूज्या माताजी, प्रिय द्वारकाधीशजी, अन्य स्थानों से पधारे राजे-महाराजे, महामात्य विदुरजी, अमात्य मंडल के सदस्यगण तथा प्रिय पौत्रो एवं प्रजाजनो!

“सचमुच यह मेरे जीवन का एक अपूर्व एवं सौभाग्यशाली क्षण है, जब मैं महाराज की ओर से एक महत्त्वपूर्ण सूचना देने के लिए खड़ा हुआ हूँ। मुझे निर्देश हुआ कि मैं उनकी ओर से उनकी मंशा कहूँ।”

इतना सुनते ही सभा में सन्नाटा छा गया। उत्सुकता अपनी चरम सीमा पर थी कि पितामह ने घोषणा की —“महाराज का निर्णय है कि पांडु का राज्य पांडु पुत्रों को दे दिया जाए।”

इसके बाद जनता उत्साह और प्रसन्नता में एकदम उछल पड़ी। साधु-साधु और जय-जयकार के नारे लगने लगे। इन गगनभेदी नारों से सारा वातावरण प्रकंपित हो गया। लोग अभिनव प्रह्लादों के अभिनंदन में नाचने लगे। कोई भी कुछ सुनने को तैयार नहीं था। पितामह ने कई बार शांत करने की चेष्टा की; पर वे असफल ही रहे और बैठ गए।

अब महामात्य खड़े हुए और बोले, “आप लोग शांत होइए। पितामह को पूरा सुन तो लीजिए।” पर कौन सुनता है! अजीब स्थिति थी। लगता है, प्रजा बस इतना ही सुनना चाहती थी। दुर्योधन के चेहरे पर व्यग्रता थी। उसने मामा के कान में कुछ कहा।

अब मामा खड़ा हुआ शांति कराने।

“आप बैठ जाइए। आपको हस्तिनापुर से क्या लेना-देना है!” हर तरफ से बस एक ही प्रकार की आवाज का जैसे विस्फोट हो गया।

मेरी बगल में बैठा महापौर भी बुदबुदाया—“बड़े-बड़े बह गए, मामा पूछे कितना पानी!”

पितामह ने महाराज से कुछ कहा और अंत में महाराज को ही उठना पड़ा। एक बार फिर सन्नाटे ने सारा कोलाहल पी लिया। सोचित संबोधनों के बाद उन्होंने जो कुछ कहा, उसकी कुछ बातें ही मुझे याद हैं; क्योंकि मैं आरंभ से अंत तक उनकी आकृति की बदलती मुद्राएँ ही देखता रहा। बहुत सोच-सोचकर, बहुत सँभल-सँभलकर, लगभग हर शब्द को चबाते हुए वह बोलते रहे। उनके भाषण में आज बड़ी नाटकीयता थी। स्पष्ट लग रहा था कि इसका अभ्यास उन्होंने पहले से किया है; क्योंकि उनकी हर मुद्रा में कृत्रिमता थी, असहजता थी।

पहली बात तो उन्होंने अश्रुपूरित नेत्रों से यह कही कि “यह सिंहासन तो पांडु का है। मेरे भाग्य में सिंहासन तो उसी दिन छिन गया, जिस दिन ज्योतिहीन होकर मैं धरती पर पैदा हुआ। भाइयों में बड़ा और सौ-सौ बलशाली एवं योग्य पुत्रों का पिता होकर भी नियति ने अपने क्रूर पादाघात से मेरे राज्यारोहण की संभावना को सदा के लिए कुचल दिया।...और फिर सिंहासन मुझ जैसे बौने के लिए चंद्रमा हो गया। मेरा छोटा भाई पांडु सभी दृष्टियों से योग्य था और सिंहासन उसी धर्मप्राण को सौंपा गया। उसकी अक्षय कीर्ति का बखान मैं क्या करूँ! उसे आप सब जानते हैं।”

वे बोलते रहे—“पांडु के जीवन का अंत बड़ा मार्मिक था (इसके बाद महाराज की सिसकन उस सन्नाटे में रेंग-सी गई)। संन्यस्त होने पर भी उनके शापग्रस्त जीवन का अंत हमारे परिवार पर एक वज्रपात था। तब से राम की

पादुका ही तरह यह सिंहासन मेरे पास था। उनके परिवार की भी हमने देखभाल की। हमने युधिष्ठिर को युवराज भी बनाया। इस कार्य में पितामह का हमें बहुमूल्य एवं सक्रिय सहयोग मिला।”

दूसरी बात उन्होंने और भी नाटकीय ढंग से कही—“युधिष्ठिर के युवराज पद को लेकर हमारे बच्चे बड़े असमंजस में थे। उनका भविष्य उन्हें बड़ा अनिश्चित-सा लगने लगा। इसीलिए वे कभी मुझपर और कभी पांडवों पर अपना क्रोध भी उतारते रहे; पर परिवार में तो यह होता ही रहता है। जहाँ बहुत सारे घट एक साथ हों, वहाँ उनका टकराना स्वाभाविक है।”

तीसरी महत्वपूर्ण बात यह थी—“इसी टकराहट से बचने के लिए हम लोगों ने वारणावत में एक दूसरी राजधानी की व्यवस्था की। सोचा, युधिष्ठिर या दुर्योधन में से कोई वहाँ जाकर शासन सँभालेगा। मेरी मंशा जानकर युधिष्ठिर ने स्वयं वारणावत को चुना। इसके आगे क्या हुआ, इसे आप सब जानते हैं।”

मैंने अनुभव किया कि प्रेत सिर पर चढ़कर बोलने लगा और धृतराष्ट्र ने बड़ी समझदारी से उसके मुख पर हाथ रख दिया।

अब अंतिम बात की ओर वे बड़ी भावुकता से आए—“प्रभु की पांडवों पर बड़ी कृपा थी कि उसने हर तरह से उनकी रक्षा की। हम सबके लिए तो वे स्वर्गारोही ही हो चुके थे। पांडु के बाद पांडुवंश भी समाप्त हो चुका था।” इतना कहते-कहते उनका गला भर आया—“मैं यों ही अंधा हूँ, मेरे चारों ओर और अँधेरा हो गया था; पर भगवान् ने हमपर बड़ी दया की। हमारी पूँजी हमें सकुशल ही नहीं, मूल-ब्याज के साथ लौटा दी। पांडव अब और अधिक शक्तिशाली होकर, पांचाली से विवाह कर फिर हमारे साथ आ गए।”

इतना कहकर धृतराष्ट्र थोड़ा रुके। उन्होंने थोड़ी नाटकीयता अपनी मुद्रा पर और जमाई—“एक दिन मुझे ऐसा लगा कि मानो प्रभु का कुछ निर्देश मेरे लिए हो रहा है। मैं क्यों नहीं पांडु का सिंहासन पांडुपुत्रों को लौटा दूँ। संन्यस्त हो जाऊँ। इस अंधे जीवन से ऊब चुका हूँ। क्यों नहीं अरण्य में चलकर तपस्या करूँ!”

जनता में एक बार फिर ‘साधु-साधु’ की आवाज गूँजी। तालियाँ बज उठीं।

बलराम भैया ने धीरे से मेरे कान में कहा, “तुम्हीं नहीं नटराज हो, धृतराष्ट्र को भी नाटक करना आता है।”

धृतराष्ट्र बोलते रहे—“तब मैंने युधिष्ठिर को एकांत में बुलाकर अपनी मंशा बताई। मैंने कहा, ‘अब क्यों नहीं तुम्हारा राज्यारोहण हो जाए? तुम सिंहासन सँभालो। दुर्योधन युवराज है ही। दोनों मिलकर शासन करो और मैं अरण्य की ओर चलूँ।’ युधिष्ठिर ने मेरी बात मान ली। वह तो धर्मराज है न! उसने कभी मेरी अवज्ञा नहीं की। मेरे बच्चों ने भले ही मेरी बात न मानी हो, अपना बचपना दिखाया हो; पर युधिष्ठिर ने सदैव धर्म का पालन किया। सदा मेरी आज्ञा मानी और अपने वचन का निर्वाह किया। मेरे इस निर्णय के संबंध में भी उसने मुझसे आग्रह किया। अब मैं उसे अपने मुँह से क्या कहूँ। वह तो यहाँ बैठा ही है। आप उसीके मुँह से सुनिए।”

धृतराष्ट्र ने अपना भाषण बंद किया। स्वयं बैठ गए और युधिष्ठिर को वह सार्वजनिक रूप से कहने का आदेश दिया, जिसे उन्होंने उनसे व्यक्तिगत रूप से कहा था।

आज जैसा कूटनीति से भरा नाटकीय भाषण शायद ही धृतराष्ट्र ने अपने जीवन में कभी दिया हो। जनता गद्गद। शकुनि भी प्रसन्न और धृतराष्ट्र भी। दुर्योधन को तो मुँहमाँगा मिला। पर हर व्यक्ति की प्रसन्नता का कारण भिन्न था। पितामह कुछ और सोचकर प्रसन्न थे तथा शकुनि कुछ और। पर अभी तक यह नहीं मालूम हो सका कि धृतराष्ट्र के मन में क्या है? किंतु एक बात तो निश्चित ही थी कि आज राज्याभिषेक नहीं होगा।

महाराज के निर्देश पर भी युधिष्ठिर कुछ बोलने के लिए खड़े नहीं हुए। वे बोलने के लिए तब खड़े हुए, जब महामात्य ने कहा कि महाराज के निर्देश का पालन किया जाए।

युधिष्ठिर ने अपने संबोधन में सबके प्रति आदर व्यक्त करते हुए वही बात कही, जो प्रकारांतर से मुझे मालूम थी। उनके कथन का सारांश था कि मैंने ताऊजी की बातों को शिरोधार्य कर उनसे निवेदन किया कि अभी आप संन्यास न लें, अन्यथा शासन में मेरा निर्देश कौन करेगा? मैं तो अक्षरशः वही करूँगा जैसा महाराज का आदेश होगा।

युधिष्ठिर के मुख से इतना निकलते ही कौरव और उनके शुभचिंतक साधु-साधु कहते हुए एकदम खड़े हो गए। सामान्य जनता यह न समझ पाई कि यह क्या हो रहा है। पितामह महामात्य की ओर देखते रह गए और महामात्य मेरी ओर।

अवसर मिलते ही शकुनि उठ खड़ा हुआ—“हम लोग युधिष्ठिर के इस निर्णय का स्वागत करते हैं। उन्होंने महाराज के प्रति अपनी आस्था व्यक्त कर सचमुच धर्मराज होने का परिचय दिया है। अब महाराज को सोचना है कि एक म्यान में क्या दो तलवारें रह सकती हैं? कौरव और पांडव एक ही सिंहासन पर से क्या समान रूप से शासन कर सकते हैं? मैं दिखावटी और आदर्श की बातें नहीं करता। मैं यथार्थ के स्तर पर सोचता हूँ। आज पांडवों और कौरवों के बीच स्पष्ट दूरियाँ हैं। उसका समाधान क्या है? ऐसी परिस्थिति में महाराज क्या सोचते हैं?”

मुझे लगा कि अब तक का सारा नाटक शकुनि की इच्छा के अनुसार ही हुआ है, इसीलिए वह नेपथ्य से बाहर आया और अपनी भूमिका आरंभ की।

शकुनि का समर्थन अब कर्ण ने भी किया। महाराज बड़े संकोच के साथ उठे। सारी सभा एक बार फिर सन्नाटे के रूप में बदल गई। एक विचित्र सन्नाटा, जिसकी हर दृष्टि महाराज की आकृति पर लगी थी।

अब महाराज चारों ओर देखकर कसमसाते हुए खड़े हुए। उन्होंने सोचित संबोधन के बाद कहा, “मेरे सामने यह प्रश्न खड़ा किया गया है। यह प्रश्न नया नहीं है। मैं बराबर इस प्रश्न से जूझता रहा हूँ। मैंने इसका समाधान भी निकाला था; पर दैवयोग से वह असफल हुआ। इसीलिए मैंने सोचा, आज प्रजाजनों के बीच ही इसका हल ढूँढ़ा जाएगा। इसीसे आज प्रिय युधिष्ठिर के राज्यारोहण का संकल्प लेने के बाद भी मैंने राज्याभिषेक की कोई व्यवस्था नहीं कराई; क्योंकि इस बार मैं जल्दी करने के पक्ष में नहीं था।”

“आपने क्या समाधान दिया था, जो असफल हुआ?” यह आवाज चारुदेष्णा की थी, जो कौरवों के बीच ही बैठा था।

महाराज बोले, “मेरा समाधान स्पष्ट था। मैं चाहता था कि पांडवों के लिए एक अलग राजधानी बनाई जाए और आधा राज्य उन्हें दे दिया जाए। इसीलिए हमने वारणावत को चुना था। पर क्या कहूँ, हमारा दुर्भाग्य ही वहाँ ज्वालामुखी हो गया।” इतना कहते-कहते फिर नाटकीयता उनके गले में भर गई। उन्होंने आगे बोलना आरंभ किया—“अब मैं राजभवन अलग से स्वयं बनवाने के चक्कर में नहीं पड़ता। अब मैं आधा राज्य उन्हें दे दूँगा। वे जहाँ चाहें, अपनी राजधानी बनाएँ। दो तलवारों के लिए दो म्यान दे दूँ। उनकी व्यवस्था जैसी ये लोग चाहें वैसी करें।”

“महाराज स्वयं अपने वचन से उलट रहे हैं।” मेरी बगल में बैठा चंद्रसेन बुदबुदाया—“राज्य के विभाजन का इन्हें क्या अधिकार है? राम की पादुका की तरह सिंहासन की रक्षा करनेवाले पादुकाओं को ही बाँटने लगे। यह युधिष्ठिर के अधिकार को बाँटना नहीं है।”

पर पूर्व महापौर अपने स्थान पर ही बुदबुदाकर रह गया। वह खड़ा होकर कुछ कह नहीं पाया।

मैंने पांडवों की ओर देखा, सबके सब उदास बैठे थे। द्रौपदी प्रपितामही से कुछ कहती हुई अवश्य दिखाई पड़ी।

इसी बीच महाराज बोल पड़े—“मैं सोचता हूँ, यमुना के उस पार खांडवप्रस्थ का भू-भाग पांडवों को दे दूँ। वे अब अपनी राजधानी स्वयं बनावें।”

मुझे आश्चर्य था कि इस सूचना का पितामह ने बड़ी प्रसन्नता से स्वागत किया। वे खड़े होकर 'साधु-साधु' कहते हुए बड़े उत्साह में तालियाँ बजाने लगे। अभी तक जो व्यक्ति पांडवों के पक्ष में था, वह अचानक कैसे बदल गया?

पितामह द्वारा प्रसन्नता व्यक्त करते देखकर आधी से अधिक जनता भी प्रसन्न होते दिखाई दी। लगता है, भीम से रहा नहीं गया। वह उठकर खड़ा हो गया। कुछ बोले, इसके पहले ही मैं तड़पा—“आप चुपचाप बैठ जाइए! आपकी ओर से जो कहना था, वह धर्मराज कह चुके हैं। अब उनके वचन का निर्वाह करना आपका धर्म है।” मेरे इतना कहते ही अर्जुन ने उन्हें हाथ पकड़कर खींचा और भीम बड़बड़ाता हुआ बैठ गया। उधर कौरव पक्ष के लोगों ने मेरे पक्ष में नारे लगाए।

मेरे मन ने कहा, अब तो नाटक समाप्त ही होने वाला है, क्यों नहीं मैं अपनी भूमिका आरंभ करूँ। मैं उठ खड़ा हुआ। मैंने कोई लंबा संबोधन या अपने भाषण की प्रस्तावना प्रस्तुत नहीं की। सीधे-सीधे मैंने कहा, “मैं नहीं जानता कि इस पारिवारिक प्रपंच में मुझे पड़ना चाहिए या नहीं।”

“तुम परिवार के बाहर के थोड़े ही हो।” यह आवाज प्रपितामही की थी।

इससे मुझे बड़ा बल मिला। कौरव पक्ष, जो मेरे भाषण में टोका-टाकी करता, वह चुप रह गया। प्रजा के साथ ही राजकीय वर्ग पर इसका अनुकूल प्रभाव पड़ा। सबने बड़ी गंभीरता से मुझे सुना। मैं कहता गया—“जो कुछ महाराज को निर्णय करना था, वह तो उन्होंने कर दिया। पांडवों को भी धर्मराज द्वारा दिए गए वचन का पालन करते हुए महाराज का निर्णय शिरोधार्य करना चाहिए। खांडवप्रस्थ के विषधरों से भरे अरण्य में अपनी राजधानी बनानी चाहिए।” कौरव पक्ष तो इतने से ही मेरी जय-जयकार कर उठा। अब मैंने भीम की ओर देखा और बोला, “मेरे बड़े भाई भीम के मन में भी शंका उठनी स्वाभाविक है। वे सोचते हैं कि बनी-बनाई परंपरा से चली आई राजधानी हस्तिनापुर तो कौरवों को मिली और खांडवप्रस्थ का उजाड़ जंगल हमें, तो यह कहाँ का न्याय है? यदि कौरव ही हस्तिनापुर छोड़कर खांडवप्रस्थ चले जाएँ, तो कैसा हो? पर वे जाएँगे नहीं; क्योंकि खांडवप्रस्थ का बड़ा मीठा अनुभव मामाजी ले चुके हैं। (मैंने जानबूझकर इस विषय में दुःशासन का नाम नहीं लिया) भीम तो यहाँ तक सोचते हैं कि भैया की वचनबद्धता से ताऊजी ने भरपूर लाभ उठाने की चेष्टा की।”

इतना कहते ही शकुनि को सौँप सूँघ गया। उसकी निगाह धरती में गड़ गई। महाराज भी अत्यधिक गंभीर हो गए। उन्हें लगा कि उनकी सारी नाटकीयता पर पानी फिर गया। सभा में भी एक विचित्र सुगबुगाहट जान पड़ी।

अब मेरे भाषण ने फिर करवट बदली। मैंने कहा, “भाई भीम के कथन के औचित्य पर किसीको शंका नहीं हो सकती। लोग यह भी कह सकते हैं कि महाराज का निर्णय पुत्र के ममत्व में स्वार्थ की बलि चढ़ गया; पर मेरे विचार से महाराज ने इस निर्णय में बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया है। उनका निर्णय पांडवों के सामर्थ्य और शक्ति का आकलन कर किया गया है। लाक्षागृह की अग्नि की ज्वालाएँ भी जिन्हें निगल नहीं पाई, जो घनघोर जंगल में भी मंगल मनाते रहे, आर्यावर्त और उसके बाहर के सभी राजाओं को द्रौपदी स्वयंवर की स्पर्धा में जिनके पराक्रम ने परास्त किया, वे ही खांडवप्रस्थ में अपनी राजधानी बना लेने में समर्थ भी हो सकते हैं। मैं यह नहीं कह सकता कि ऐसा सामर्थ्य कौरवों में नहीं है। पर हो सकता है, महाराज को अपने पुत्रों का यह सामर्थ्य दिखाई ही न पड़ा हो। इसमें उनका नहीं वरन् उस क्रूर नियति का दोष है, जिसने उन्हें देखने योग्य बनाया ही नहीं।”

मेरे व्यंग्य पर कौरव तिलमिला जा रहे थे। वृद्धजन भी अत्यधिक गंभीर लगे। पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि तो एकटक मेरी ओर देख रहे थे। उनकी जिज्ञासा केवल यह निहार रही थी कि मेरे कथन की मंशा का ऊँट किस करवट बैठता है। लगभग सारी जनता की दृष्टि मेरी ओर थी और मैं केवल शकुनि की ओर देख रहा था।

क्षण-क्षण उसकी आकृति का बनता-बिगड़ता रंग मुझे और उत्साहित कर रहा था। मेरा उद्देश्य सारे षड्यंत्र को जनता के सामने नग्न कर देने का था, जिससे महाराज और कौरव इतना हतप्रभ हो जाएँ कि मैं उनकी गिरी हुई मनोदशा का लाभ उठाकर अधिक-से-अधिक लाभ पांडवों को दिला सकूँ।

मैं बोलता गया—“मैं महाराज की दूरदर्शिता की प्रशंसा करता हूँ और विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे जैसा अकिंचन व्यक्ति, जरासंध के रण से भागा हुआ रणछोड़ जब सुदूर पश्चिम में जाकर समुद्र में अपनी राजधानी बना सकता है, तब पांडवों को भी खांडवप्रस्थ में अपनी राजधानी बनाने में कोई परेशानी नहीं पड़ेगी।”

“पड़ेगी या नहीं, इसे तो भविष्य बताएगा।” शकुनि की ओर से टोका-टाकी शुरू हुई।

मैंने तत्क्षण कहा, “मामाजी खांडवप्रस्थ से डरे हुए, काफी डरे हुए मालूम पड़ते हैं।”

साँप के फन पर मारी गई पहली लाठी सटीक पड़ी। पितामह की हँसी फूटकर बाहर आई और बहुतों की तो भीतर ही रह गई।

मैं बोलता गया—“पर राजधानी ही बना लेने मात्र से कोई राज्य नहीं बनता। राजधानी तो राज्य के सात अंगों में मात्र एक है। इस ओर भी महाराज को सोचना चाहिए। जब उन्होंने राजधानी बाँटी तो राज्य के अन्य शेष छह अंगों का भी उन्हें बँटवारा कर देना चाहिए। आधा कोष भी पांडवों को देना चाहिए। आधी सेना भी पांडवों को देनी चाहिए और आधी प्रजा भी। जब मैं मथुरा से द्वारका की ओर गया था, तब अपनी प्रजा लेता गया था। बँटवारा तो पितामह और महामात्य का भी होना चाहिए; पर इन्हें काटकर आधा तो किया नहीं जा सकता है।” मैंने हँसते हुए कहा। मेरी हँसी के साथ ही सभा भी हँस पड़ी।

इसी बीच जैसे भूकंप-सा आ गया। प्रपितामही सत्यवती द्रौपदी और कुंती के कंधों के सहारे खड़ी हो गई। मैं तुरंत बैठ गया। वे बोलीं, “और मैं? द्वारकाधीश ने बड़ी कृपा कर मुझे नहीं बाँटा; पर मैं उसी समय बँट गई, जब धृतराष्ट्र ने हस्तिनापुर साम्राज्य को दो भाइयों में बाँट दिया।” फिर वह क्षण भर के लिए रुकीं और बोलीं, “मैं तो यही कह रही हूँ कि जो भी बाँटते हो बाँटो, पर पूरी ईमानदारी से। इसके बाद भी मेरा एक आग्रह, केवल एक आग्रह कि बँटने के बाद भी दोनों भाई यही सोचना कि हम एक ही शरीर के अंग हैं, जो बँटे हैं, कटे हैं। यदि ऐसा सोचोगे तो कटे अंग तुम जुड़ भी जाओगे।” उन्होंने बड़ी भावुकता से कहा, “मत्स्य कन्या थी। राजमाता हुई, पितामही हुई और आज प्रपितामही हूँ; किंतु यह सब न होकर यदि मैं जरा नाम की राक्षसी होती और एक शरीर के दोनों टुकड़ों को मैं जरासंध की तरह जोड़ पाती तो शायद अधिक भाग्यशाली होती।”

‘साधु-साधु’ की गगनभेदी आवाज भीड़ से फूट पड़ी।

प्रपितामही बोलती गई—“पर नियति के सामने मनुष्य बहुत छोटा होता है। मैं भी नियति के समक्ष बहुत छोटी हूँ। उसे शीश झुकाती हूँ और प्रार्थना करती हूँ कि हृदय के ये दोनों टुकड़े सकुशल रहें, संपन्न रहें; फूलें-फलें।”

आप विश्वास नहीं करेंगे, सभा की मुद्रा ही जैसे बदल गई। मेरा काम जैसे हलका हो गया। न चाहते हुए भी महाराज ने कोष बाँट दिया। सेना बाँट दी और प्रजा के संबंध में कहा, “मैं प्रजा को कैसे रोक सकता हूँ! जो लोग पांडवों के साथ जाना चाहेंगे, वे तो जाएँगे ही।”

“तब तो अधिकांश धर्मराज के साथ ही जाना चाहेंगे। अधर्मराज के साथ कौन रहेगा!” चंद्रसेन बोला तो बहुत धीरे से, पर कुछ लोगों ने उसे सुन लिया और हँस पड़े। मैंने उसे समझाया कि इस समय कुछ भी बोलने की जरूरत नहीं, नहीं तो बना-बनाया काम बिगड़ सकता है।

मुझे आशंका थी कि पासा उलटा पड़ते देखकर कहीं शकुनि धृतराष्ट्रपुत्रों को उभाड़ न दे और वे हड़कंप करके सभा भंग न कर दें। फिर भी उसने दुःशासन को उभाड़ा ही।

दुःशासन ने कहा, “पांडवों के पास पांचाल की आधी सेना और बहुत सारी संपत्ति है ही। उन्हें हमारी संपत्ति क्यों दी जाए?”

“उन्हें तुम्हारी संपत्ति कहाँ दी जा रही है? वे पैतृक संपत्ति में से अपना भाग पा रहे हैं।” इस बार पितामह बोले, “और पांचाल द्वारा प्राप्त सेना तथा संपत्ति उनकी अपनी अर्जित है। तुम लोगों के ससुरालों की मिली संपत्ति में से एक निष्क भी पांडवों को नहीं दिया जाएगा। फिर भी तुम एक सौ एक हो और वे केवल पाँच हैं। इस गणित से तुम्हारी निजी संपत्ति उनसे बीस गुना होगी।”

यह सब प्रपितामही के रुख का प्रभाव था कि कभी खुलकर सामने न आनेवाले पितामह भी इस बार खुलकर सामने आ गए थे।

अब मुझे मौका मिला। मैंने कहा, “आप लोग क्या समझते हैं! खांडवप्रस्थ में राजधानी बनाना कोई हँसी-खेल है क्या? कितनों को उखाड़ना पड़ेगा, कितनों से लड़ाई लेनी पड़ेगी। पूरा-का-पूरा प्रदेश जंगली है। उसे समतल और व्यवस्थित करना पड़ेगा। हो सकता है, उसमें अकूत धन की आवश्यकता पड़े। एक व्यक्ति की वचनबद्धता यदि ऐसी स्थिति पैदा कर सकती है कि उसे बड़ी सहजता से उखाड़कर जंगल में फेंक दिया जाए, तो ऐसे उपेक्षित और उखड़े लोगों को बसाना हर भले मनुष्य का कर्तव्य है।”

“तो दे क्यों नहीं देते अपने कोष से?” पहली बार दुर्योधन बड़े आवेश में बोला।

मैंने मुसकराते हुए कहा, “अग्रजश्रेष्ठ, इस संदर्भ में मुझे आपके निर्देश की आवश्यकता नहीं है। हमने तो निश्चय कर लिया है कि हमें भी कुछ-न-कुछ पांडवों को देना पड़ेगा। हम दोनों भाई मिलकर इसका निश्चय करेंगे कि हम द्वारका के राजकोष का कितना भाग उन्हें सहायता में दें।”

एक बार फिर मेरे लिए लगाए गए जय-जयकार से आकाश गूँज उठा।

“हम लोगों के अभिनंदन कार्यक्रम का क्या होगा?” पूर्व महापौर चंद्रसेन बोला, “हमारे साथी बहुत कुछ उपहार में भी लाए हैं।”

“अब इसका अवसर तो नहीं रहा।” मैंने चंद्रसेन से कहा, “तुम अब इतना ही कर सकते हो कि घोषणा करो कि जनता की ओर से पांडवों का सार्वजनिक अभिनंदन अब हम बाद में करेंगे।”

चंद्रसेन ने तुरंत उठकर घोषणा की। वह मेरे कथन से भी कई पग आगे बढ़ गया। उसने कहा, “महाराज की अनुमति से पांडवों के राज्यारोहण के समय हम लोग प्रजा की ओर से उनका अभिनंदन करने वाले थे; पर अभी राज्याभिषेक तो हो नहीं रहा है। अतएव हम लोग भी अभिनंदन का यह कार्यक्रम स्थगित करते हैं। अब यह कार्यक्रम उस समय होगा, जब नई राजधानी में हमारे अभिनव प्रह्लादों का राज्याभिषेक होगा।”

सभा में एक बार फिर कोलाहल मचा। पूर्व महापौर के निर्णय का प्रजा ने खुलकर स्वागत किया। परिस्थिति एकदम कौरवों के हाथों से निकल चुकी थी। महाराज ने स्वयं अनुभव किया। उन्होंने महामात्य को बुलाकर सभा समाप्त करने का आदेश दिया और विदुरजी ने सबको धन्यवाद देते हुए वैसा ही किया।

सभा समाप्त हो गई। अचरज था कि धृतराष्ट्र का एक भी बेटा आज मुझसे मिलने नहीं आया। मैं प्रजा के बीच ही उनके सम्मान और अभिवादन से घिरा था। भीम उस भीड़ में धक्का-मुक्की करते हुए मेरे पास आया। पर मैंने उसे यह कहकर लौटा दिया कि फिर मिलना तो बातें होंगी।

सबके अभिवादन का उत्तर देता हुआ मैं किसी तरह भीड़ से बाहर आया और अपने रथ की ओर बढ़ा कि पीछे से आवाज आई—“जरा सुनिंगा।”

मैंने पीछे मुड़कर देखा, ‘अरे, यह तो छंदक है।’ मुझे शांति भी हुई कि मैं इसे अपने साथ आयोजन में नहीं लाया

था। उसके साथ एक बहुत ही बूढ़ा और जुलजुल व्यक्ति था।

मैं अपनी ग्लानि मिटाते हुए बोला, “तुम कहाँ थे जी? इतना बड़ा कांड हो गया और तुम अँधेरी रात में श्याम गाय की तरह अदृश्य रहे।”

“अदृश्य भले ही था, पर था।” वह बोला और बूढ़े को दिखाकर पूछा, “आप इन्हें पहचानते हैं?”

बूढ़ा एकदम मेरे चरणों पर गिर पड़ा। मैंने उसे वक्ष से लगाया भी; पर पहचान नहीं पाया।

छंदक ने बताया—“यह मथुरा का लोहिता है। इसने सुना कि आप हस्तिनापुर आए हैं तो यह दर्शनार्थ चला आया।”

“मथुरा में आपने मुझसे बहुत से अस्त्र बनवाए थे।” बूढ़ा बोला।

“हाँ-हाँ, याद आया, लोहिता।” मैं हँसते हुए बोला, “कितने बूढ़े हो गए हो, लोहिता! पर क्या करोगे? काल किसीको भी नहीं छोड़ता। मुझे भी नहीं छोड़ेगा।”

इसके बाद उसने एक निषंग मेरी ओर बड़ी श्रद्धा से बढ़ाया और बोला, “इसे आपके लिए लाया हूँ। इसमें पाँच अग्निबाण हैं। अभिमंत्रित हैं। जब ये चलाए जाएँगे तो अग्नि की ऐसी वर्षा होगी, जिसे इंद्र के मेघ भी बुझा नहीं सकते।”

“पर मैं तो चक्र और बाँसुरीवाला व्यक्ति हूँ।” मैंने हँसते हुए कहा, “यह किसी धनुर्धर को दिया जाता तो अधिक काम आता।”

मैंने देखा कि बूढ़े की झुर्रियों भरी आकृति पर निराशा का अँधेरा छा गया।

मैंने तुरंत कहा, “पर मैं इन बाणों के लिए धनुष भी चलाऊँगा।”

मैं भी हँसा और वह भी।

“मथुरा का क्या हाल है?”

“आपके आने के बाद वह प्राणहीन हो चुकी है।” वह बोला, “आपको देने के लिए कुब्जा ने, जिसे आपने सुंदरी बना दिया था, नवनीत दिया था; पर वह मार्ग में ही गल गया। उसके लिए आप क्षमा करें।”

“पर वह तो मुझे मिल गया है।” मेरे कथन को मेरी मायावी हँसी ने और भी मायावी बना दिया।

“आपको मिल गया!” उसका आश्चर्य अब मुझमें साक्षात् ईश्वरत्व देख रहा था। मैंने पुनः कहा, “श्रद्धा और भक्ति से प्रदान की हुई हर वस्तु मेरे पास चली ही आती है।”

“धन्य हो, प्रभु! तुम्हारी लीला अपरंपार है।” वह सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए बोला।

वस्तुतः स्वयं पर ईश्वरत्व स्थापित करने के लिए यह बात मैंने उससे नहीं कही थी, वरन् उस नवनीत के पिघल जाने से वह इतना दुःखी लगा कि उसे प्रसन्न करने के लिए मुझे यह कहना पड़ा। मैं अपने प्रति किसीकी श्रद्धा, विश्वास को आघात नहीं पहुँचने देता। यही मेरे व्यक्तित्व की विवशता भी है और विशेषता भी।





## आठ

युधिष्ठिर अभी सिंहासन पर बैठे नहीं कि सिंहासन विभाजित हो गया। राज्य विभाजित हो गया। एक योजनाबद्ध तरीके से उनकी वचनबद्धता का महाराज ने लाभ उठाया। पर उस दिन बानक कुछ ऐसा बना कि भरी सभा में कौरवों की मंशा नंगी हो गई। उनकी सारी राजनीति धूल-धूसरित हो गई। इसी बीच खांडवप्रस्थ की अभिचार क्रिया का मुँह-ही-मुँह खूब प्रचार हुआ। प्रजा की घृणा की अँगुली फिर शकुनि और कौरवों पर उठने लगी। जनमानस में लाक्षागृह की आग का धुआँ अब भी मँडरा रहा था। ये सारी घटनाएँ उससे जुड़ती चली गईं। लोगों ने समझ लिया कि कौरवों की नीयत न पहले साफ थी और न आज साफ है।

जनता ने उस दिन की मेरी भूमिका की बड़ी सराहना की। चंद्रसेन ने तो यहाँ तक कहा कि यदि आपने पतवार न सँभाली होती तो आज पांडवों की नाव डूबी ही थी। पर कौरव मुझसे काफी अप्रसन्न थे। उनकी दृष्टि में सारे झगड़े की जड़ मैं ही था। यदि मैं उस समय हस्तिनापुर में न होता तो शकुनि के हाथ से फेंका पासा कभी असफल न जाता। छंदक से विकर्ण ने मेरी बड़ी प्रशंसा की थी। उसके शब्द थे—‘मामा का तो कुचक्र था कि बिना कुछ लिये-दिए पांडवों को खांडवप्रस्थ भेज दिया जाए, जैसा कभी उन्होंने उन्हें वारणावत भेजते समय किया था; पर कन्हैया के रहते उसका सारा सपना धूल में मिल गया। उस दिन सभा में बस एक ही व्यक्तित्व छाया रहा।’

छंदक ने बड़ी योग्यता से मेरी ही वाणी दुहराई—“यह सब तो होना ही था। द्वारकाधीश तो केवल निमित्त मात्र बने।”

किंतु मैं समझता हूँ कि उस दिन सबसे प्रभावशाली भूमिका प्रपितामही की थी। प्रारंभ में ही यदि उन्होंने मुझे अपने परिवार का न माना होता तो मैं कौरवों की टोका-टाकी में वह प्रभाव उत्पन्न न कर पाता, जो मेरे भाषण ने उस दिन किया। फिर विभाजन का विरोध करते हुए भी उन्होंने किस चातुरी के साथ उसके समर्थन की विवशता बताई और इस कार्य में पूरी ईमानदारी के निर्वाह का आग्रह ही नहीं किया वरन् आदेश दिया, वह बड़ा ही कौशलपूर्ण था। पांडवों का भाग्य था कि मेरा कार्य सरल हो गया।

उस दिन मैं सभा समाप्त होते ही भीड़ से घिर गया था, अन्यथा मेरा मन था कि मैं सीधे प्रपितामही के पास चलूँ और कहूँ कि आप तो अविभाजित हैं। किसमें साहस है कि आपका वात्सल्य बाँट दे। पर मैंने देखा कि वे शीघ्र ही सभामंडप से बाहर जा चुकी हैं।

मुझे सबसे अधिक आश्चर्य था तो पितामह की भूमिका पर। वे विभाजन पर इतने प्रसन्न क्यों थे? बाद में उनका जो रुख बदला, वह प्रपितामही के वक्तव्य से। प्रजा भी उनसे बहुत प्रसन्न नहीं दिखी। मेरी इच्छा हुई कि मैं इस विषय में पितामह के यहाँ चलकर पूछूँ। क्यों नहीं मैं महात्मा विदुर को भी साथ लेता चलूँ? जो होना था, वह तो हो ही चुका है। विदुरजी को साथ चलने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए। मैंने उनसे निवेदन किया।

उन्होंने कहा, “चलने को तो मैं चल सकता हूँ, पर मेरे सामने शायद वे खुलकर बातें न करें। आप अकेले और अचानक पहुँचिए और सीधा प्रश्न कीजिए। देखें, वे क्या उत्तर देते हैं!”

फिर विदुरजी ने कुछ सोचते हुए कहा, “हर प्रश्न के गर्भ में भी कई प्रश्न छिपे रहते हैं। यदि उनका पूर्व उद्घाटन कर दिया जाए तो आगे पैदा होनेवाली समस्याओं से बचा जा सकता है।”

“आपका तात्पर्य?” मैंने पूछा।

“यदि आज कोई पांडवों से हस्तिनापुर छोड़ने को कहे तो वे कहाँ रहेंगे? इतनी जल्दी वे क्या व्यवस्था करेंगे?”

“क्या उनसे अभी हस्तिनापुर छोड़ने के लिए कहा जा सकता है?” मैंने साश्चर्य पूछा।

“क्यों नहीं कहा जा सकता?” विदुरजी बोले, “जैसी परिस्थिति पैदा हो रही है, उसे देखते हुए तो उन्हें यथाशीघ्र हस्तिनापुर छोड़ देना चाहिए; चाहे कोई कुछ कहे या न कहे।”

सचमुच विदुरजी ने एक गंभीर समस्या की ओर संकेत किया। अब तो मेरा पितामह के पास जाना अनिवार्य हो गया।

मैं यथाशीघ्र विदुरजी के आवास से निकला। दारुक को आदेश दिया कि पितामह निवास पर चले। पर सोचा, अभी तो पितामह पूजन पर से उठे न होंगे। मैंने रथ अतिथिभवन की ओर मुड़वाया; क्योंकि पूर्वाह्न और अपराह्न मेरा वहाँ रहना आवश्यक होता है। बहुधा लोग इसी समय मुझसे मिलने आते हैं।

“अब आपको यहीं रहना चाहिए।” पहुँचते ही छंदक ने कहा।

“क्यों?”

“क्योंकि इधर आपसे मिलनेवालों की संख्या बहुत बढ़ गई है।” छंदक ने बताया—“उनमें वे अधिक हैं, जो पांडवों के साथ जाना चाहते हैं। उनका सीधे-सीधे कहना है कि धर्मराज के राज्य में ही रहना उचित है। अधर्मराज के शासन में कौन रहेगा।”

“तो तुम मेरी ओर से उत्तर दे दिया करो।”

“पर वे आपसे ही उत्तर चाहते हैं।”

“तुम तो मेरी प्रतिमूर्ति हो।”

“इसे आप कहते हैं न, वे नहीं जानते।” उसने कहा, “और मैं भी नहीं मानता। मैं आपकी छाया हो सकता हूँ, प्रतिमूर्ति नहीं।”

बातें चल ही रही थीं कि भीम के साथ बलंधरा आ गई। वह मुझे उस दिन की भूमिका के लिए बधाई देने आई थी। बड़ी प्रसन्न थी।

मुझे भी परिहास सूझा—“अब लगता है, एक बँटवारा और होगा।”

“किसका?”

“तेरा।” मैंने हँसते हुए कहा, “तू आधी काटकर हस्तिनापुर रहेगी और आधी अपने मित्र भीमसेन के साथ जाएगी।”

“कहीं प्रेम का भी बँटवारा होता है!” वह बड़े विश्वास के साथ बोली, “बलंधरा जहाँ भी जाएगी, पूरा-का-पूरा जाएगी।”

उससे मुझे ऐसे उत्तर की आशा नहीं थी।

इस उत्तर पर भीम भी हँस पड़ा और छंदक भी। हार स्वीकार करनेवाली मुसकराहट मेरे भी अधरों पर उभर आई। मैंने कहा, “इस उत्तर के लिए तो तुम्हें मोदक खिलाना चाहिए; पर इस समय मैं जल्दी में हूँ।” बाहर निकलने के पहले मैंने छंदक से कहा, “अब मिलनेवालों को अपराह्न ही बुलाना।”

मैं सीधे पितामह आवास की ओर बढ़ा। पर मेरी गति बड़ी मंद थी; क्योंकि मैं जिधर भी जाता उधर मुझे लोग घेर लेते। चरण छूते, जय-जयकार करते। मैं सबके अभिवादन का उत्तर देता धीरे-धीरे बढ़ता रहा। ऐसा लग रहा था कि मैं कहीं का विजेता भले ही न होऊँ, पर हस्तिनापुर का नेता तो हूँ ही।

जब मैं पितामह के आवास पर पहुँचा, सूर्य आकाश पर चढ़ने लगा था। यहाँ के द्वारपाल और प्रहरी मुझे जानते

ही थे। उन्होंने अभिवादन के साथ मेरा मार्गदर्शन किया। जब मैं अंतरंग कक्ष की ओर बढ़ा और कंचुकी (अंतरंग कक्ष का प्रहरी) मेरे निकट आया, तब मुझे उसको सहेजकर वे द्वारपाल लौट गए।

पितामह पूजा से उठकर जलपान कर रहे थे। मधुमिश्रित दुग्ध ही उनका स्वल्पाहार था। उन्होंने स्वर्ण पात्र में मेरे लिए भी वही मँगवाया और लगे मेरी प्रशंसा करने—“उस दिन का तुम्हारा प्रदर्शन तो अद्भुत था! यदि तुम न होते तो पांडवों की नाव डूबी ही थी।”

“मेरे न रहने पर भी आप लोग तो रहते ही।” मैंने कहा, “ऐसे कैसे पांडवों की नाव डूब जाती!”

पितामह एकदम मौन हो गए। उनके मौन रहने में उनके व्यक्तित्व की असमर्थता और निरीहता दिखी।

मौन के इस अंतराल को लंबा होते देखकर सीधे-सीधे मैं अपने मुख्य प्रश्न पर आया—“मेरी एक जिज्ञासा है।” “हाँ-हाँ, कहो।”

“उस दिन जब महाराज ने राज्य के बँटवारे की बात कही थी, तब आपने बड़ी प्रसन्नता से उसका समर्थन किया था। हम सब उसे देखकर चकित रह गए थे। कई लोगों ने मुझसे पूछा कि आखिर पितामह ने ऐसा क्यों किया?”

उनकी आकृति पर गंभीरता की एक तह और चढ़ गई। फिर वे सोचते हुए बोले, “तुम लोगों का चकित होना स्वाभाविक है। वस्तुतः मैं व्यास की भविष्यवाणी से बहुत डरा हूँ। एक दिन इस विषय पर मैंने आचार्य धौम्य से भी बातें की थीं। उनका भी कहना था कि पांडवों के ग्रह ठीक नहीं हैं। किसी भी समय कुछ भी हो सकता है। फिर तुम देख ही रहे हो कि लाक्षागृह की आग अब भी धुआँ उगल रही है। खांडवप्रस्थ की घटना अभी ताजा है। हस्तिनापुर का राजभवन पांडवों के विरुद्ध षड्यंत्र का केंद्र बना हुआ है। राजा अंधा है और पट्टमहिषी ने आँखों पर पट्टी बाँध रखी है। बस एक की ही आँखें इस समय सक्रिय हैं और उन्हींसे सब देखते हैं।”

जानते हुए भी मैंने प्रश्न किया—“वे आँखें किसकी हैं?”

“शकुनि की।” उन्होंने बेहिचक कहा और फिर गंभीर रूप से चुप हो गए।

“फिर आप तटस्थभाव से उसे देखते क्यों रह जाते हैं? शकुनि का उपचार क्यों नहीं करते?”

“मैं क्या कर सकता हूँ! चारों ओर गुप्तचरों से घिरा हुआ किसी तरह जीवन के दिन ढकेल रहा हूँ; क्योंकि अभी मैं मरना नहीं चाहता वरन् उन भयानक क्षणों का साक्षी बनना चाहता हूँ, जिनकी ओर व्यासजी ने संकेत किया है।”

मैंने देखा, पितामह की महानता भी निरीहता के प्रकोष्ठ में किस तरह अपना सम्मान बचाए जी रही है। मैंने कोई टिप्पणी नहीं की। केवल इतना पूछा, “क्या आप समझते हैं कि महाराज को सिंहासन बाँट देने का अधिकार था?”

उनका चिंतन फिर गंभीर हो गया।

मैं बोलता गया—“जब वह सिंहासन पांडु का था तब राज्य शास्त्र के नियमों और परंपरा के अनुसार पांडवों को मिलना चाहिए। महाराज धृतराष्ट्र को उसे विभाजित करने का क्या अधिकार था?”

“तुम ठीक कहते हो, कन्हैया; पर महाराज के पुत्रों की सत्तालोलुपता कुछ भी करने को तैयार थी। इसलिए झगड़ा टालने की दृष्टि से विभाजन के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था।”

“झगड़ा टालना और बात है तथा उसे समाप्त करना और बात है।” मैंने कहा, “टाला हुआ झगड़ा पुनः खड़ा हो सकता है और विभिन्न रूपों में खड़ा हो सकता है; पर समाप्त हुआ झगड़ा समाधि से उठकर खड़ा नहीं होगा।”

“पर यह झगड़ा समाप्त होने का नहीं।” पितामह बोले।

“तब इस विभाजन से क्या लाभ और इसका औचित्य क्या?” मैंने पूछा, “पांडवों की नई राजधानी खांडवप्रस्थ बन जाने के बाद क्या कौरवों की सत्तालोलुपता और उनका अहंकार समाप्त हो जाएगा? क्या शकुनि अपना दाँव खेलना छोड़ देगा?”

“चेष्टा तो यही की जाएगी।” निरुत्तर पितामह ने झेंप मिटाते हुए कहा।

मन ने कहा कि चेष्टारत व्यक्ति निरपेक्ष द्रष्टा नहीं होता, वह प्रत्यक्ष भागीदार होता है; पर मैं कुछ बोला नहीं। मन-ही-मन पितामह की निरीहता को कोसता रहा।

उन्हें भी आज मेरी उपस्थिति काफी बोझिल-सी जान पड़ रही थी। उन्होंने विषय से एकदम हटकर बात उठाई —“मनुष्य चाहे रहे या न रहे, पर मनुष्य के चरित्र की सुगंध तो रहती है। अब देखिए, पांडव इतने दिनों तक हस्तिनापुर में नहीं रहे। अब जब उनके साथ जाने का प्रश्न आया तो लगता है, सारी प्रजा ही उनके साथ जाना चाहती है। सब धर्मराज के साथ हैं, अधर्मराज के साथ कोई नहीं।”

मन में आया कि कह दूँ, आप तो नहीं जा रहे हैं; पर मैंने अपने को रोका और बहुत सँभालकर बोला, “आपके यहाँ रहते यह अधर्मराज कैसा?”

“तुम सब जानते हुए, कन्हैया, न जानने की कैसी बातें कर रहे हो!” इस बार उनकी विवशता जैसे हाथ जोड़कर खड़ी हो गई थी।

मैंने अब इस संदर्भ में उन्हें छेड़ना उचित नहीं समझा। मैंने पूछा, “अब पांडवों के लिए आपके क्या आदेश हैं?”

“अब आदेश क्या! जो कुछ होना था, वह तो हो चुका।”

“वह तो ठीक है।” मैंने कहा, “मेरे पूछने का तात्पर्य कुछ और है। खांडवप्रस्थ में राजधानी बनाने में तो पांडवों को वर्षों लग जाएँगे। इस बीच वे कहाँ रहें? अब क्या हस्तिनापुर के राजभवन में उनका रहना उचित होगा?”

पितामह फिर सोच में पड़ गए।

“अब यहाँ रहना उचित तो नहीं है; पर यहाँ से उन्हें जाने को भी कोई नहीं कहेगा। यदि कोई कहना भी चाहे तो जनता के दबाव से वह कहने का साहस भी नहीं करेगा।”

“जाने के लिए तो कोई नहीं कहेगा; पर शकुनि ऐसी स्थितियाँ प्रतिदिन उत्पन्न करता रहेगा कि पांडव यहाँ से छोड़कर चले जाएँ।” मैंने कहा।

अब उन्होंने एक नई बात बताई—“हमारी प्राचीन राजधानी खांडवप्रस्थ में ही थी। हमारा राजभवन वहाँ यमुना के किनारे है। वह अब भी बहुत पुराना नहीं हुआ है। उसका पुनर्निर्माण और विवर्धन किया जा सकता है। आपको तो प्रजा का अद्भुत सहयोग प्राप्त है। आप एक-दो मास में, वर्षा के पूर्व उसे पूरा करा सकते हैं।”

“इस स्थिति का ज्ञान मुझे नहीं था और शायद पांडवों को भी न हो।” मैंने कहा, “तो हस्तिनापुर आपकी प्राचीन राजधानी नहीं है?”

“नहीं।” पितामह बोले, “इसे तो मेरे पितामह अर्थात् मेरे पिता (शांतनु) के पिता महाराज हस्ति ने अपने नाम से बसाया था।”

“मुझे इस इतिहास की जानकारी नहीं थी।” मैंने कहा, “अब प्रश्न है कि यदि मास-दो मास भी रहना पड़े तो पांडव कहाँ रहें? वे तुरंत अतिथिभवन में आ सकते हैं; पर क्या उनका अपने ही घर के अतिथिभवन में रहना उचित होगा? संसार क्या कहेगा?”

“अतिथिभवन की सलाह तो मैं नहीं दूँगा।” पितामह बोले, “इसे तो शायद महाराज भी स्वीकार न करें। इसमें उन्हींकी लोकनिंदा होगी।”

“तब क्या वे आपके यहाँ स्थान पा सकते हैं?” मेरा यह प्रश्न बड़ा आक्रामक था।

“क्यों नहीं!” उन्होंने कहा तो सही, पर जैसे भीतर से हिलते हुए बोले, “मेरे लिए तो पांडव और कौरव दोनों

बराबर हैं। मेरे यहाँ दोनों का स्थान है। लेकिन वे यदि माताजी (सत्यवती) के भवन में चले जाएँ तो सुरक्षित भी रहेंगे और हस्तिनापुर की गरिमा भी बनी रहेगी।”

मैंने अनुभव किया कि विवशता यदि चतुर हो तो वह अपने बचाव का मार्ग ढूँढ़ ही लेती है।

मध्याह्न हो चुका था। भोजन का समय था। हमने पितामह के साथ ही भोजन किया और विश्राम भी। छंदक से अपराह्न मिलनेवालों को बुलाने के लिए कह आया था, अतएव अब मुझे सीधे अतिथिभवन चलना था। पर मेरे मन में आया कि क्यों न पांडवों से मिलूँ और विशेषकर युधिष्ठिर एवं अर्जुन से। उन्हें मुझे पितामह से हुई बातों का सारांश बताना था।

फिर मैंने सोचा, पांडवों के यहाँ चलना शायद उचित न हो। बातें यदि खुल गईं तो इसका दुष्प्रचार भी हो सकता है। अतएव छंदक के द्वारा अतिथिभवन में ही क्यों न उन्हें बुलाया जाए?

फिर मैं सीधे अतिथिभवन की ओर चला।

यहाँ चंद्रसेन, सुशर्मा और उद्धव के साथ कई लोग बैठे थे। सबको यही पता था कि मैं द्वारका जा रहा हूँ। यह बात किसने उड़ाई, मुझे खुद पता नहीं। मैं स्वयं चकित था।

मैंने पूछा, “यह बात आप लोगों को कैसे मालूम हुई; जबकि मुझे स्वयं नहीं मालूम है कि मैं कब जा रहा हूँ।”  
“इसका तात्पर्य यह है कि यह अफवाह उड़ाई गई है।” सुशर्मा बोला।

चंद्रसेन ने भी इसका समर्थन किया और कहा, “इसीसे तो मैं आपसे मिलने आया हूँ।”  
“मैं तो आपसे मिलना ही चाहता था। अच्छा हुआ कि आप स्वयं आ गए।” मैंने चंद्रसेन से कहा और फिर उसे किनारे ले जाकर अपनी योजना बताई—“आप देख ही रहे हैं कि हस्तिनापुर का राजनीतिक सिंधु कितना उद्वेलित है! इसमें ज्वार पर ज्वार आ रहा है, भाटा का नाम नहीं। समुद्र की ऐसी अप्राकृतिक मुद्रा विनाशकारक होती है। ऐसी स्थिति में यहाँ कब क्या हो जाएगा, कुछ पता नहीं। इसलिए पांडवों के एक कार्यक्रम को आपके सहयोग की आवश्यकता है।”

“यह तो मेरा सौभाग्य है, आप कहें तो सही।”

“हस्तिनापुर की प्रजा ने पांडवों का स्वागत द्वितीय प्रह्लाद के रूप में किया है; पर पांडवों की ओर से इसके लिए अभी आभार व्यक्त नहीं किया गया है। मैं चाहता हूँ कि पांडव एक दिन अपने साथ पांचाल से आई सेना को लेकर आभार प्रदर्शन के लिए निकलें। उनमें हम लोग भी रहेंगे।”

“इसकी आवश्यकता क्या है?” चंद्रसेन की विनम्रता बोल उठी।

“इसकी आवश्यकता है।” मैंने कहा, “इस आभार शोभायात्रा का परिणाम यह होगा कि हमें जनता की ओर से सहानुभूति मिलेगी, जिसकी पांडवों को इस समय बड़ी आवश्यकता है।”

“इसमें हमें क्या करना होगा?” चंद्रसेन बोला।

“आप अपनी पूरी अभिनंदन समिति को इस शोभायात्रा के स्वागत में लगा दीजिए। माहौल बनाइए कि लगे, सारी प्रजा पांडवों के साथ है, सिंहासन भले ही कौरवों के पास हो।”

“यह शोभायात्रा कब संपन्न होगी?” उसने कहा, “उसीके अनुसार हमें भी कार्यक्रम बनाना होगा।”

“यह आपका ही कार्यक्रम है और आपकी सुविधा पर है। जब आप कहेंगे, हम तैयार हो जाएँगे। अच्छा, आप जाइए और अभी से लग जाइए।”

अब मैं प्रतीक्षा कर रहे लोगों से बातें करने लगा। राज्य के विभाजन से लगभग सभी दुःखी लगे। एक व्यक्ति ने यहाँ तक कहा कि इसके पीछे शकुनि का मस्तिष्क है। यह बात जानते तो सभी थे, पर कोई कह नहीं रहा था—

और कहने से लाभ भी क्या था!

पर उसने एक बात और बताई। शायद शकुनि किसीसे महाराज की प्रशंसा में कह रहा था कि महाराज ने वही किया, जो धर्मानुसार था; अन्यथा वे युधिष्ठिर की वचनबद्धता का लाभ उठाकर दशरथ की तरह पांडवों से कह सकते थे कि आप चौदह वर्ष तक वन में जाइए और दुर्योधन को शासन करने दीजिए।

यह सुनते ही तो मेरे कान खड़े हो गए। शकुनि के इस कथन में मुझे कौरवों की दूषित महत्वाकांक्षा की गंध लगी। इतना होने पर भी वह यहाँ तक सोच गया। तब तो वह कभी भी कुछ भी कर सकता है। पांडवों को शीघ्रातिशीघ्र राजभवन खाली कर देना चाहिए।

किंतु मैंने उन लोगों से इतना कहा, “अरे भाई, शकुनि की बात पर ध्यान देना व्यर्थ है। मामा तो ऐसे ही कुछ-न-कुछ बड़बड़ाया करता है।”

“मनुष्य वही बड़बड़ाता है, जो उसके मन में रहता है।” उद्धव के इस कथन का समर्थन लगभग सभी ने किया।

पर सुशर्मा गंभीर था। उसने कहा, “मैं तो आपसे बिदा लेने आया था। सोचता हूँ, आजकल में काशी प्रस्थान करूँ।” उसने कुछ कहा तो नहीं; पर स्पष्ट लगा कि वह यहाँ के तनावग्रस्त जीवन से ऊब चुका है।

“जा रहे हैं तो ठीक है। फिर भेंट होगी।” मैं मुसकराते हुए कहता रहा—“मैंने जो कहा है, उसका ध्यान रखना।”

वह सोचने लगा। मैंने फिर उसे ध्यान दिलाते हुए कहा, “मैंने तुमसे बलंधरा के स्वयंवर के लिए कहा था।”

वह हँसने लगा। मैंने इसे गंभीरता से लेने का आग्रह किया और कहा, “जो स्थिति है, उसे तो आप देख ही रहे हैं। इसके पहले कि बलंधरा गांधर्व विवाह की ओर बढ़े, आपको स्वयं आगे बढ़ना चाहिए। आपको अपनी मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए। आपके राज्य की सीमा हस्तिनापुर से भी बड़ी है।”

अब वह वस्तुतः गंभीर लगा और शीघ्र ही चला गया।

अब याद आया कि चंद्रसेन को बिदा करने के बाद मैंने छंदक को युधिष्ठिर और अर्जुन को बुलाने के लिए भेजा था। वह रथ से गया, पर अभी तक नहीं आया। संध्या डूबने को आई। मुझसे मिलने आए लोग भी एक-एक कर चले गए। मैं उद्धव के साथ अतिथिभवन के अलिंद से पश्चिमी आकाश में संध्या की डूबती नाव का फैलता हुआ लाल मस्तूल देखता रहा।

□

रात्रि हो चली थी। अभी तक छंदक लौटा नहीं था। मैंने उसे शीघ्र आने के लिए कहा था। कोई बात अवश्य हो गई होगी। शंकित मन की सबसे बड़ी दुर्बलता यह होती है कि उसमें उठनेवाला हर विचार किसी-न-किसी शंका से घिरा रहता है। इसीलिए शंका से हमारा संपर्क पहले होता है और विचार से बाद में।

मैं सोच ही रहा था कि मेरे रथ की जानी-पहचानी घड़घड़ाहट सुनाई दी। कुछ और करीब आने पर उस अंधकार में भी आभास लग गया कि छंदक अकेला है।

उसने मिलते ही बताया—“वे इस समय आ न सके। आज महाराज ने एक सामूहिक सांध्य भोज का आयोजन किया है। उसमें उन्हें जाना था।”

छंदक से पता चला कि युधिष्ठिर को ऐसा विश्वास था कि हो सकता है, कन्हैया से उसी भोज में भेंट हो जाए। आखिर वे भी तो बुलाए गए होंगे।

छंदक ने बताया—“मैंने उनसे पूछा, ‘यदि वे भोज में न उपस्थित हो पाएँ तो?’ क्योंकि मैं जानता था कि आप राजभवन का भोजन ग्रहण नहीं करते। तब युधिष्ठिर ने कहा, ‘यदि ऐसा हुआ तो मैं प्रातः ही विदुर चाचा के यहाँ भेंट करूँगा।’”

“पर मैं तो उस भोज में आमंत्रित भी नहीं हूँ।” मैंने हँसते हुए छंदक और उद्धव की ओर देखा—“चलो, ईश्वर

जो करता है, अच्छा ही करता है।”

हम अपने कक्ष में आए। मेरा मन मुझे भोज में आमंत्रित न करने पर विचार करने लगा। सुशर्मा तो आमंत्रित होगा; पर उसने कोई चर्चा नहीं की। फिर मेरे शीघ्र द्वारका जाने की अफवाह को मन ने इसी घटना के साथ जोड़ा और निष्कर्ष निकाला कि कौरव अब ऐसी स्थिति पैदा करना चाहते हैं कि मैं यथाशीघ्र हस्तिनापुर छोड़ दूँ।

“आप क्या सोचने लगे?” उद्धव बोला।

“सोचता हूँ कि हमें जल्दी-से-जल्दी हस्तिनापुर छोड़ देना चाहिए।”

“और यदि नहीं छोड़ेंगे तो हम सब जल्दी-से-जल्दी छुड़ा दिए जाएँगे।” छंदक बोला।

“यह तुम कैसे कह सकते हो?”

“क्योंकि हस्तिनापुर पांडवों का राज्य नहीं है। पांडवों का राज्य तो खांडवप्रस्थ है। आप उसी जंगल में जाइए और चैन की वंशी बजाइए; क्योंकि कौरवों ने मान लिया है कि आप उनके नहीं वरन् पांडवों के पक्ष में हैं।” छंदक ने ऐसे ढंग से कहा कि हम सब हँस पड़े।

इसके बाद मैं विदुरजी के यहाँ चला गया। वे अभी आए नहीं थे। शायद वे भी भोज के भागीदार थे। उनके न आने तक मैंने भी भोजन ग्रहण नहीं किया था। आते ही मुझे लेकर वे भोजनालय में गए। भोजन पर मेरे साथ बैठे, पर भोजन ग्रहण नहीं किया।

“लगता है, आप आज भोज खाकर आए हैं।” मैंने कहा।

वे मुसकराए, पर कुछ बोले नहीं।

हस्तिनापुर के गंभीर व्यक्तियों की यदि सूची बनाई जाए तो शायद विदुरजी का नाम उनमें सबसे ऊपर रहेगा। इतने दिनों से मैं उनके आवास पर हूँ, उनके साथ हूँ; पर उन्होंने अपनी ओर से मुझसे कुछ कहा नहीं। हाँ, सतर्क और सावधान अवश्य करते थे। बहुत से प्रश्न तो उनका मौन ही टाल जाता था।

आज भी मैंने कहा, “उस भोज का निमंत्रण मुझे नहीं था?”

वे कुछ नहीं बोले।

भोजन करते हुए मैंने पितामह से हुई बात का संक्षिप्त विवरण दिया। सब सुनते रहे। जब मैंने उन्हें बताया कि वे भी पांडवों के यथाशीघ्र राजभवन छोड़ने के पक्ष में हैं और उनका यह भी कहना है कि उनके लिए सुरक्षित एवं उचित स्थान माताजी का आवास होगा, तब वे मात्र इतना बोले कि इसके अतिरिक्त और वे कह क्या सकते हैं!

इसी संदर्भ में मैंने उनसे कल प्रातःकाल युधिष्ठिर के आने की चर्चा की। उन्होंने दबे स्वर में कहा, “बातचीत में तुम मुझे मत बुलाना। मैं नहीं चाहता कि हस्तिनापुर की किसी राजनीति में मैं प्रत्यक्ष सामने आऊँ।”

उन्होंने यह भी बताया—“पांडवों के पितामही से मिलने पर उन्हें रहने के लिए तो स्थान तुरंत मिल जाएगा; पर मेरी समझ में उनके साथ तुम्हारा जाना जरूरी है। बहुत सी ऐसी बातें हैं, जो पांडवों के समक्ष वे कहेंगी नहीं। वे साधारण महिला नहीं हैं। यहाँ तक कि महाराज भी उनका सामना करने से घबराते हैं। पता नहीं, कब क्या कह बैठें और पूछ बैठें।” इसी क्रम में उन्होंने बताया—“एक बार महाराज के साथ शकुनि भी गया था। लगा बढ़-चढ़कर बातें करने। उन्होंने तुरंत उसे टोका—‘शकुनि, इसे कभी मत भूलो कि यह तुम्हारा घर नहीं है। यहाँ के तुम अतिथि हो।’ तब से शकुनि तो उनकी छाया से भी घबराता है।”

“पर मैं बिना बुलाए जाना नहीं चाहता।” मैंने कहा।

“तब युधिष्ठिर को ऐसा समझाओ कि वह अपनी बातों में तुम्हारी चर्चा करें और स्थिति ऐसी पैदा करें कि उन्हें तुम्हें बुलाना पड़े।”

इस निर्देश के साथ विदुरजी मुझे अपने कक्ष तक पहुँचाकर सोने चले गए।

सवेरा होते ही अर्जुन के साथ युधिष्ठिर पधारे। उन्होंने आते ही कल न आ पाने के लिए खेद व्यक्त किया और भोज की बात बताई। यह भी कहा कि अब मैं बोलता ही नहीं; उनके हर प्रश्न का उत्तर मौन में देता हूँ।

“जब वाणी बंधन और पराधीनता का कारण बने तो उसे अधिक-से-अधिक विश्राम ही देना चाहिए।” मैंने कहा।

एक महत्वपूर्ण बात अर्जुन ने यह बताई—“जब मैंने पूछा कि क्या इस भोज में कन्हैया को आमंत्रित नहीं किया गया है? तब उन्होंने कहा कि ‘हमने जानबूझकर ऐसा किया है। बात यह है कि राजभवन का वे कुछ भी ग्रहण करना नहीं चाहते, इसीलिए हमने उन्हें व्यर्थ आमंत्रित करना ठीक नहीं समझा।’

“‘भोज में उपस्थित होकर भी भोजन न करना तो भोज का प्रत्यक्ष अपमान होता। अच्छा हुआ कि तुमने उन्हें नहीं बुलाया।’ यह कथन शकुनि का था।

“‘और पितामह क्यों नहीं दिखाई दे रहे हैं?’”

अर्जुन का कहना था—“मेरे इस कथन पर सभी मौन रह गए। बड़ी देर बाद महाराज ने विचार कर कहा, ‘अब रात्रि में उन्हें कम दिखाई देता है।’”

“यदि यह बात कोई और कहता तो मेरी समझ में आता।” मैंने कहा, “पर यह तो उसने कहा, जिसको दिन में भी बिल्कुल दिखाई नहीं देता।”

मैंने स्वयं सोचा कि इन सब बातों से आखिर लाभ क्या! मुझे तो मुख्य बात पर आना था। मैंने पितामह से हुई वार्ता का संक्षेप सुनाया और कहा, “आप इस समय प्रपितामही के यहाँ चले जाइए और कहिए कि कन्हैया का आदेश हुआ है कि हम लोग यथाशीघ्र आपकी शरण में चले आएँ।”

“यदि वे इसका कारण पूछें तो क्या कहा जाएगा?” युधिष्ठिर ने कहा।

“आप कहिएगा कि इसका कारण तो कन्हैया ही बता सकते हैं।”

“इसका तात्पर्य है कि वह आपको बुलाएँगी।” अर्जुन बोला।

मैंने यह तो नहीं कहा कि मैं यही चाहता हूँ, पर मुसकराते हुए यह अवश्य बोला, “तब मैं सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा।”

और हुआ भी यही। प्रपितामही के यहाँ से मेरी शीघ्र ही बुलाहट आई। मैं चला। मैंने दारुक से कहा कि जरा शीघ्रता करो। उनकी मानसिकता का कोई ठिकाना नहीं। ऐसा न हो कि मेरे जाने के पहले अर्जुन और युधिष्ठिर को वे बिदा कर दें।

ईश्वर की कृपा थी कि जब मैं पहुँचा तो दोनों शय्या पर बैठे उनके चरण दबा रहे थे। आज वे कुछ श्लथ जान पड़ रही थीं। अब इस वय में श्लथता ही जीवन का साथ देती है। मैंने जाते ही उनके चरण छुए। लगा, ज्वरांश भी है।

निकट के मंचक पर बैठते हुए मैंने कहा, “आपको तो ज्वर है। पूर्ण विश्राम की आपको आवश्यकता है।”

“हस्तिनापुर मुझे विश्राम लेने दे तब तो।” इतना कहने के बाद वे सीधे विषय पर आ गई—“इन लोगों से तुमने क्या कहा है?”

मैंने नाटक ऐसा किया जैसे मुझे कुछ याद ही न हो। फिर सिर खुजलाते हुए कहा, “हाँ, याद आया। एक दिन पितामह से लंबी बातें हुई थीं। मैंने उनसे पूछा कि राज्य का विभाजन हो जाने के बाद क्या पांडवों को हस्तिनापुर के राजभवन में रहना चाहिए? यह प्रश्न मैंने पांडवों की सुरक्षा और उनके सम्मान की दृष्टि से उठाया था।”

“तब उन्होंने क्या कहा?”



वे बड़े खिन्न मन से बोले, “जब आँगन में दीवार उठ जाती है तब उस पार जाना तो दूर, झाँकना भी उचित नहीं है।”

प्रपितामही सोचने लगीं और मंद स्वर में धीरे-धीरे बोलीं, “दीवार आँगन को तो बाँट सकती है, पर आकाश को नहीं। मैं तो आकाश हूँ। मेरी छत्रच्छाया में खांडवप्रस्थ और हस्तिनापुर दोनों हैं। मेरे यहाँ कोई भी आकर रह सकता है—कौरव और पांडव दोनों।” इतना कहने के बाद वह थोड़ा कसमसाई—“पर मैं यह अनुभव करती हूँ कि युधिष्ठिर के साथ न्याय नहीं हुआ। इसने अपने वचन से ही स्वयं को बाँध लिया और लुंज-पुंज हो गया। यदि उस दिन तुम न होते तो यह बेमौत मारा जाता।”

“आपके रहते?”

“मैंने कहा न कि मैं तो आकाश हूँ। मैं खुलकर इन लोगों की ओर आती तो मुझे एक ओर झुकना पड़ता। फिर आकाश का संतुलन बिगड़ता—और यह भी एक अनिष्ट का द्योतक होता।”

मैंने कोई टिप्पणी नहीं की। फिर खांडवप्रस्थ की चर्चा छेड़ी और वहाँ पुरानी राजधानी होने की पितामह की बात बताई।

उन्होंने भी वहाँ पुराने राजभवन होने की चर्चा की। उन्होंने बताया—“उसकी मजबूती में आज भी कमी नहीं होगी। अपने समय का वह आर्यावर्त का बहुत चर्चित राजभवन था। थोड़ी सी मरम्मत के बाद वहाँ पांडव रह सकते हैं।” वे क्षण भर के लिए रुकीं। फिर बोलीं, “किंतु आज की वास्तुकला बहुत आगे बढ़ गई है। अब तो हस्तिनापुर का राजभवन भी पुराना पड़ गया है। फिर खांडवप्रस्थ के उस राजभवन की बात ही क्या! रहने को आप लोग रह लीजिए; पर एक प्रभावशाली शासन के लिए उसको आधुनिक रूप देना आवश्यक होगा।”

अब उनके चरण छूकर मैं चलने को हुआ—“पांडवों को अब आपकी शरण मिल चुकी है। अब मैं भी सोचता हूँ कि दो-एक दिनों में द्वारका की ओर प्रस्थान करूँ। इतने दिनों तक राजधानी से दूर रहना उचित नहीं है—और वह भी तब जब जल दस्युओं का प्रभाव निरंतर बढ़ रहा हो।”

“तो अपने जाने का समाचार तुमने ही लोगों को दिया है?”

“जी नहीं, यह तो पहली बार आपके सामने इच्छा व्यक्त की है।” मैंने कहा, “यह अफवाह उन लोगों की ओर से उड़ाई गई है, जो आपके आकाश की छत्रच्छाया के नीचे हैं।” मेरा सीधा संकेत कौरवों की ओर था—“वे नहीं चाहते कि मैं और अधिक हस्तिनापुर में रहूँ। तो क्यों नहीं, उनकी उड़ाई हुई अफवाह के साथ ही उड़ जाऊँ!”

मेरे कहने के ढंग पर प्रपितामही मुसकराई—“तुम हर स्थिति में लीला कर लेते हो। तुम लीला में विहार करते हो या लीला तुममें, मैं आज तक समझ नहीं पाई। मैं जानती हूँ कि पांडवों को इस स्थिति में छोड़कर तुम जा नहीं सकते। कभी अपने भक्तों को संकटग्रस्त स्थिति में छोड़कर भगवान् जा सकता है!”

इसके बाद उनकी मुद्रा एकदम बदली—“पर मेरा तो कहना है कि तुम पांडवों को खांडवप्रस्थ में स्थापित करके ही यहाँ से जाओ। यह मेरा आग्रह नहीं, आदेश है।”

□

यह सब एकदम अप्रत्याशित हुआ। किसीको कुछ मालूम नहीं था। अभी दिन का प्रथम प्रहर बीता था कि युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ अचानक महाराज धृतराष्ट्र के कक्ष में प्रविष्ट हुए। वहाँ शकुनि और गांधारी भी थे। जाते ही पाँचों भाइयों ने महाराज और पट्टमहिषी को दंडवत् प्रणाम किया।

“आप आशीर्वाद दीजिए। अब हम लोग राजभवन से जा रहे हैं।” युधिष्ठिर ने कहा।

“आखिर कहाँ? क्यों? किसीने कुछ कहा है?” महाराज एकदम चकित थे। गांधारी और शकुनि तो जैसे स्तब्ध रह गए।

“अभी तो प्रपितामही के भवन में रहेंगे।” युधिष्ठिर ने कहा, “फिर व्यवस्था होते ही खांडवप्रस्थ चले जाएँगे।”

“तो इतनी जल्दी भी क्या है?” गांधारी ने कहा।

युधिष्ठिर ने पितामह का ही वाक्य दुहराया—“जब आँगन में दीवार उठ जाए तब अपनी ओर ही रहना चाहिए; दूसरी ओर झाँकना भी शास्त्रोचित नहीं।”

“यह भाषा तो तुम्हारी नहीं है, भानजे।” शकुनि ने एक कुटिल हँसी हँसते हुए कहा, “तुम्हारे जैसा धर्मपरायण और सीधा व्यक्ति ऐसी राजनीतिक भाषा क्या जाने!”

“भैया की बात सुनिए, उसे समझिए। नेपथ्य के पीछे झाँकते रहने की अपनी पुरानी आदत छोड़िए।” भीम ने हस्तक्षेप किया और बड़ी निष्ठुरता से बोला। उसके व्यक्तित्व की उद्धतता उसकी वाणी में स्पष्ट हुई। फिर किसीका साहस नहीं था कि उसके मुँह लगता।

इसके बाद लोग महाराज के कक्ष से साथ ही बाहर निकले।

ये सारी बातें मुझे भीम ने ही बताई थीं। उसने कहा, “ज्यों ही शकुनि ने भैया की प्रशंसा की, उन्हें खोलने की चेष्टा की कि मैं बीच में ही कूद पड़ा। मैंने भैया को बोलने का अवसर ही नहीं दिया, अन्यथा उनका ‘धर्म’ न जाने किस सत्य का उद्घाटन कर देता!”

मुझे हँसी आ गई। मैं स्वयं को यह पूछने से न रोक सका—“आप लोगों को यह अप्रत्याशित कर बैठने की सलाह किसने दी?”

“आप हम लोगों को क्या समझते हैं? एकदम मूर्ख! अरे, हम लोग भी राजपुत्र हैं। कुछ तो राजनीति करना जानते ही हैं।” भीम ने अपने स्वभाव के अनुसार बड़ी मस्ती से कहा। फिर बताया—“हम लोगों ने गत रात बैठकर विचार किया और शीघ्र ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हमें ऐसा निर्णय लेकर कौरवों के मस्तिष्क को एकदम झकझोर देना चाहिए। और तब चुपचाप प्रपितामही की शरण में चलना चाहिए।”

पांडवों की यह राजनीति सचमुच सराहनीय थी। मुझे तो विश्वास नहीं था कि वे ऐसा निर्णय भी ले सकते हैं। मुझे तो बाद में पता चला कि इस प्रकार के निर्णय के मूल में द्रौपदी की भूमिका प्रभावकारी थी।

शकुनि ने तो अपनी शंका उसी समय मुखरित कर दी थी। कौरवों ने भी समझा कि इस सबके पीछे मेरा ही हाथ है! पर वे अब कर क्या सकते थे! इधर अब जो सुनता कि पांडवों ने राजभवन छोड़ दिया है, उसे आघात लगता। अनेक प्रश्न उसके मन में पैदा होते। मैंने सोचा, क्यों न इस स्थिति का राजनीतिक लाभ उठाया जाए।

जैसाकि आप जानते हैं, मेरे पास ऐसे कामों के लिए बस एक ही व्यक्ति था—और वह था छंदक। मैंने उसे एकांत में ले जाकर समझाया कि प्रजा में इस घटना का प्रचार होना चाहिए कि पांडवों ने राजभवन छोड़ दिया है। संप्रति वे प्रपितामही की शरण में हैं। यह सूचना स्वयं अनेक प्रश्नों को जन्म देगी। क्यों चले गए? अवश्य कौरवों ने अवांछनीय किया होगा। जब राज्य का विभाजन हो ही गया था, तब तो एक-न-एक दिन उन्हें जाना ही था। फिर इतनी जल्दी क्या थी!

शंका वह अग्नि है, जिसमें ताप कम और धुआँ अधिक होता है। उस धुएँ से पूरे हस्तिनापुर की आँखें कड़ुवाने लगीं। जबान बुदबुदाने लगी। अनेक प्रकार की अफवाहों ने जन्म लिया। परिणामस्वरूप पांडवों के प्रति एक सहानुभूति की लहर-सी दौड़ गई।

मैं प्रसन्न था। पांडव प्रसन्न—और सबसे अधिक छंदक प्रसन्न था कि हवा में बोई उसकी फसल धरती पर लहलहाने लगी।

अब प्रश्न था इस फसल को काटने का। मैंने छंदक को बुलाया और पूछा, “तुम चंद्रसेन को बुला सकते हो?”

वह बहुधा चला आता था; पर इधर कई दिनों से दिखाई नहीं पड़ा—और हममें से कोई उसका आवास भी नहीं जानता।”

“पर वह सामान्य व्यक्ति तो है नहीं। पूर्व महापौर रहा है। उसका पता लग ही जाएगा।” छंदक बोला।

फिर मैंने कहा, “उससे मिलकर कहो कि पांडवों की आभार शोभायात्रा की तिथि की यथाशीघ्र घोषणा करे।”

छंदक अपने काम में लगा।

आसपास के प्रदेशों में भी बात फैल गई। चारों ओर थू-थू होने लगी। किसीके मन में भी यह बात नहीं आई कि पांडवों ने स्वेच्छा से राजभवन छोड़ा। सबने यही सोचा कि कौरवों ने उन्हें निकाल बाहर किया। इस बार जब चंद्रसेन आया तो वह काफी क्रोध में था।

“कौरवों को ऐसा नहीं करना चाहिए। देखिएगा, वे इसका फल भोगेंगे। रौरव नरक में भी उन्हें स्थान नहीं मिलेगा।”

वह और कुछ बड़बड़ाए, इसके पहले मैंने उसके मुख पर हाथ धर दिया और कहा, “समुद्र में रहकर मगर से वैर नहीं करना चाहिए।”

“मैं यह समुद्र छोड़ दूँगा।” वह छूटते ही बोला।

“तो जब छोड़ना तब बड़बड़ाना।” मैंने कहा, “मैं जैसा कह रहा हूँ, इस समय वैसा करो। पांडवों की आभार यात्रा की तैयारी करो।”

“इसके लिए हम लोग तैयार हैं।” चंद्रसेन ने बताया—“इसके लिए तीन दिन बाद का मुहूर्त निकला है। उस दिन के प्रथम प्रहर से प्रपितामही के आवास से पांडवों के आभार प्रदर्शन के लिए शोभायात्रा निकलेगी।”

“इसके लिए मैं पांडवों से कहूँगा कि वे तैयार रहें।”

“पर इसमें आपको भी चलना है और द्रौपदी तथा माता कुंती को भी।”

“द्रौपदी और बुआजी तो जाएँगी ही, पर मेरा क्या काम? मैं तो परदेशी हूँ। आज-कल में अपने देश चला जाऊँगा।”

“देश जाइए या विदेश जाइए; पर उस यात्रा में आपको रहना है।” इतना कहकर वह चला गया। मैं यह सोचकर हँसता रहा कि कभी-कभी आत्मीयता इस सीमा पर पहुँच जाती है कि आग्रह भी आदेश जैसा लगता है।

इसके बाद मैं शय्या पर ढुलक गया। उस समय मेरे कक्ष में कोई भी नहीं था। मेरा मन हस्तिनापुर के गलियारे में टहलने लगा। तरह-तरह की बातें सोच गया कि अचानक हलचल-सी हुई। सुरक्षाकर्मियों के सावधान होने से स्पष्ट लगा कि अतिथिभवन में कोई विशेष व्यक्ति आ रहा है। पर मैं जो शय्या पर पड़ा था, पड़ा ही रहा।

धड़धड़ाता हुआ दुर्योधन मेरे कक्ष में चला आया और मेरी ही शय्या पर बैठ गया। बोला, “आप एक सत्य को लगभग भूल गए हैं।”

“क्या?”

“कि आप जितने पांडवों के हैं, उतने मेरे भी हैं।”

“यह भूलने की बात है!” मैंने हँसते हुए कहा।

वह कहना चाहता था कि फिर आप हम लोगों को इतना परेशान क्यों कर रहे हैं? पर वह कह नहीं पाया। उसने दूसरे ढंग से बात शुरू की—“आपको तो ज्ञात ही होगा कि पांडव राजभवन से प्रपितामही के यहाँ चले गए हैं—बिना किसी कारण के।”

“कारण तो कोई-न-कोई होगा ही, पर उन्होंने बताया न होगा; क्योंकि बिना किसी कारण के कोई कार्य नहीं

होता।”

“तब आप ही कारण बताइए। आखिर पांडवों को राजभवन में क्या कष्ट था?”

“इसे तो पांडव ही बता सकते हैं। मैं क्या बताऊँ!” मैंने मुसकराते हुए कहा, “यदि वे चले ही गए तो कौन सी बड़ी बात हो गई! मैं तो प्रपितामही के आवास और राजभवन में कोई अंतर नहीं समझता।”

“आप अंतर न समझें, पर प्रजा तो समझती है।” अब दुर्योधन की झुंझलाहट लगभग मुखर होने लगी थी—“प्रजा तो यही समझती है कि हम लोगों ने राजभवन से उन्हें निकलवा दिया है।”

“तो राजभवन से ऐसा वक्तव्य आप जारी करवाइए कि हमारी तरफ से ऐसा कुछ नहीं हुआ है। पांडव अपनी इच्छा से राजभवन छोड़कर चले गए हैं।”

“आप भी अच्छी राय दे रहे हैं, कन्हैया!” उसने थोड़े आवेश में कहा, “ऐसा वक्तव्य जारी करके हम और भी अपनी भद्द कराएँ। जो स्थिति को न भी जानते हों, वे भी जान जाएँ।” अब उसने मुझसे कहा, “आप क्यों नहीं ऐसा वक्तव्य देते कि यह एक सामान्य घटना है, प्रजा इसपर अधिक ध्यान न दे?”

“इस संबंध में मैं पांडवों से बातें करूँगा; क्योंकि मेरे लिए आप और पांडव बराबर हैं। मैं उनसे राजभवन छोड़ने का कारण जानने की चेष्टा करूँगा। दूसरी बात यह है कि यह मेरी प्रजा तो है नहीं कि मेरी सुनेगी।”

इतना सुनना था कि दुर्योधन आवेश में आ गया—“मुझे मूर्ख मत बनाइए, द्वारकाधीश! उस दिन सभा में लोगों ने देख लिया था कि प्रजा किसको और कितना सुनती है!” इतना कहकर वह बड़े झटके से उठा और बिना मेरा अभिवादन स्वीकार किए बड़बड़ाता हुआ चला गया। वह काफी रुष्ट दिखा। स्पष्ट लगा कि वह मुझसे जो कार्य कराने आया था, उसमें वह सफल नहीं हो सका। उसकी बड़बड़ाहट बता रही थी कि वह इस कार्य के पीछे मेरा ही हाथ देख रहा है।

क्षण-क्षण परिवर्तित होनेवाली प्रकृति की तरह राजनीति भी नित्य अपना रूप बदल रही थी। रोज ही कुछ-न-कुछ अप्रत्याशित घट जाता था। आज सवेरे-सवेरे विदुरजी ने बताया कि कल हस्तिनापुर में नारद की वीणा सुनाई पड़ी थी।

“तब तो कुछ अवश्य ही होने वाला है।” मैंने कहा।

“कुछ हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है।” विदुरजी बोले, “महर्षि का तो घुमक्कड़ स्वभाव है। कल भी कुछ लोगों ने उन्हें ‘नारायण’ का जाप करते और वीणा बजाते देखा था। वे नगर के बाहर से चुपचाप चले जा रहे थे। हो सकता है, कहीं और जा रहे हों।”

विदुरजी की बात एक प्रतिहारी सुन रहा था। उसने टोका—“मेरे एक मित्र ने उन्हें प्रपितामही के आवास में जाते देखा था।”

“तब तो जरूर कोई विशेष बात होगी।” विदुरजी बोले।

“बात तो होगी ही, पर विशेष नहीं।” मैंने कहा, “यदि कोई विशेष बात होती तो अवश्य ही कोई-न-कोई आ धमकता। हो सकता है, अतिथिभवन में मेरी कोई प्रतीक्षा कर रहा हो।”

अब मैंने अपने नित्यकर्म और पूजा-पाठ आदि में शीघ्रता की। ध्यान की साधना नहीं की। परदेश में रहने पर मेरी ध्यान-साधना का कोई समय निश्चित नहीं रहता। जब भी अवसर मिलता, जहाँ भी अवसर मिलता, मैं ध्यानस्थ हो जाता। मेरा योग संयोग पर निर्भर था।

प्रतिदिन मैं चाचा के साथ ही निकलता था। वे राजभवन चले जाते थे और मैं अतिथिभवन में आ जाता था। आज मैं उनकी अनुमति लेकर पहले ही निकल पड़ा।

अतिथिभवन के अपने कक्ष में आकर मैंने देखा, भीम और अर्जुन विराजमान हैं। छंदक से उनकी बातें हो रही हैं। कक्ष में प्रवेश करते ही छंदक का जो पहला वाक्य मैंने सुना, वह यह था—“नारद का कथा सुनाने का उद्देश्य क्या हो सकता है?”

मैंने बात बीच में ही लोक ली—“क्या नारद ने तुम लोगों को कोई कथा भी सुनाई थी?”

दोनों ने मुसकराते हुए स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

“तब तो तुम धन्य हुए!” मैंने कहा, “इस समय इतिहास-पुराण का उनके जैसा ज्ञाता तुम्हें नहीं मिलेगा। फिर वे ऐसे यायावर हैं कि पूरे ब्रह्मांड का समाचार रखते हैं।”

“कल रात उन्होंने हम लोगों को एक कथा सुनाई थी—सुंद-उपसुंद की।” अर्जुन बोला। फिर उसीने अपने कथन का विस्तार किया—“वे विंध्य के दक्षिण दंडकारण्य जा रहे थे। हस्तिनापुर का समाचार जानने इधर चले आए। जो कुछ जाना, उससे वे बहुत प्रसन्न नहीं थे। प्रसन्नता उन्हें बस एक बात की थी कि द्रुपदपुत्री को पांडव ले आए। इससे पांचाल से हमारे पुराने संबंधों में सुधार होगा। साथ ही, वह चिनगारी भी सुलग गई है, जिससे एक दिन आर्यावर्त जल उठेगा।

“वस्तुतः महर्षि प्रपितामही से ही मिलने आए थे। उन्हींसे बातें भी हो रही थीं। हम लोग तो उनकी सेवा में लगे थे। बातों के क्रम में ही उन्होंने प्रपितामही से यह कहा था।

“महर्षि की बात सुनकर प्रपितामही बड़ी चिंतित हुई। उन्होंने पूछा, ‘ऐसा कोई उपाय है, जिससे यह स्थिति पैदा ही न हो?’

“‘यह तो नियति की विडंबना है, राजमाता। ऐसा तो होना ही है।’ महर्षि ने कहा, ‘हम सूर्य को मध्य रात्रि में बुला नहीं सकते और न मध्याह्न में उसे अस्त कर सकते हैं। यह हमारे हाथ में नहीं है और न किसीके हाथ में रहा है। प्रकाश के बाद अंधकार झेलना हमारी नियति है—और जो उसे झेल लेता है, उसीके भाग्य में प्रकाश का भोगना भी होता है।’ ”

अर्जुन के कथनानुसार, “प्रपितामही इतना सुनकर गंभीर हो गई थीं। उनकी वृद्ध आकृति की झुर्रियों से गंभीर चिंता झाँकने लगी थी। उन्होंने व्याकुलता से पूछा था—‘तो महर्षि, इन पांडवों के लिए आपका क्या आदेश होता है?’

“‘मेरा आदेश क्या! मैं तो इन्हें एक कथा सुनाऊँगा।’ उन्होंने मुसकराते हुए कहा और बाद में रात्रि में सोते समय उन्होंने वह कथा सुनाई।...द्रौपदी उनके चरण दबाती रही और वे कथा सुनाते रहे—‘यह एक राक्षस परिवार की कथा है। हिरण्यकशिपु के वंश में निशुंभ नाम का एक महाप्रतापी और महाबली दैत्य हुआ था। उसके दो पुत्र थे—सुंद और उपसुंद। दोनों बड़े पराक्रमी, शक्तिशाली और क्रूर थे। दोनों दैत्यों के सरदार थे। दोनों की प्रकृति और दोनों का कार्य-व्यापार एक-सा था। एक जो खाता था, दूसरा वही खाता था। एक का मित्र दूसरे का मित्र होता था और एक का शत्रु, दूसरे का शत्रु। दोनों में खूब पटती थी। दोनों एक प्राण और दो देह थे। दोनों के चेहरे-मोहरे और शारीरिक सौष्ठव लगभग एक जैसे थे।’

“महर्षि नारद ने यह भी बताया—‘दोनों की बढ़ती अवस्था के साथ-साथ उनकी महत्वाकांक्षा भी बढ़ती गई। वे अब त्रिलोक को जीतने और उसपर शासन करने का सपना देखने लगे। इसके लिए उन्होंने विंध्य पर्वत पर घोर तपस्या की। हवा पीकर और केवल एक अँगूठे के बल खड़े होकर वे पंचाग्नि तापने लगे। वर्षों यह क्रम चला। विंध्य भी उनकी तपस्या से भयाक्रांत हुआ। अंत में उनकी तपस्या का फल देने के लिए ब्रह्माजी उपस्थित हुए। उन्होंने सुंद-उपसुंद से वर माँगने को कहा।’

“नारद का कहना था—‘इससे दोनों बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने विनीतभाव से कहा कि यदि आप वर देना चाहते ही हैं तो ऐसा वर दीजिए कि हम श्रेष्ठ मायावी अस्त्र-शस्त्रों के जानकार हो जाएँ। अपनी इच्छानुसार अपने रूप बदल सकें और सदा अमर रहें।’...तब ब्रह्माजी ने कहा कि अमर होना तो देवताओं की विशेषता है। तुम्हें अमर करने से तो उनकी विशेषता पर आँच आएगी। इस वर को छोड़कर तुमने जो कुछ माँगा है, वह सब प्राप्त होगा।...सुंद-उपसुंद ने पुनः प्रार्थना की कि यदि हम अमर नहीं हो सकते तो आप हमें ऐसा वर दें कि हम संसार के किसी प्राणी या पदार्थ से मारे न जा सकें। हमारी मृत्यु कभी हो तो एक-दूसरे के हाथों हो।...‘एवमस्तु’ कहकर ब्रह्माजी चले गए।’

“नारदजी का कहना था—‘इसके बाद कुछ दिनों तक दोनों का मौज-मस्ती का कार्यक्रम चला। फिर उन्होंने दिग्विजय की ठानी। शीघ्र ही सारी पृथ्वी अपने वश में कर ली। ऐसी विजयों और शक्ति की अमितता ने उनकी महत्वाकांक्षा को पागल कर दिया। अब वे ऋषि-मुनियों और तपस्वियों को परेशान करने लगे। उनके आश्रम उजाड़े जाने लगे। उनके यज्ञ की अग्नि बुझाई जाने लगी। उनके कमंडलु, सुवा और कलशों को तोड़ा जाने लगा। दोनों कभी हाथी, कभी सिंह और कभी बाघ का रूप धरकर ब्राह्मणों एवं तपस्वियों की हत्या करने लगे। पहाड़ों की कंदराओं में भी वे सुरक्षित न रहे। तब उन तपस्वियों ने ब्रह्मा की आराधना की और उनसे रक्षा की गुहार लगाई।’ ”

फिर भीम ने बताया—“नारद की कथा सुनाने का ढंग इतना आकर्षक था कि हम मंत्रमुग्ध हो सुनते रहे।”

“इसके बाद नारद ने बताया—‘तब ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को बुलाकर एक अनुपम सुंदरी का निर्माण कराया। वह संसार के अपूर्व रत्नों का तिल-तिल लेकर बनाई गई थी। इससे उसका नाम ‘तिलोत्तमा’ पड़ा। जब तिलोत्तमा ने अपने लिए आज्ञा माँगी तो ब्रह्माजी ने कहा कि तुम सुंद-उपसुंद के पास जाओ और उन्हें अपने रूप से ऐसा लुभाओ कि दोनों में फूट पड़ जाए।’

“नारद के कथनानुसार, ‘ऐसा ही हुआ। जब तिलोत्तमा उनके पास आई तो दोनों उसे देखकर काम-मोहित हो गए। दोनों उससे विवाह करना चाहते थे। एक ने उसका दाहिना हाथ पकड़ा और दूसरे ने बायाँ। दोनों उसे अपनी ओर खींचने लगे। सुंद ने कहा, यह मेरी पत्नी है, तेरी भाभी लगेगी।...उपसुंद ने कहा कि नहीं, यह मेरी पत्नी है, तुझे छूना भी वर्जित है।...तिलोत्तमा ने इस स्थिति का लाभ उठाया और कहा कि पहले आप लोग आपस में ही निपट लें कि मैं किसकी हूँ, तब मुझे हाथ लगाएँ।...अब दोनों में युद्ध होने लगा और दोनों एक-दूसरे के हाथों मारे गए।’

“इसके बाद नारदजी ने हँसते हुए कहा, ‘सुंद-उपसुंद को मारने के लिए ब्रह्माजी को कोई और उपाय न सूझा। उन्होंने एक सुंदरी बनाई और दोनों लड़ मरे। वहाँ तो एक सुंदरी के पीछे दो ही थे, पर यहाँ तो एक सुंदरी के पीछे पाँच-पाँच हैं।’ इतना कहकर नारदजी द्रौपदी की ओर देखकर बहुत देर तक हँसते रहे।

“द्रौपदी ने समझ लिया कि पूरी कथा उसकी परिस्थिति से ही संबंध रखती है। महर्षि का संकेत भी स्पष्ट था। पांडवों ने उनका आशय भी समझा; पर वे चुप ही रह गए। द्रौपदी चुप रहनेवाली नहीं थी। उसने मुसकराते हुए महर्षि का अनुग्रह स्वीकार किया कि ‘आपने मेरे पतियों को सावधान कर दिया है; पर मैं नितांत विनीत स्वर में दो बातें आपसे निवेदित करना चाहती हूँ।’

“नारद भी एकदम सकते में आ गए कि आज तक किसी नारी ने मुझसे जबान नहीं लड़ाई थी। फिर उन्होंने कहा, ‘अच्छा कहो, क्या कहना चाहती हो?’

“‘पहली बात तो यह है कि आपके कथनानुसार, तिलोत्तमा का निर्माण ही सुंद-उपसुंद के विनाश के लिए हुआ था। उद्देश्य से साधन और साध्य दोनों प्रभावित होते हैं। ऐसा उद्देश्य क्या मेरे निर्माता के मूल में भी था?

तिलोत्तमा की निर्मिति के मूल में कामाग्नि थी और मेरी निर्मिति के मूल में यज्ञाग्नि। दूसरी बात यह है कि सुंद और उपसुंद राक्षस थे। उनके लिए धर्म और अधर्म में कोई अंतर नहीं था। पर मेरे पति मानव हैं। मानव ही नहीं, महामानव हैं। देवताओं की अमरता को प्राप्त न करते हुए भी देवता हैं। उनसे राक्षसों जैसी भूल करने की आशा नहीं की जा सकती।’ ”

भीम का कहना था—“द्रौपदी के उत्तर से महर्षि बड़े प्रसन्न हुए और बोले, ‘मैं तुमसे ऐसे ही उत्तर की अपेक्षा रखता था। तुम्हारे वैदुष्य की मैंने बड़ी प्रशंसा सुनी है! पर शत्रु तो कोई भी हथकंडा अपना सकता है—और हमें हर स्थिति के लिए तैयार रहना चाहिए।’ ”

भीम का कहना था—“इतना कहकर महर्षि ने एकदम बात बदल दी।”  
“महर्षि को जो कहना था, कह गए।” मैंने कहा, “उनके कहने का तात्पर्य स्पष्ट था कि अब तुममें फूट डालने की चेष्टा की जा रही है। पिछला भोज या धर्मराज को एकांत में बुलाकर उनसे वचन लेना—ये सारे कार्य ऐसे ही थे, जिनसे फूट पड़ सकती थी।”

“पर नहीं पड़ी।” भीम बोला।

“पर तुम तो कई बार आवेश में आ चुके हो। यदि सँभाले न गए होते तो अब तक तुम अपने भाइयों से भिड़ गए होते।”

भीम चुप हो गया।

मैंने फिर कहा, “इस दृष्टि से तुम्हें अधिक सावधान रहना चाहिए; क्योंकि तुम्हारा क्रोध बहुत जल्दी उबाल खा जाता है।

“इन सारी स्थितियों का आग्रह यही है कि हमें यथाशीघ्र हस्तिनापुर छोड़ देना चाहिए।”

□

परसों प्रातःकाल ही मुझे पांडवों की आभार प्रदर्शन शोभायात्रा पर उनके साथ जाना होगा। इसके पहले ही मुझे एक निर्णय ले लेना चाहिए था। एक महत्त्वपूर्ण निर्णय। और उसकी घोषणा उस यात्रा के माध्यम से जनता में करनी थी; पर अभी तक मैंने वह निर्णय नहीं लिया था।

मैंने छंदक से कहा, “द्वारका के जो सामंत यादव बंधु हैं, मैं उनसे कुछ विचार-विमर्श करना चाहते हूँ।”  
“आप जब चाहें, करें।” छंदक बोला, “एक सात्यकि को छोड़कर सभी तो अतिथिकक्ष में हैं। वे क्षण भर में ही बुलाए जा सकते हैं।”

“पर उसमें सात्यकि का रहना परमावश्यक है।” मैंने कहा, “वह चेकितान से मिलने पुष्कर चला गया है।”

“उसे भी आज आ जाना चाहिए।” छंदक बोला, “आज मध्याह्न—और बहुत हुआ तो अपराह्न तक अवश्य आ जाएगा। अरे, द्वारका के यादवों में चार ही लोग तो हैं यहाँ, बल्कि साढ़े तीन ही।”

“यह तुम्हारी साढ़े तीन की गिनती अद्भुत है!”

“क्योंकि मैं उद्धव को आधा ही द्वारका का मानता हूँ। उसके परिवार के कुछ लोग तो मथुरा में भी हैं। शेष बचे आप, बलराम भैया और सात्यकि।”

“इसीलिए तो सात्यकि का रहना बड़ा आवश्यक है।”

“आप रात में यहाँ बैठक रख लें। वे तब तक अवश्य आ जाएँगे।”

“पर यहाँ बैठक रखना ठीक नहीं होगा। उसमें विवाद भी हो सकता है। मैं नहीं चाहता कि उसके आपसी विवाद की गंध भी किसीको लगे।” मैंने कहा।

“तब आप विदुरजी के घर ही लोगों को बुला लें।” छंदक बोला।

मैंने भी इसे ठीक समझा। मैंने उससे कहा, “भैया, उद्धव और मैं संध्या होते ही चले जाएँगे। तब तक यदि सात्यकि आ गया तो उसे भी लेता जाऊँगा। अन्यथा मैं विदुरजी के यहाँ ही उसकी प्रतीक्षा करूँगा। वह जैसे आए, उसे लेकर तुम वहाँ पहुँचो।”

छंदक का अनुमान ठीक निकला। संध्या होते-होते सात्यकि भी आ गया। विदुरजी के यहाँ छंदक, सात्यकि, उद्धव और मैं तथा भैया बलराम की सभा बैठी—वह भी बंद कक्ष में। वहाँ प्रहरी, प्रतिहारी और सेवक भी नहीं थे।

मैंने विषय की स्थापना करते हुए कहा, “यह तो आप जानते ही हैं कि महाराज द्वारा आहूत राज्यारोहण की सभा में मैंने किस स्थिति में और किस प्रकार पांडवों की सहायता की घोषणा की थी। मैंने यह भी कहा था कि वह सहायता कितनी होगी, इसपर हम आपस में विचार करके ही कुछ कह पाने की स्थिति में होंगे। आज मैंने इसी विषय पर विचारार्थ यह सभा बुलाई है।”

“घोषणा करते समय आपके मन में कुछ तो आया होगा कि हम कितनी सहायता पांडवों को दें!” सात्यकि बोला।

“मेरे मन में आया था और आज भी है, पर उसे घोषित करके मैं आप पर दबाव बनाना नहीं चाहता; क्योंकि मुझे द्वारका के यादवों से लेकर ही देना है।”

“तब तो सबकी राय से ही कोई निर्णय लेना चाहिए।” उद्धव बोला, “आप कुछ निर्णय ले लें और लोग देने के लिए तैयार न हों तो बड़ी विचित्र स्थिति हो जाएगी।”

“इसीलिए तो मैंने यह बैठक बुलाई है।”

“पर अभी इतनी जल्दी क्या है!” बलराम भैया बोले, “हम लोग द्वारका चलकर वहाँ के सामंतों और यादव राजाओं को बुलाकर इस विषय में विचार कर सकते हैं।”

“यह होता तो अति उत्तम; पर इतना समय हमारे पास नहीं है, भैया!” मैंने कहा, “सहायता की घोषणा की जा चुकी है। अब लोग यह जानना चाहते हैं कि द्वारका के यादव कितनी सहायता देंगे।”

“यदि घोषणा हो चुकी है तो क्या हुआ! हम दूसरी घोषणा कर सकते हैं कि पांडवों को सहायता तो हम देंगे ही; पर वह कितनी होगी, इसका निर्णय हम द्वारका जाने पर करेंगे।”

“इसका मतलब आप समझते हैं, भैया!” मैंने कहा, “लोग यही सोचेंगे कि सहायता की घोषणा तो कन्हैया ने कर दी; पर अब वह टाल-मटोल कर रहा है।”

फिर भैया कुछ नहीं बोले।

“तब आप अपनी ओर से घोषणा कर दीजिए।” सात्यकि बोला, “आपके वचन की रक्षा की जाएगी।”

मुझे हँसी आ गई—“मेरे वचन की रक्षा की जाए, इससे तो अच्छा यही होगा कि हम एक सामूहिक निर्णय लें और उसका पालन हो।” मैंने कहा, “मेरे वचन की रक्षा में एक विवशता है और अपने वचन के पालन में स्वेच्छा है।”

“इसीलिए तो मैंने कहा कि चार-पाँच व्यक्ति बैठकर यदि कोई निर्णय ले लेंगे, तो यह द्वारका के यादवों का सामूहिक निर्णय नहीं माना जाएगा।” भैया बोले।

“यह तो ठीक है, पर एक व्यक्ति के निर्णय से पाँच व्यक्ति का निर्णय लेना तो कहीं अधिक उपयुक्त होगा।” मैंने कहा।

“निर्णय लेने में हमें दो बातें देखनी होंगी। एक तो पांडवों को अधिक-से-अधिक कितने धन की आवश्यकता पड़ सकती है? दूसरे, हम अधिक-से-अधिक कितना दे सकते हैं?” सात्यकि ने नितांत व्यावहारिक बात कही।



“पांडवों की आवश्यकता की बात तो छोड़िए। उस जंगली प्रदेश को हस्तिनापुर जैसा बनाने में कोई मामूली धन और श्रम की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। हम यह भी नहीं कर सकते कि सामान्य आवास बनाकर पांडवों को वहाँ प्रतिष्ठित कर दें। मुझे पितामह से ज्ञात हुआ है कि खांडवप्रस्थ कभी पुरुरवा, नहुष, ययाति आदि राजाओं की राजधानी थी। उनके भग्नावशेष तो वहाँ होंगे ही। फिर वह भरत वंश (भरत वंश और कौरव एक ही थे) की राजधानी हुई। उसी वास्तुकला के अनुसार ही पांडवों का राजभवन बनेगा। उसमें हस्तिनापुर की आधुनिकता भी होगी और खांडवप्रस्थ की पुरातनता भी। फिर यदि हस्तिनापुर से उसका वैभव कम हुआ तो पांडव सदा कौरवों से दबे ही रह जाएँगे।

“इसलिए यह सोचना संप्रति हमारे वश के बाहर है कि उसमें कितने धन की आवश्यकता पड़ेगी? अतएव हमें यही सोचना चाहिए कि हम अधिक-से-अधिक कितना धन दे सकते हैं।”

इसके बाद सभी एक-दूसरे का मुँह देखते हुए चुप हो गए।

थोड़ी देर बाद सात्यकि बोला, “आपने जब इतनी गंभीरता से विचार किया होगा तो कुछ अवश्य सोचा होगा कि हमें कितना देना चाहिए!”

“पहली बात तो यह सोची है कि पांडवों की आभार यात्रा जब अंत में विशाल जनसभा में परिवर्तित हो जाएगी, तो इसीमें द्वारका के यादवों की ओर से पांडवों को एक सम्मानजनक राशि देने की घोषणा करूँगा, जिसका जनता पर भी प्रभाव पड़े और वह मुक्तहस्त से देने के लिए आगे आए।”

“वह सम्मानजनक राशि क्या होगी, आप बताते क्यों नहीं?” सात्यकि ने फिर जोर दिया।

“मेरे विचार से हम अपने कोष का पाँचवाँ भाग उन्हें देने की घोषणा करें।”

“इतना दे देंगे तो राज्य का खर्चा कैसे चलेगा?” भैया बोले, “तुम जानते हो, कन्हैया, यह तो हमारी एक साल की आय से भी अधिक है।”

“यह तो मैं जानता हूँ; पर आप समझिए, भैया! यदि एक साल अकाल या दुर्भिक्ष पड़ जाए या कोई दैवी प्रकोप आ जाए, तब हमें उसका सामना तो करना ही पड़ेगा। यह भी एक दैवी प्रकोप है, जो मुझपर न पड़कर मेरी बुआ के लड़कों पर पड़ा है। क्या हमारा कोई दायित्व नहीं है? और सबसे बड़ी बात है कि इस सहायता से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हमारा सम्मान भी जुड़ा है।”

एक बार फिर गंभीर चुप्पी छा गई।

मैंने पुनः कहा, “यह मैं केवल अपनी ओर से तो दे नहीं रहा हूँ। यह द्वारका के समस्त यादव राजाओं और सामंतों की ओर से दिया जा रहा है। इसमें सत्राजित् भी है, जिसके पास स्यमंतक मणि है; जिसके द्वारा वह जितना चाहे, धन प्राप्त कर सकता है।”

“पर आप इस भ्रम में न रहें। वह दुष्ट आपको एक निष्क भी नहीं देगा।” सात्यकि बोला।

“तुम ऐसा कैसे कह सकते हो?”

“इसलिए कि वह आपका द्वेषी है। जलता है। बल्कि उसका भाग भी हमीं लोगों को देना पड़ेगा।” सात्यकि बोला।

“ऐसा नहीं है। कहीं-न-कहीं तो वह मनुष्य होगा ही। उसके मनुष्य होने का भाव तो उसमें जगाया जा सकता है।” मैंने कहा।

“अच्छा, जगा लीजिएगा। उसके मनुष्य होने का भाव तो देखूँगा।” सात्यकि बड़े आवेश में बोला, “यदि फूटी कौड़ी भी वह दे देगा तो समझूँगा कि मनुष्य को समझने की दृष्टि आपमें पैनी है। वस्तुतः आज की द्वारका की

सही स्थिति का ज्ञान हमें नहीं है।”

मैंने समझ लिया कि सात्यकि के पास द्वारका की जानकारी मुझसे अधिक है। हो सकता है, सत्राजित् ने मुझसे पूरी शत्रुता ठान ली हो। मैं भी सोच में पड़ गया।

अब भैया बोले, “तुम क्या सोचने लगे?”

“सोच रहा हूँ कि क्या किया जाए!”

“जो आपने निश्चय किया है, स्पष्ट रूप से उसकी घोषणा करें।” सात्यकि बोला, “आगे जो परिस्थिति आएगी, उसका सामना किया जाएगा।”

बस इसी निष्कर्ष पर वह बैठक विसर्जित हुई। अब तक चुपचाप बैठे छंदक ने व्यंग्य किया—“जो आप चाहते थे, यदि वही हम लोगों से कराना था तो इतना नाटक करने की कृपा क्यों की?”

सभी हँस पड़े। मैंने कहा, “तुम्हें भी नाटक में भागीदार बनाने के लिए।”

“जब नटराज के साथ हूँ, तो आपके हर नाटक में भागीदार हूँ ही।” फिर ठहाका लगा।

स्वल्पाहार के बाद लोग उठकर चले गए। पर उद्धव क्षण भर के लिए रुक गया। उसने धीरे से पूछा, “भैया, उस विरजा का क्या होगा?”

“किस विरजा का?”

“आप फिर भूल गए! लगता है, आपकी स्मृति आजकल कुछ गड़बड़ा रही है। जिसे कभी पुरोचन ने गुप्तचर के रूप में मेरे पीछे लगाया था, जो आपसे क्षमायाचना के लिए आया है और जिसे मैंने आपसे मिलवाया था।”

“हाँ-हाँ, याद आया! याद आया। उसे तुमने सुरक्षित रखा है न? लाक्षागृह के षड्यंत्र का वह एकमात्र साक्षी है। बड़े काम का है। क्यों नहीं उसे भी पांडवों की आभार सभा में ले चला जाए और वहाँ उसे अत्यंत अप्रत्याशित ढंग से प्रकट किया जाए तथा कहा जाए कि ये वृद्ध हमारे पूज्य हैं। लाक्षागृह में जो हुआ, उसके एकमात्र साक्षी हैं। आप सबसे क्षमा माँगने आए हैं।”

“वह एक शब्द नहीं बोल पाएगा। जैसे आपके सामने रोने लगा था, रोने लगेगा।”

“अरे, तब तो और भी काम बन जाएगा। जनता का रहा-सहा संदेह समाप्त हो जाएगा। बात एकदम हमारे पक्ष में हो जाएगी।”

“मुझे तो लगता है कि जैसे ही आप उसे प्रकट करेंगे, मृत्यु एकदम उसपर झपट पड़ेगी।”

“यह स्थिति और भी हमारे पक्ष में होगी।” मैंने कहा, “पांडवों के प्रति सहानुभूति प्रकट होने के साथ कौरवों के प्रति आक्रोश भी भड़केगा। हर स्थिति में हमारा राजनीतिक लाभ होगा।”

अपने राजनीतिक लाभ के लिए किसीकी हत्या हो जाए, उद्धव को यह पसंद नहीं था; पर मेरा सोचना था कि बड़े लाभ के लिए ऐसे बलिदान तो देने ही होते हैं। मैंने उसे समझाया—“देखो उद्धव, जब सिंहासन अपने पक्ष में न हो तो धरती को अपने पक्ष में करना चाहिए। सिंहासन डोलने लगेगा।”

□

आज पांडवों की आभार प्रदर्शन यात्रा निकलने को थी। हम लोगों की तैयारी प्रातः से ही आरंभ होने लगी। मैंने पांडवों को पहले से ही कह रखा था कि आज आप लोग द्रौपदी को साथ लेकर महाराज, पितामह और प्रपितामही से मिलिएगा। उनके चरण स्पर्श कीजिएगा, आशीर्वाद लीजिएगा और आज की योजना बनाइएगा।

इसके विषय में मैंने भीम से पूछा; क्योंकि आजकल वही सबसे अधिक मेरे पास आता था, तब उसने बताया—“प्रपितामही तो बहुत खुश हुई। बोलीं, ‘तुम लोगों ने एक उत्तम कार्य सोचा है। जो जाति या व्यक्ति दूसरों का किया उपकार नहीं भूलता, उसकी अस्मिता कभी नष्ट नहीं होती।’

“पर जब हम लोगों ने पितामह के चरण छुए, उन्हें अपना कार्यक्रम बताया तो वे बड़े गंभीर हो गए। बोले, ‘इस सबकी क्या आवश्यकता थी?’ ”

“तब तुम लोगों ने क्या कहा?” मैंने पूछा।

“हम लोग मौन ही रहे।” भीम बोला।

यह अच्छा ही हुआ, मेरे मन ने कहा। पर मैं कुछ बोला नहीं।

भीम ही बोलता गया—“जब हम लोग महाराज के यहाँ गए और आपके आदेश का पालन किया, तब तो उन्हें जैसे साँप सूँघ गया। वे कुछ बोले नहीं। उनके चेहरे का रंग एकदम बदल चुका था।”

“और आप लोग विदुर चाचा के यहाँ नहीं आए?” मैंने पूछा।

“उनके संबंध में आपने कोई आदेश नहीं दिया था।” भीम बोला, “पर वे महाराज के यहाँ मिलने गए थे। जब हम लोगों ने महाराज के चरण छुए तब उनके भी छुए।”

“और वे भी मौन ही रहे?” मैंने पूछा।

“नहीं, उन्होंने आशीर्वाद दिया कि भगवान् तुम्हें अपने उद्देश्य में सफल करें।”

आज एक ही भूल हुई। पांडवों का रथ सीधे राजभवन से निकलकर मुख्य द्वार से होते हुए राजपथ पर चला जाना चाहिए था। हम लोग वहीं उनसे मिलते। हमारा मिलना अप्रत्याशित होता। पर वे सीधे अतिथिभवन में आए। यात्रा भी समय से कुछ पूर्व शुरू कर दी। इसीलिए अतिथिभवन में उन्हें कुछ प्रतीक्षा करनी पड़ी। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों को समझते देर न लगी कि यह सारी योजना मैंने ही बनाई है।

पर व्यक्ति का सोचा पूरा-का-पूरा होता कहाँ है! आज भी नहीं हुआ। पूरी आभार प्रदर्शन यात्रा अतिथिभवन से ही निकली।

कुछ देर तो उद्धव ने भी की। वह विरजा को लेने पता नहीं कहाँ चला गया। उसके रहने की जगह उसने इतनी गोपनीय रखी कि उसने मुझे भी नहीं बताया था।

इसी बीच दुर्योधन आ धमका। बड़े आक्रोश में था।

मैंने उसे देखते ही कहा, “आप लोग भी चल रहे हैं न?”

“हम लोगों के चलने की आवश्यकता क्या है!” वह उबलते हुए बोला और मुझे एक तरफ ले जाकर कहने लगा—“यदि यह सब करना ही था तो इसकी पूर्व सूचना हमें दी जानी चाहिए। हम सुरक्षा की व्यवस्था करते। मार्ग में सैनिक लगाते। अब कोई बात हो जाएगी तो उसका उत्तरदायित्व किसपर होगा?”

“निश्चित ही पांडवों पर होगा। उन्हें आपको सूचित करना चाहिए था। वे शासकीय परंपराओं से परिचित नहीं हैं। यदि परिचित होते तो उनकी यह हालत होती!” मैंने कहा और फिर एकदम सहजभाव से मैंने अपनी मुद्रा बदली—“आप क्यों चिंता करते हैं? यह तो मुख्यतः प्रजा का आयोजन है। उनके प्रतिनिधि कई बार महाराज से मिल चुके हैं। वे अपनी सुरक्षा व्यवस्था स्वयं कर लेंगे। फिर हम लोग कर ही क्या सकते हैं? जो होना है, वह तो होकर ही रहेगा। आखिर आप लोगों ने कितनी सुरक्षा व्यवस्था वारणावत में की थी! राजभवन को जलना था, वह जलकर ही रहा।”

दुर्योधन चुप हो गया। उसे लगा, उसके क्रोध पर उसकी ही आग उड़ेल दी गई। वह चला गया।

मैंने तुरंत पांडवों से कहा, “साँप फन पर मार खाकर गया है। जरा सावधान रहना।”

“जब आप हैं तब हमारे सावधान रहने की आवश्यकता क्या है?” युधिष्ठिर बोले।

अब विरजा भी आ गया था। मैंने उसे अपने रथ पर बिठाया। वह बैठ नहीं रहा था। मैंने कहा, “विरजा, लगता

है, अब जीवन का मोह नहीं है तुझे।”

“अब जीकर क्या करूँगा?” विरजा बड़ी विरक्ति से बोला, “पश्चात्ताप में झुलसने के लिए जी रहा था।...आप लोगों से क्षमा माँगकर...मैंने वह आग बुझा ली। जीने का उद्देश्य पूरा हो गया।” इसके बाद वह सिसकने लगा। आज भी उसका पश्चात्ताप उसकी आँखों में पिघलता दिखाई दिया।

“आज तुम्हें जनता से क्षमा माँगनी है।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“क्या...क्या मेरा अपराध इतना बड़ा है?” वह बोला, “जिनका अपराध मुझसे बड़ा है, जो मुख्य रूप से अपराधी हैं, वे तो हस्तिनापुर का सिंहासन पा गए। और...और मैं?...उनके हाथों की कठपुतली, आज अपनी करनी पर रो रहा हूँ।”

मैं केवल मुसकराता रहा।

सारी व्यवस्था मैंने छंदक को सौंप दी थी। आखिर वह मेरी प्रतिमूर्ति ही है। उसने सबसे पहले युधिष्ठिर का रथ रखा—उसपर द्रौपदी भी थी। उसके बाद भीम और अर्जुन के रथ थे। उसके बाद एक बड़े रथ पर नकुल और सहदेव को साथ लेकर कुंती बुआ बैठी थीं, जिससे लोगों को यह कहने का अवसर न मिले कि ये माद्री के पुत्र हैं, इनकी किस प्रकार उपेक्षा की गई है।

इसके बाद भैया का रथ था और फिर मेरा। उसी रथ पर मेरे पीछे दुबककर विरजा बैठा था। कुछ संकोचवश और कुछ अपने अपराधबोध के कारण वह सकपकाया-सा था। मेरे रथ के बाद ही सात्यकि, उद्धव आदि के रथ थे। पांचाल से आए लोग और सारे सैनिक योजनापूर्वक लगाए गए थे। फिर भी आपको जानकर आश्चर्य होगा कि प्रातः दुर्योधन के आने का इतना प्रभाव तो पड़ा ही कि अतिथिभवन के सारे लोग हमारे साथ नहीं आए। सुशर्मा भी कहीं दुबक गया।

इससे एक बात तो स्पष्ट हो गई थी कि हस्तिनापुर की विभाजन रेखा ने आपसी सौमनस्य को भी अच्छी तरह विभाजित कर दिया था। राजभवन से कोई भी साथ नहीं आया। धृतराष्ट्र के एक सौ एक पुत्रों में से एक भी नहीं।

पर प्रजा में अद्भुत उत्साह था। पूरा राजपथ खचाखच भरा था। चारों ओर नरमुंड ही दिखाई दे रहे थे। तिल भी फेंकिए तो धरती तक न पहुँचे। बस एक ही ध्वनि चारों ओर गूँज रही थी—‘अभिनव प्रह्लाद अमर हों।’ ‘धर्मराज चक्रवर्ती हों।’ और जब मेरा रथ देखते थे तो ‘द्वारकाधीश की जय’ के भी नारे लगने लगते थे।

अट्टालिकाओं, अलिंदों, वातायनों आदि से नारियाँ और बच्चे पुष्पवर्षा कर रहे थे। नगर में अनेक स्वागत द्वार बने थे। उनपर हमारा रथ रोक लिया जाता था। वहाँ कलश लिये अपनी परंपरागत वेशभूषा में महिलाएँ हमारा स्वागत करती थीं। हमपर पुष्प, रोली और अक्षत फेंकती थीं; क्योंकि भीड़ इतनी थी कि वे हमें लगा नहीं पाती थीं।

उन द्वारों पर कन्याएँ दूर से ही हमारी आरती उतारती थीं। ब्राह्मण स्वस्तिवाचन करते थे। रथ पर बैठे हम सभी लोग हाथ जोड़कर मुसकराते हुए जनता का अभिवादन भी करते थे और उनका अभिवादन स्वीकार भी करते थे।

हमारे हस्तिनापुर में आने पर हमारा जो स्वागत हुआ था, उससे आज का स्वागत कई गुना बढ़-चढ़कर था। वह अचानक हो गया था। कुछ को सूचना मिली थी, कुछ को नहीं मिली थी। फिर जनता के मन में यह बैठ गया था कि हमारे साथ अन्याय हुआ है और हो रहा है। पूरी भीड़ ने बाढ़ की गंगा की तरह हिलोरें लेती हुई सारी व्यवस्था बहा दी थी। सरकारी व्यवस्था तो पहले से नदारद थी। जन व्यवस्था भी न रह गई थी। सामान्य सुरक्षा के नाम पर यत्र-तत्र मौन खड़े सैनिक भी अपनी सुरक्षा के लिए पलायित हो गए थे।

भीड़ में पांडवों के प्रति अद्भुत सहानुभूति थी, शुभाशंसा थी और थी जन सहयोग की अपरिमित भावना। ममता और आत्मीयता इतनी कि वह पग-पग पर हमारा पग पकड़ लेती थी। हम पूर्वाह्न में चले और संध्या होने को

आई, पर अपने गंतव्य पर नहीं पहुँच पाए।

अंत में किसी प्रकार हम गंगा के किनारे उस विशाल भू-भाग में पहुँचे, जहाँ हमारे लिए विशाल मंच बनाया गया था। वहाँ भी भीड़ पहले से जमा थी। यहाँ आकर यह जनगंगा समुद्र संगम में परिवर्तित हो गई। अब चंद्रसेन और उसके साथी यहाँ दिखाई दिए। वे दौड़े हुए मेरे पास आए और मुझे रथ से उतारकर मंच पर ले जाने लगे।

मैंने कहा, “भाई, पहले पांडवों को ले चलो।”

“उनको तो लोग ले चलेंगे ही।” उसने कहा, “मैं तो सभा के अध्यक्ष को ले चलने आया हूँ।”

“यह उचित नहीं होगा।” मैंने कहा, “यह प्रजा की सभा है। इसकी अध्यक्षता महापौर को करनी चाहिए।”

“अब न मैं हस्तिनापुर का महापौर हूँ और न भविष्य में होने की कोई संभावना है।” उसने कहा, “लोगों का आग्रह है कि इस सभा की अध्यक्षता आप ही करें।” उसने यह भी धमकी दी—“यदि आप मेरा आग्रह स्वीकार न करेंगे तो मैं पूरी भीड़ आपके पास भेज दूँगा। वह उठाकर आपको मंच पर बिठा देगी।”

मैं लाचार था। मुझे चलना पड़ा। मैंने देखा कि विरजा को कोई पूछ नहीं रहा है। मैंने कहा, “उनको भी लेते चलें। पर ये धक्का-मुक्की में चल नहीं पाएँगे। इन्हें उठाकर ले चलना पड़ेगा।”

चंद्रसेन ने उसका परिचय पूछा।

मैंने कहा, “ये इतिहास में दबी लाक्षागृह की अग्नि की एक चिनगारी हैं।”

वह आश्चर्यचकित-सा मुझे देखता रह गया।

सबसे ऊँचे सिंहासन पर मुझे बिठाया गया। मुझसे कुछ नीचे सात सिंहासन और लगाए गए थे। ये पाँचों पांडव, द्रौपदी और कुंती बुआ के लिए थे। इनके नीचे चंद्रसेन का मंचक था। उसकी अगल-बगल में कुछ और लोग थे, जिन्हें मैं नहीं जानता था। पर उनसे एक बड़ी चूक हो गई थी। भैया, सात्यकि, उद्धव आदि के बैठने के लिए कोई उपयुक्त स्थान नहीं था। मैंने तुरंत अपनी बगल में कई मंचक लगवाए। तब उन्हें ससम्मान स्थान दिया गया—और उन्हींके बीच विरजा को भी।

सभा शुरू होने के पहले औपचारिक रूप से मेरे नाम की घोषणा हुई। मुझे और मेरे साथियों को फूलमालाओं से लाद दिया गया। फिर चंद्रसेन सभा का संचालन करने लगा। पहले मेरा प्रशस्ति-गान हुआ। मैंने बीच में ही टोका भी कि यह पांडवों की आभार प्रदर्शन सभा है, किसीकी अभिनंदन सभा नहीं; पर वहाँ कौन सुननेवाला था! जो कोई बोलने के लिए मंच पर खड़ा होता, वह मेरी प्रशंसा में दो-एक शब्द अवश्य कहता; फिर पांडवों का प्रशस्ति-गान गाता। इसके बाद उनकी विपत्ति और उनपर हुए अत्याचारों की भावभीनी चर्चा करता। अभिनव प्रह्लाद के नारे लगते। कुछ वक्ताओं ने पांडवों के पराक्रम और द्रौपदी स्वयंवर की भी चर्चा की थी; पर सरसरी तौर पर। संदर्भ का एक बिंदु मात्र स्पर्श किया था।

दिन डूब गया, पर वक्ताओं की आवाज डूबनेवाली नहीं थी और न उनकी संख्या ही कम होनेवाली थी। अंत में मुझसे अध्यक्षीय उद्बोधन के लिए आग्रह किया गया।

“बंधुओ, यह सत्य है कि पांडवों के प्रति आपका जो स्नेह सिंधु उमड़ रहा है, उसे न हम समेट सकते हैं और न आप उसे बाँध सकते हैं। केवल हम उसमें डुबकियाँ लगा सकते हैं। वह तो लगाते ही रहेंगे। वस्तुतः स्नेह और आत्मीयता का उद्रेक बोलने की सीमा में आता ही नहीं। यदि हम-आप अब बोलना बंद करें तो अति उत्तम हो; क्योंकि अँधेरा होने वाला है और मशालों की कोई व्यवस्था नहीं है। हमें पांडवों को भी सुनना है। अब उन्हें भी बोलने का अवसर दें।” इतना कहकर मैं बैठ गया।

इसके बाद एकदम बोलने का क्रम बदल गया। युधिष्ठिर बोलने के लिए खड़े हुए। चंद्रसेन ने मेरे कान में धीरे

से कहा, “अभी तो मैं बोला ही नहीं।”

मैंने उसे समझाया—“आप धन्यवाद दे दीजिएगा।”

युधिष्ठिर ने अपना वक्तव्य आरंभ किया। यथोचित संबोधन के बाद उन्होंने बड़ी भावुकता से अपना वक्तव्य आरंभ किया। उन्होंने जो मुख्य बातें कहीं, वे इस प्रकार थीं—

“हमें पिता का समुचित स्नेह नहीं मिला; पर आपके स्नेह ने कभी उस स्नेह का अभाव अनुभव नहीं होने दिया—और आज भी वह भरपूर हमें मिल रहा है, यह हमारा सौभाग्य है। वही एक ढाल है, जिसपर हम लोगों ने विपत्ति की हर मार सही है—और आज भी आपके स्नेह की ढाल का ही भरोसा है।” इतना सुनते ही जनता उन्मत्त हो उठी। उसने वह गगनभेदी नारे लगाए कि क्या बताऊँ।

उनके भाषण का दूसरा बिंदु था—“अब हम लोग हस्तिनापुर से जाने वाले हैं। जब तक हैं, अपने घर में ही अतिथि हैं। आपका आशीर्वाद ही अब हमारे साथ रहेगा।”

इतना सुनते ही जनता समवेत स्वर में चिल्ला उठी—“हम भी आपके साथ रहेंगे!”

“इस आत्मीयता के लिए हम आभारी हैं।” युधिष्ठिर बोले, “पर आप इस महानगरी के निवासी हैं। उस अरण्य प्रदेश में हम क्या आपकी व्यवस्था कर पाएँगे? वहाँ शायद हम अपनी ही व्यवस्था ठीक से न कर सकें। राजधानी बसाना कोई हँसी-खेल तो है नहीं।”

“हम आपका पूरा सहयोग करेंगे।” जनता ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की।

युधिष्ठिर बोलते जा रहे थे—“पर हम दुःखी नहीं हैं और न हताश हैं। हम उस खांडवप्रस्थ में जा रहे हैं, जो हमारे पूर्वजों की राजधानी थी। हम नहुष, ययाति जैसे यशस्वी राजपुरुषों की राजधानी से जुड़ रहे हैं—और हमें विश्वास है कि आपके आशीर्वाद एवं सहयोग से हम उन पूर्व महापुरुषों की मर्यादा के अनुकूल खांडवप्रस्थ के जंगल को द्वारका में बदल देंगे; क्योंकि द्वारकाधीश हमारे साथ हैं।” इसपर जनता ने ‘साधु-साधु’ की आवाज लगाई, करतलध्वनि की।

इसके बाद युधिष्ठिर के स्वर में और भावुकता आई—“स्नेह का कोई प्रतिदान नहीं होता और न आत्मीयता के प्रति कोई कृतज्ञता व्यक्त की जा सकती है। फिर मैं आभार व्यक्त करने की औपचारिकता क्यों दुहराऊँ! प्रेम की भाषा तो हृदय की जबान से बोली जाती है और हृदय के कान से सुनी जाती है। अब एक अंतिम बात कहकर मैं आपसे बिदा लूँगा—इस संकल्प का हमने हमेशा पालन किया है और आपके सामने भी संकल्प लेता हूँ कि मैं कभी भी धर्म के मार्ग से विचलित नहीं होऊँगा। वैभव तो आता और जाता रहता है, राज्य भी बनते और बिगड़ते रहते हैं; पर यदि धर्म का आँचल छूट गया तो फिर मनुष्य कहीं का नहीं रहता।

“सारे वैभव तो सांसारिक हैं। संसार में रहते तक ही सब साथ दे सकते हैं। एक धर्म ही है, जो संसार से जाते समय भी साथ जाता है।” इतना कहकर वह बैठ गए। फिर तो लगातार नारे लगते रहे। करतलध्वनि होती रही।

इतना प्रभावशाली और अवसर के अनुकूल भाषण मैंने कभी युधिष्ठिर का सुना नहीं था। इसकी अद्भुत जन-प्रतिक्रिया हुई। सचमुच यह युधिष्ठिर नहीं, धर्मराज बोले थे। अब किसीको बोलने की आवश्यकता नहीं थी। अँधेरा भी गाढ़ा हो रहा था। यद्यपि कुछ मशालें मंच पर लाकर लगा दी गई थीं; पर सारा जन-समुदाय अंधकार में था।

चंद्रसेन को लगा कि मैंने पहले कन्हैया को बोलने को कहकर गलती की।

इस भूल का मैंने तो सुधार कर दिया, पर अब चंद्रसेन ने भी स्वयं को सुधारा और जनता से क्षमायाचना करते हुए मुझसे बोलने का फिर निवेदन किया।

मुझे कल्पना नहीं थी कि फिर बोलना पड़ेगा, इसलिए मानसिक रूप से मैं तैयार नहीं था। मेरा मन तो जन-

भावुकता में ही डूबता-उतराता रहा। लंबे भाषण के लिए न तो अवसर था और न मनःस्थिति। मैंने अत्यंत संक्षिप्त भाषण किया।

पहली मुख्य बात तो मैंने यह कही कि मैं पांडवों के प्रति व्यक्त की गई आपकी आत्मीयता से अभिभूत हूँ। जिसे प्रजा की इतनी आत्मीयता मिले, उसकी अस्मिता कभी नष्ट नहीं होगी। चाहे वह जंगल में रहे या जलते हुए लाक्षागृह में। यह आपकी आत्मीयता ही थी कि पांडवों पर कोई आँच नहीं आई और आगे भी नहीं आएगी।

कुछ देर तक तो ऐसा हंगामा हुआ कि मैं कुछ बोल नहीं पाया। जब ज्वार थमा तब मैंने मुख्य उद्घोषणा की —“यों तो पांचाल से पांडवों को बहुत कुछ मिला। महाराज धृतराष्ट्र ने भी बड़ी कृपा कर अपना आधा कोष दिया। वे चाहते तो नहीं भी दे सकते थे। पांडव क्या करते? धर्मराजजी ने सारा अधिकार उन्हें दे रखा था। पर वे न्यायमूर्ति हैं, उन्होंने पांडवों का हिस्सा दिया। पर इतने से तो एक घनघोर जंगल को आधुनिक राज्य में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। अतएव मैं द्वारका के यादवों की ओर से द्वारका के कोष का पाँचवाँ हिस्सा पांडवों को देने की घोषणा करता हूँ। और अंत में तो उन्हें आपका ही भरोसा है।”

मेरा अंतिम वाक्य नहीं सुना गया। द्वारका के कोष के पाँचवें हिस्से के अनुदान की बात सुनते ही जन-समुद्र में तूफान आ गया। ‘द्वारकाधीश की जय’ के लगातार नारे लगने लगे। बेचारा चंद्रसेन दो-चार शब्दों में किसी प्रकार धन्यवाद दे पाया।

अब मुझे विरजा याद आया। मैंने सोचा, अवसर अच्छा है। इसी समय इसका भी उपयोग कर लिया जाए। सभा विसर्जित हो, इसके पहले ही पूरी सभा को रोकते हुए मैं जोर से बोला, “आप यह सुनकर चकित होंगे कि इतिहास में दबी लाक्षागृह की अग्नि की एक अंतिम चिनगारी को हम ले आए हैं। वे आप सबसे क्षमायाचना कर अपने पापों का प्रायश्चित्त करेंगे। मैं उन्हें प्रस्तुत कर रहा हूँ।”

अब उस बूढ़े को मैंने सहारा दिया। काँपता-हिलता बूढ़ा खड़ा हुआ। उसने हाथ जोड़कर चारों ओर देखने की चेष्टा की। जितनी गरदन घूम सकती थी उतनी घुमाई और काँपते स्वर में बोला, “उस पाप का एक भागीदार मैं भी हूँ। मुझे क्षमा कीजिए।” इतना कहकर वह फफककर रोने लगा।

मैंने उद्धव की ओर संकेत किया, इसे सँभालो। इसकी रक्षा करो। मेरा काम पूरा हो गया।



## नौ

इस सभा के बाद एक ऐसा माहौल बना कि सचमुच हस्तिनापुर का सिंहासन हिलता दिखाई देने लगा। धरती की अँगड़ाई ने उन्हें चिंता में डाल दिया। बदली हुई परिस्थिति में महाराज धृतराष्ट्र ने एक गुप्त बैठक बुलाई, जिसमें महाराज ने कुछ चुने हुए लोगों को ही आमंत्रित किया; जिनमें शकुनि, दुर्योधन, विकर्ण, युयुत्सु, पितामह, महामात्य के अतिरिक्त अमात्य परिषद् के भी कुछ लोग थे। पूरी अमात्य परिषद् भी नहीं थी। आश्चर्य था कि महाराज ने दुःशासन जैसे अपने प्रिय पुत्रों को भी छोड़ दिया था। कर्ण की अनुपस्थिति भी खटकनेवाली थी। महिलाओं में केवल गांधारी थी।

उस बैठक के लिए कोई कार्य-सूची नहीं थी। महाराज ने अपनी व्यग्रता व्यक्त की—“जो स्थिति है, उसका आप भी अनुमान कर रहे होंगे। लगभग सारी प्रजा पांडवों के पक्ष में है। उसमें ऐसा प्रचार हो गया है कि पांडवों के विरुद्ध मैंने बराबर अन्याय किया है और करता जा रहा हूँ। वे पांडवों को ‘अभिनव प्रह्लाद’ की संज्ञा देते हैं। अब आप ही बताएँ, क्या मैं हिरण्यकशिपु हूँ?”

“नहीं, महाराज, नहीं। बिल्कुल नहीं।” विदुरजी के कथनानुसार उस समय केवल शकुनि बोला था, और सभी गंभीर रूप से चिंतित दीख रहे थे।

महाराज सोचते हुए कुछ रुक-रुककर बोलते चले जा रहे थे—“जन-भावना और जनमत के विरुद्ध कोई सत्ता बहुत दिनों तक टिकी नहीं रह सकती। अब आप ही बताइए, हमें क्या करना चाहिए?”

“सबसे पहले उस कूटनीतिज्ञ का पता लगाना चाहिए, जिसने जनता को बहकाने का कुचक्र रचा है।” यह बात भी शकुनि ने कही थी। विदुरजी का कहना था कि उसका स्पष्ट संकेत मेरी (कृष्ण की) ओर था।

उन्होंने बताया कि इसपर महाराज ने शकुनि को बड़ी जोर से डाँटा—“क्या करोगे उसका पता लगाकर? उसका एक रोआँ भी तुम टेढ़ा कर सकते हो? है तुममें सामर्थ्य? अब तक क्या तुमने कम किया है? जो भी किया, वही तुम्हारे विरुद्ध गया! ज्यों-ज्यों किनारे की ओर लपकने की चेष्टा की त्यों-त्यों डूबते गए!”

इसके बाद शकुनि चुप हो गया। ऐसा चुप जैसे वह वहाँ हो ही न। केवल उसका शरीर वहाँ रह गया हो।

महाराज ने फिर कहा, “अब आप ही लोग बताएँ कि हम क्या करें?” उन्होंने विदुरजी को भी सावधान किया—“इसका आप अवश्य ध्यान रखिएगा कि इस समय हस्तिनापुर के अस्तित्व का सवाल है, मुझे या मेरे बेटों को प्रसन्न करने का नहीं। इसलिए आप किसी प्रकार के दबाव से मुक्त होकर हमारा मार्गदर्शन करें।”

“शास्त्र कहता है कि ऐसी स्थिति में हमें जन-भावना का आदर करना चाहिए। उसका सहयोग लेना और उसे सहयोग देना चाहिए।”

“पर जो कुछ हो चुका है, उससे पीछे भी तो लौटा नहीं जा सकता।” यह आवाज दुर्योधन की थी।

“किंतु पीछे लौटने को कहता कौन है!” विदुरजी बोले, “अब राज्य का विभाजन हो चुका है। उसका कार्यान्वयन यथाशीघ्र करना चाहिए।”

विदुरजी का कहना था कि उनके इस प्रस्ताव का पितामह ने भी समर्थन किया और गांधारी ने भी।

“तब तुम्हीं बताओ, हम क्या करें?” महाराज बोले।

“हमें राजशिल्पियों को भेजकर हस्तिनापुर की जनता के सहयोग से खांडवप्रस्थ के पुराने राजभवन का यथाशीघ्र



जीर्णोद्धार कराना चाहिए।”

“पर हमें एक बात याद रखनी चाहिए।” इस बार पितामह बोले, “यह बात विशेष रूप से, महाराज, मैं आपके पुत्रों और शकुनि से कह रहा हूँ कि इस बार वैसे राजशिल्पी न भेजे जाएँ जैसे वारणावत में भेजे गए थे।”

इतना सुनना था कि महाराज पर घड़ों पानी पड़ गया। पितामह ने भी अपनी प्रकृति के प्रतिकूल यह बात कही थी। दुर्योधन ने पहले शकुनि की ओर देखा, फिर उसकी आँखें धरती में गड़ गईं।

इसके बाद महाराज बोले, “उस समय की बात और थी तथा आज की और। आज यदि वैसे शिल्पी भेज दिए जाएँ जैसे वारणावत में भेजे गए थे, तो जनता ही उन्हें चबा जाएगी।”

इस गुप्त बैठक की उतनी ही बात छलककर बाहर आ सकी, जितनी विदुरजी ने बताई; पर इस बैठक के बाद से कौरवों के व्यवहार में अप्रत्याशित परिवर्तन आया। दूसरे ही दिन नगर में मुनादी करा दी गई कि खांडवप्रस्थ में स्थित हमारे पूर्वजों के राजभवन और दुर्ग का पुनर्निर्माण कराया जा रहा है। पक्ष भर में उसे पूरा कर लेने की राजकीय योजना है। किंतु केवल राजकीय शिल्पियों से यह कार्य संभव नहीं है। इसमें प्रजा का सक्रिय सहयोग अपेक्षित है। महाराज की ओर से आपकी सेवा आमंत्रित है। जो लोग इस पवित्र कार्य में भागीदार बनना चाहें, वे अपना नाम राज्य के निर्माण विभाग को दे दें। आज से ठीक तीसरे दिन अमृत सिद्ध योग में पुनर्निर्माण आरंभ किया जाएगा। यह योग उस दिन मध्याह्न से तीन घड़ी तक रहेगा।

जनता में इसकी बड़ी अच्छी प्रतिक्रिया हुई। लोगों ने सोचा, विलंब से ही सही, कौरवों में सद्बुद्धि तो आई। लोगों ने खुले मन से सहयोग दिया।

इधर पांडवों एवं कौरवों में भी निकटता और आत्मीयता बढ़ी। दुर्योधन अपने बंधुओं के साथ प्रपितामही के यहाँ आने-जाने लगा। एक दिन पता नहीं क्या सोचकर द्रोणाचार्य भी विदुरजी के आवास पर मुझसे मिलने आए। उन्होंने अपनी सफाई में बहुत सी बातें कहीं। दो-एक बातें ऐसी थीं, जो बड़ी गहराई तक मुझे छू गईं।

उन्होंने बातों के क्रम में ही कहा—“उस आचार्य की बड़ी विचित्र स्थिति होती है, द्वारकाधीश, जो अपनी विद्या स्वर्णखंडों पर बेच देता है, जो राजाश्रित होकर वेतनभोगी हो जाता है। अब मैं समाज का नहीं रहा, हस्तिनापुर का हो गया हूँ। अब आश्रम की सहजता और पवित्रता का स्थान राजभवन की विलासिता ने ले लिया है। चाकर की लाचारी से भी विवश हूँ।”

मैं नहीं समझ पाया था कि यह द्रुपद से प्रतिशोध लेनेवाला ब्राह्मण बोल रहा है या सचमुच एक पथच्युत आचार्य का पश्चात्ताप! फिर आज आचार्यजी की मनःस्थिति ऐसी क्यों है?

शीघ्र ही मेरी जिज्ञासा का समाधान हो गया, जब आचार्यजी ने कहा, “यह तो तुम जानते हो, गोपाल, कि अर्जुन मेरा सबसे प्रिय शिष्य है। पांचाल से द्रौपदी को लाने के बाद वह मुझसे मिला तक नहीं। यह तो ठीक है कि परिस्थितियों ने मुझसे उसे छीनकर द्रुपद की गोद में बिठा दिया। उसका पक्ष बदल गया। मेरा स्थायी शत्रु उसका अपना हो गया; पर गुरु-शिष्य का भी संबंध होता है। फिर अर्जुन मेरा शिष्य ही नहीं था, उसके प्रति मेरा मोह अपने पुत्र से भी अधिक था। उसको अद्वितीय रखने की मेरी आकांक्षा ने मुझे इस सीमा तक मोहग्रस्त कर दिया था कि मैंने एकलव्य का अँगूठा कटवा लिया। भारतीय मनीषा के इतिहास में यदि कभी मेरी चर्चा होगी तो एक घृणित आचार्य के रूप में ही होगी। भविष्य का कोई शिष्य यदि अपने आचार्य से अप्रसन्न होगा तो सीधे-सीधे कहेगा कि आपके पूर्वज द्रोण ने जो मेरा अँगूठा कटवा लिया था, उसे वापस कर दीजिए। तब उस भावी आचार्य की दृष्टि मेरे पापों के कारण धरती में गड़ जाएगी। कितनी पीढ़ियों तक जीवित रहेगा मेरा पाप!”

आज आचार्यजी की वाणी अविराम चल रही थी; जैसे पश्चात्ताप के आँसुओं से भीगी उनके मन की सुलगती

गीली लकड़ी लगातार धुआँ उगल रही हो। मैंने स्पष्ट अनुभव किया कि वे अर्जुन को छोड़ सकते हैं, पर उसके मोह को वे छोड़ नहीं पा रहे हैं। उनका सबसे बड़ा कष्ट तो यह था कि राज्य तो बँट गया, पर वे बँट नहीं पाएँगे। राज्य के हाथों बिका हुआ आचार्य राज्य की सीमा रेखा का भी उल्लंघन नहीं कर पाएगा।

शायद वे यही कहने मेरे पास आए थे। मैंने उन्हें सांत्वना दी। आश्वस्त किया कि परिस्थितियाँ भले ही अर्जुन को आपसे छीन लें, पर उसको मिला आपका शिष्यत्व वह कभी छीन नहीं पाएँगी। वह जहाँ भी रहेगा, आपका ही शिष्य कहलाएगा।

फिर मैंने अर्जुन के विषय में भी बताया—“इधर वह मुझसे भी बहुत कम मिलता है—और जब भी मिलता है, बहुत कम बोलता है; मूक, अंतर्द्वंद्व की स्थिति में, किसी तनाव को झेलता हुआ। हो सकता है, आप जैसी मानसिकता में वह भी हो। लगता है, आग दोनों ओर बराबर लगी है।”

आचार्य थोड़े संतुष्ट हुए और चले गए।

जब तक वे बैठे रहे, विदुरजी उस कक्ष में नहीं आए। उनके जाते ही वे मुसकराते हुए घुसे—“आज बड़ी लंबी बात हो रही थी आचार्य से!”

“बात कहाँ हो रही थी! बस एक हाथ से ताली बज रही थी। वे बोलते जा रहे थे और मैं सुनता जा रहा था।” फिर मैंने उन्हें कई बातों का सारांश बताया।

उन्होंने भी स्वीकार किया—“आज हर संवेदनशील व्यक्ति की यही हालत है। प्रत्येक के सामने यही सवाल है कि वह विभाजन रेखा के इधर रहे या उधर जाए।”

“किसी ओर रहे, पर दोनों की भलाई चाहे।” मैंने कहा।

“अधिकांश ऐसे ही हैं।” विदुरजी बोले, “बहुत थोड़े लोग ऐसे हैं, जो एक ओर रहकर दूसरी ओर आग लगाने की कोशिश करते हैं।”

इसी सिलसिले में शकुनि का नाम आया।

मैंने कहा, “आजकल वह दिखाई नहीं देता। अभी कल दुर्योधन अतिथिभवन में आया था, तब भी वह उसके साथ दिखाई नहीं दिया; जबकि जहाँ भी मिलते थे, मामा-भानजे साथ ही मिलते थे।”

“आजकल वह नाराज है।” विदुरजी ने हँसते हुए कहा, “मैंने उस गुप्त बैठक की पूरी बातें तुम्हें नहीं बताई थीं; जबकि मुझे बतानी भी नहीं चाहिए।” उन्होंने हँसते हुए कहा।

फिर मेरे बहुत कहने पर वे धीरे-धीरे खुले—“बात यह थी कि वह तुमपर बार-बार आक्रमण कर रहा था और हर बार महाराज उसे डाँट देते थे। अंत में झुँझलाकर उसने कहा, ‘पता नहीं कहाँ से उस आभार प्रदर्शन सभा में उसने उस खूसट बूढ़े को खड़ा कर राजनीति कर दी और कहा कि यह विरजा है। अरे, विरजा भला आज तक जीवित होगा! हमें इस नाटक का भी जवाब खोजना चाहिए।’

“महाराज ने फिर उसे डाँटा और कहा, ‘तुम व्यर्थ की बात करते हो। चुपचाप बैठ जाओ। आज तक तुमने जिसे भी मारने की कोशिश की, वही जीवित बच गया। यदि विरजा भी जीवित बच गया हो तो आश्चर्य क्या!’ ”

“यह महाराज बोल रहे थे कि उनके सिर पर चढ़ा सत्य का भूत बोल रहा था!” मैंने कहा।

वस्तुतः विदुरजी को भी आश्चर्य था कि उस दिन महाराज को हो क्या गया था। वे भविष्य से काफी भयभीत लग रहे थे। उन्हें कुछ ऐसा लगने लगा था कि हम लोग जिस रास्ते से चल रहे हैं, वह गलत है। हमें कोई दूसरा रास्ता पकड़ना चाहिए। इसी संदर्भ में उन्होंने शकुनि को उस दिन एक ओर डाँट पर डाँट पिलाई और दूसरी ओर यहाँ तक कहा, ‘तुमने तो राजनीति को पासे का खेल समझ रखा है। राजनीति बुद्धि का खेल है, चौपड़ का नहीं।’

विदुरजी का कहना था—“यह बात दुर्योधन को भी बुरी लगी; पर वह कुछ बोला नहीं। शकुनि अपने को सँभाल नहीं पाया। उसकी धमनियों में जैसे उबाल आ गया। उसका चेहरा लाल हो गया। वह बड़बड़ाता हुआ चला गया—‘आप क्या समझते हैं, मैं चौपड़ के फड़ पर ही राजनीति का खेल खेलनेवाला हूँ!’

“इसके बाद वह महाराज के यहाँ दिखाई नहीं दिया।”

□

हस्तिनापुर का हर प्रतिष्ठित व्यक्ति इस संकटबोध से त्रस्त था कि वह जाए तो जाए कहाँ? इधर या उधर? आचार्य द्रोण की तरह बहुतों ने बहुतों से रोना रोया; पर पितामह की प्रतिक्रिया अभी स्पष्ट नहीं हुई। न मैं इधर उनसे मिला—और उन्होंने बुलाया भी नहीं। जब कोई नई बात होने वाली होती या वे किसी धर्म-संकट में पड़ते, तब वह मुझे अवश्य बुलाते।

इधर खांडवप्रस्थ में पुनर्निर्माण का काम जोरों से चलने लगा। इस बार देखरेख के कार्य में महामात्य विदुरजी को लगाया गया था। कौरव बंधु भी आते-जाते थे; पर उनकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं थी। शायद कल भीम और अर्जुन भी गए थे। उनके साथ नकुल भी था। सुना है, विदुरजी ने उन्हें समझा दिया कि तुम्हें अभी यहाँ आने की आवश्यकता नहीं है। गृह-प्रवेश पूजन के पहले यहाँ जल पीना भी तुम लोगों के लिए वर्जित है। फिर वे नहीं गए।

जब मुझे यह बात मालूम हुई तब मैंने इस संदर्भ में विदुरजी से बातें कीं।

उनका संकटबोध दूसरा था। उनका कहना था—“कौरव ऊपर से चाहे जैसे दिखाई पड़ें, भीतर से जले-भुने हैं ही। कभी भी उबल सकते हैं। कहीं कुछ खटपट हो गई तो एक व्यवस्थित चल रहा कार्य बाधित हो जाएगा; यद्यपि यह बात मैंने पांडवों से नहीं कही थी।” विदुरजी ने मुसकराते हुए कहा, “पांडवों को मैंने कुछ और कहा था!” “अर्जुन का कहना है कि हम लोग इसलिए देखने जाते हैं कि कहीं हम फिर न धोखा खा जाएँ।” मैंने विदुरजी से कहा।

“पर इसकी रंच मात्र संभावना नहीं है।” विदुरजी बोले, “एक तो सारा कार्य मैं देख रहा हूँ; फिर प्रजा का अपूर्व सहयोग हमें मिल रहा है। एक-एक ईंट को हजार-हजार आँखें एक साथ देख रही हैं।”

विदुरजी का यह तर्क नीति और राजनीति दोनों दृष्टियों से ठीक था।

सचमुच प्रजा का ऐसा उत्साह किसी नगर या राजनीति के निर्माण में कभी हस्तिनापुरवालों ने देखा नहीं था; पर यह मेरे लिए कोई नई बात नहीं थी। ककुद्मिन के राजभवन को जलते और द्वारका को बनते जिसने देखा हो, उसके लिए यह कोई बड़ी बात नहीं थी। बल्कि लोगों का मनोयोग इतना था और उत्साह ऐसा था कि लोग खांडवप्रस्थ को हस्तिनापुर से भी अच्छा बना देना चाहते थे।

पर प्रपितामही की इच्छा थी कि उसपर कोई नया निर्माण नहीं होना चाहिए। जो कुछ पुराना है, उसीको नया कर देना चाहिए। फिर जब पांडव वहाँ रहने लगे तो वे जैसा चाहेंगे, उसका विकास करेंगे।

यह बात मुझे अर्जुन ने बताई थी।

जब अर्जुन से मैंने आचार्य द्रोण की भावना की चर्चा की तब उसने कहा, “वे एक दिन हमारे यहाँ भी गए थे। प्रपितामही के चरण स्पर्श कर लगभग रोने लगे थे और वही धर्म-संकट उनके सामने दुहराया—‘माता, राज्य तो विभाजित हो गया, मैं कैसे विभाजित होऊँ?’

“‘कहीं आचार्य या आचार्यत्व भी विभाजित होता है!’ प्रपितामही ने मुसकराते हुए कहा, ‘आचार्य तो उसी शिष्य का होता है, जिसे उसका आशीर्वाद प्राप्त होता है—और उसीको वह स्वीकारता भी है।’

“‘पर मेरे सामने दूसरी स्थिति है।’ आचार्यजी बोले, ‘मेरा आशीर्वाद किसी और को प्राप्त है और मुझे स्वीकारना

किसी और को पड़ता है।’

“ ‘इसका तात्पर्य है कि आप बहुत पहले से विभाजित हो चुके हैं, अब क्या विभाजित होंगे!’ प्रपितामही बोलीं, ‘वस्तुतः यही आपका संकट है। इसी संकट के कारण आप स्मरण किए जाएँगे। कालदेवता भले ही आपको इतिहासपुरुषों की श्रेणी में न रख सके, पर वह इतिहास की पोथी में तो अवश्य डाल देगा।’ ”

“तो क्या कहा आचार्य ने?” मैंने अर्जुन से पूछा।

“वे एकदम चुप हो गए। कहते क्या!” अर्जुन ने बताया—“मुझे एकांत में ले जाकर गले लगाकर फफक पड़े—‘अब हमारा क्या होगा?’ वस्तुतः वे पूछना चाह रहे थे कि अब तुम्हारा क्या होगा। उनकी आँखों से मोह और प्रतिशोध दोनों की श्वेत-श्याम धाराएँ बह रही थीं।”

अर्जुन ने बताया—“मैंने कहा, ‘मैं तो दोनों (द्रुपद और द्रोण) के बीच अविभाजित हूँ।’

“ ‘यह कैसे होगा?’ आचार्य बोले।

“ ‘कैसे नहीं होगा! दो कूलों को जोड़ता हुआ एक सेतु नहीं होता!’ मैंने कहा, ‘अब सेतु हूँ, जिसके एक किनारे से मेरे श्वसुर का प्रतिशोध आएगा और दूसरे किनारे से आपका—और सेतु के मध्य में आकर दोनों प्रेम में बदल जाएँगे।’

“ ‘मैंने अपनी ओर से तो ऐसे कई प्रयत्न किए। मैंने शिखंडिन की समस्या हल की। कृष्ण ने ही उसे मेरे पास भेजा था। पर जब यह सत्य द्रुपद को ज्ञात हुआ, वह अपने पुत्र पर ही बरस पड़े कि क्यों गया था तू मेरे शत्रु के यहाँ? मुझे उसका अहसान नहीं चाहिए।’

“ ‘पर सबकुछ जानते हुए वह मुझपर तो नाराज नहीं हुए।’ ” अर्जुन ने बताया—“मैंने हँसते हुए कहा, ‘आप अब चिंता मत कीजिए और इस सेतु पर विश्वास कीजिए।’ ”

अर्जुन के कथनानुसार, “उस दिन वे बहुत मुखर तो नहीं हुए, पर तनावग्रस्त बहुत थे। मन से तो वे हमारे पास थे, पर तन से हस्तिनापुर छोड़ नहीं सकते थे।”

मैं कल से ही सोच रहा था कि सात्यकि और उद्धव को द्वारका भेज दिया जाए। भैया भी यदि जा सकते तो अच्छा होता; पर उनसे कहने का मेरा साहस नहीं था—और न वे मुझे अकेला छोड़ सकते थे। इसीलिए आज फिर विदुरजी के आवास पर मैंने उन लोगों को बुलाया था। समय भी संध्या का था।

सभी के आ जाने के बाद मैंने बात छेड़ी—“उस दिन निश्चित हुआ था कि द्वारका के यादवों की ओर से उनके कोष का पाँचवाँ भाग पांडवों को दिया जाए। इसकी घोषणा भी प्रजा के समक्ष की जा चुकी है। अब यथाशीघ्र यह कार्य कर डालना चाहिए। इसके लिए मेरी राय है कि उद्धव और सात्यकि द्वारका चले जाएँ और धन की व्यवस्था करें; क्योंकि पांडवों को अब धन की आवश्यकता पड़ेगी।”

“आप इस कार्य को जितना आसान समझते हैं, वह उतना है नहीं।” सात्यकि बोला।

“क्यों?”

“कुछ लोग तो बड़ी सरलता से दे देंगे; पर सत्राजित् की मित्र मंडली देगी नहीं।” सात्यकि बोला, “वह आपसे जलता है। आपका विरोधी है। संयोग कुछ ऐसा है कि इस समय मेरे पिता से भी वह अप्रसन्न है।” सात्यकि ने अपना पुराना रोना रोया।

मैंने कहा, “उसे समझाना कि यह यादवों की प्रतिष्ठा का प्रश्न है।”

“तब वह यह कहेगा कि यह तो उनके सम्मान का प्रश्न होगा, जिन्होंने देने का वादा किया है। इस निश्चय को लेने में हमारा कोई योगदान नहीं है और न मैंने कहीं आश्वासन दिया है या घोषणा की है।”

“मित्र, तुम तो यहीं बैठकर उसकी ओर से उत्तर दे रहे हो।” मैंने कहा, “पहले जाओ। उसे सारी परिस्थिति बताओ। उसे पिघलाओ।”

“हिम को पिघलाया जा सकता है, पत्थर को नहीं।” सात्यकि बोला।

मैं बड़े फेर में पड़ा कि इतना धन कैसे इकट्ठा किया जा सकेगा। मैंने सोचते हुए पूछा, “और कृतवर्मा के संबंध में तुम्हारी क्या धारणा है?”

“वह है तो सत्राजित् का मौसेरा भाई ही, पर कुछ-न-कुछ उससे निकाला जा सकता है। यद्यपि वह भी आपसे प्रसन्न नहीं है; पर सत्राजित् से भीतर-ही-भीतर नाराज है। ‘शत्रु का शत्रु मित्र’ के सिद्धांतानुसार उससे लाभ उठाया जा सकता है।”

मेरी चिंता और बढ़ी; पर मैं जल्दी निराश होनेवाला नहीं था। मैंने उद्धव और सात्यकि को द्वारका भेज दिया।

विदुरजी के निर्देशानुसार मैं स्वयं पितामह से मिला—अकेला, बिना किसीको साथ लिये। आज वे अत्यधिक शांत और तनावमुक्त लगे। पूजन से अभी-अभी उठे थे। मेरे स्वागत में भी उन्होंने आज अधिक आत्मीयता दिखाई। “तुम्हारी कृपा से एक ऐसी स्थिति आ गई, जो सबके लिए शांतिप्रद और सुखदायी होगी।” वे मुझे वक्ष से लगाते हुए बोले।

“पर मैंने तो सुना है कि कुछ लोगों के सामने गंभीर संकट आ गया है!” मैंने आचार्य द्रोण का उल्लेख करते हुए उनकी समस्याओं को रेखांकित किया।

मैंने अनुभव किया कि उनकी आकृति पर भी धीरे-धीरे गंभीरता की छाया उभरने लगी। उन्होंने कहा, “अवश्य कुछ लोगों के सामने गंभीर समस्या है। मैंने इसे सोचा नहीं था; क्योंकि मेरी दृष्टि उस विभाजन रेखा पर नहीं थी, जिसके खींचने में मेरा भी योगदान था।”

“उसपर आपकी दृष्टि भले ही न हो, पर उस विभाजन रेखा की दृष्टि तो आप पर है। वह बराबर आपको देख रही है। लगातार देख रही है।”

“यही मेरा सौभाग्य भी है, यही मेरी नियति भी है—और यही मेरा दुर्भाग्य भी।” वे बोले और सदा की भाँति फिर तनाव में आ गए।

एक बार तो मैंने सोचा कि पितामह के घाव कुरेदकर मैंने अच्छा नहीं किया। व्यर्थ ही एक हरे-भरे उपवन में झुलसती हुई आँधी की तरह आ गया। फिर सोचा, एक गलित व्रण को जितना बहाया जा सके, बहा देना चाहिए। मैंने तुरंत एक कृत्रिम नाटकीयता ओढ़ ली और बोला, “जिस संकट का अनुभव आचार्यजी ने किया है, उसीका आप भी कर रहे हैं और मैं भी। इसका मुख्य कारण है कि हम सब कौरव और पांडव दोनों की भलाई चाहते हैं। दोनों को समान रूप से समृद्ध देखना चाहते हैं।”

“इसीलिए तो दोनों को अलग-अलग कर दिया है।” पितामह बोले, “न पास-पास रहेंगे और न खटपट होगी।”

“क्या इससे समस्या हल हो जाएगी?” मैंने पूछा, “इसी प्रश्न ने मुझे आज रात भर सोने नहीं दिया—और इस समय भी इसी प्रश्न की व्यग्रता मुझे आपके निकट ले आई।”

“विभाजन तो समस्या के हल के लिए ही किया गया है।” पितामह बोले।

मैं बोलता रहा—“हस्तिनापुर विभाजित हुआ। खांडवप्रस्थ अस्तित्व में आ रहा है। अब दो राज्य होंगे, वे भी आस ही पास। दोनों राज्यों की आकांक्षाएँ और महत्वाकांक्षाएँ होंगी। यदि स्वस्थ स्पर्धा हुई तो कोई बात नहीं। स्वस्थ स्पर्धा तो विकास की ओर ले जाती है; पर स्थितियाँ जो हैं, वे आपसे छिपी नहीं हैं। मामा नाराज हैं। बाहर से हँसते हुए कौरव भीतर से जल रहे हैं। ऐसे में क्या आज की शांति स्थायी होगी? मुझे तो ऐसा लगता है कि राज्य

की आकांक्षाएँ जब टकराएँगी तब युद्ध की अग्नि भड़केगी; क्योंकि महर्षि व्यास की भविष्यवाणी असत्य नहीं हो सकती।”

पितामह की चिंता और बढ़ी।

“इन सारी परिस्थितियों पर विचार करने के बाद एक शंका उत्पन्न होती है।” मैंने कहा, “कहिए तो आपसे पूछूँ, या न पूछूँ?” मैंने पितामह की आकृति पर गंभीरता की एक पर्त और चढ़ाई।

वे धीरे से बोले, “पूछो। तुम्हें तो सब पूछने का अधिकार है।”

मैं तो यह स्थिति स्पष्ट करने ही आया था। पूछने में कोई संकोच था नहीं। फिर भी मैंने संकोच की मुद्रा बनाई और पूछा, “यदि इन दो राज्यों में कभी युद्ध हुआ, तो आपकी भूमिका क्या होगी?”

“मेरी भूमिका युद्ध न होने देने की होगी।”

“पर क्या आप इसमें सफल हो सकेंगे?” मैंने कहा, “अग्नि और जल के बीच की स्थिति आप जानते हैं, भाष्य बनकर हवा में उड़ जाने की होती है।”

“पर मैंने तो अपने जीवन में सदा ऐसा ही संतुलन साधा है।” पितामह ने बड़े गर्व से कहा, “तुम्हें ज्ञात होगा कि मैं बृहस्पति और शुक्राचार्य—दोनों का शिष्य रहा हूँ और दोनों को प्रिय था; जबकि दोनों एक-दूसरे के लिए नेवला और साँप थे। एक देवताओं का गुरु और दूसरा राक्षसों का। उनके शिष्यत्व रूपी कसी हुई डोर पर भी मैंने अपना संतुलन बनाए रखा, एक नट की तरह।”

“नट नहीं, नटराज कहिए।” मैंने हँसते हुए कहा।

उनका तुरंत उत्तर था—“नटराज तो तुम हो।” इतना कहते हुए वे जोर से हँसे और मैं भी।

पर हँसी में बात मैं उड़ने नहीं देना चाहता था। मैंने कहा, “तब व्यास और धौम्य की भविष्यवाणियों का क्या होगा? हमारा कथन असत्य हो सकता है, किंतु ग्रह-नक्षत्रों की बात असत्य नहीं हो सकती।”

“यह आवश्यक नहीं कि दोनों राज्यों का टकराव ही पांडवों की विपत्ति का कारण बने। वह विपत्ति हमारे सोच के विपरीत कहीं से भी आ सकती है।”

“तब हमें क्या करना होगा?”

“हमें उनकी सहायता करनी होगी।”

“और वह विपत्ति कौरवों की ओर से ही पैदा की जाए तब?”

अब वे और गंभीर हुए। उन्हें लगा कि मैंने उन्हें बंद पगडंडी के आखिरी मोड़ पर खड़ा कर दिया है। उन्होंने सीधे-सीधे उत्तर न देकर अपने अतीत की एक झलक दिखाई—“जब मेरे पूज्य पिताजी मत्स्यगंधा पर मोहित हो गए तो उनसे विवाह करने की इच्छा व्यक्त की। पर वह राजी नहीं हुई; क्योंकि वह जानती थीं कि इनके जीवनकाल में तो मैं सम्मानपूर्वक महारानी रहूँगी, पर इनके चले जाने के बाद मैं और मेरा परिवार हस्तिनापुर से दूध की मक्खी की तरह अलग कर दिया जा सकता है। इसलिए उन्होंने एक शर्त रखी कि मेरे ही बेटे हस्तिनापुर के सिंहासन के भी अधिकारी होंगे। मेरे रहते मेरे पिताजी यह शर्त कैसे स्वीकार कर सकते थे? प्रेम एक ऐसी अग्नि है, जिसमें डूबनेवाला व्यक्ति न जल्दी जलता है और न जल्दी मरता है, केवल झुलसता रहता है। पिताजी दिन-रात झुलसते गए। यह दशा मुझसे देखी न गई। तब मैं अपनी होनेवाली माताजी को मनाने गया।

“उन्होंने पिताजी के सामने रखी शर्तें मेरे सामने भी रखीं। तब मैंने माँ गंगा को साक्षी देकर जीवन भर विवाह न करने की शपथ ली। इसपर भी वह राजी न हुई। फिर बोलीं, ‘तुम्हारे पिताजी वय में मुझसे बहुत बड़े हैं। यदि वे शीघ्र ही चले गए तो? तब तो तुम्हीं मुझे मारकर हस्तिनापुर से निकाल सकते हो।’ मैंने कहा, ‘यह भी प्रतिज्ञा करता

हूँ कि मैं ऐसा नहीं करूँगा।’

“‘तुम स्वयं न करो, किसीसे करा तो सकते हो!’”

पितामह ने कहा, “मेरे सामने माताजी (सत्यवती) की समझ और वाक्चातुरी का एक अदृश्य पृष्ठ खुला। मेरे कान में जैसे किसीने कहा, देखा, नियति जब ललाट में पट्टमहिषी होने का अभिलेख लिखती है, तब उसे वैसी बुद्धि और सामर्थ्य भी देती है।”

“फिर क्या हुआ?” मैंने पूछा।

“तब मैंने गंगाजल हाथ में लेकर पुनः शपथ ली कि जीवन भर अविवाहित तो रहूँगा ही, साथ ही जीवन भर हस्तिनापुर की सुरक्षा भी करूँगा।”

“तब तो आप हस्तिनापुर के लिए वचनबद्ध हैं।”

“क्या करूँ!” पितामह ने बड़ी वेदना से कहा, “पहली शपथ ने मुझे उतना परेशान नहीं किया, जितना अब इस दूसरी शपथ ने व्यग्र कर दिया है।”

“तब तो आपके सामने किसी प्रकार का संकट नहीं है।” मैंने कहा, “नियति ने आपको हस्तिनापुर से जोड़कर अच्छा ही किया।”

“बहुत बुरा किया।” वे अधिक चिंतित दिखे—“यदि तुम्हारी आशंका सही हुई तो मेरे ही बच्चे दोनों ओर से लड़ेंगे और उनमें से एक पक्ष के विरुद्ध मुझे अस्त्र उठाना पड़ेगा। कितने दुर्भाग्य का होगा वह दिन!” इसके बाद उनकी आँखें भीग गईं। फिर बोले, “तुम विश्वास करो, कन्हैया, यदि मैं हस्तिनापुर के प्रति संकल्पबद्ध न होता तो कौरवों और पांडवों के युद्ध के समय मैं संन्यस्त हो जाता।”

“पर ये सब तो काल्पनिक बातें हैं।” मैंने उन्हें प्रकृतिस्थ करना चाहा—“जो स्थिति जनमी ही नहीं, उसीको पैदा करके हम लोग वायवी विचारों में उलझ गए। हो सकता है, ऐसी स्थिति आए ही नहीं।”

“हम लोगों को ऐसा ही सोचना और करना चाहिए।” उन्होंने कहा।

मैं चलने की तैयारी करने लगा। मध्याह्न हो चुका था। भोजन का समय था। उन्होंने कहा कि भोजन करके जाना। मैंने बताया कि जब मैं विदुरजी के यहाँ से चलता हूँ तो पूरे दिन भर के लिए तैयार होकर चलता हूँ। वे हँसने लगे।

जब मैं अभिवादन कर चला तो वे बहुत दूर तक मुझे पहुँचाने आए। मार्ग में उन्होंने कहा, “आज तुम्हारी वाक्पटुता के समक्ष मैं पराजित हो गया।”

“क्यों?”

“तुमने मुझसे वह सब कहलवा लिया, जिसे आज तक माताजी के अतिरिक्त परिवार में और कोई नहीं जानता। इस संकल्पबद्धता से मैं भीतर-ही-भीतर घुटता रहता हूँ, पर किसीसे कुछ कह नहीं पाता; क्योंकि मेरी इस विवशता का जहाँ लोगों को आभास लगा तहाँ धृतराष्ट्रपुत्रों की दृष्टि में मैं एक क्रीत दास से अधिक नहीं रह जाऊँगा। जरा मेरी स्थिति का अनुमान करो, कन्हैया!”

“करता हूँ।”

“तो तुम मुझे एक वचन दो कि मेरी इस विवशता की चर्चा किसीसे नहीं करोगे। अपनी कुंती बुआ से भी नहीं, पांडवों से भी नहीं, विदुर से भी नहीं और फिर अपने से भी नहीं। तुम इसे एकदम भुला दोगे।”

उस दिन मुझे पता चला कि पितामह कितने निरीह और दुर्बल व्यक्ति हैं।

□

खांडवप्रस्थ का राजभवन बनकर तैयार हो गया। प्रजा ने अद्भुत उत्साह दिखाया। कुछ लोगों ने यमुना के

किनारे-किनारे अपने आवास का ठिकाना भी ढूँढ़ लिया। छोटा-मोटा निर्माण कर लिया। प्रजा के स्थानांतरण की भूमिका तो महाराज द्वारा बुलाई गई विगत जनसभा में ही बन गई थी; पर इस समय अगुआई की चंद्रसेन ने। इसके लिए वह चर्चित भी हुआ और कुचर्चित भी।

कौरव पक्ष के लोग उसका परिहास करते हुए कहते, “अरे, वह खांडवप्रस्थ का महापौर होने वाला है न!”

“भले ही उसे नियुक्ति पत्र न मिले।”

“इससे क्या होता है? अभी तो वह है ही।”

पर चंद्रसेन इस प्रकार की टिप्पणियों से अविचलित था। अडिग था। वह रात-दिन अपने काम में लगा रहा। बैलगाड़ियों और अश्वों पर लदा प्रजा का सामान नित्य खांडवप्रस्थ की ओर जाता दिखाई देता; पर कौरव पक्ष मौन रहता। न उन्हें रोकता और न उनकी सहायता करता।

इधर एक घटना और घटी।

बिना किसी पूर्व सूचना के हस्तिनापुर के राजवैद्य ने अतिथिगृह के मेरे कक्ष में पधारकर मुझे चकित कर दिया। मैंने उनकी बड़ी आवभगत की और कहा, “यदि आपका आगमन अप्रत्याशित न होता तो मैं आपके स्वागत की विशेष व्यवस्था करता।”

“आवभगत तो बाहरी तैयारियों से नहीं, वह आंतरिक हार्दिकता से होती है। आपके प्रेम ने तो मुझे अभिभूत कर दिया।” राजवैद्य ने कहा, “मैं यहाँ एक बात पूछने आया हूँ। जब सत्ता बँट गई, कोष बँट गया, तब अमात्य मंडल को भी क्यों नहीं बाँटा गया?”

मुझे हँसी आ गई। हँसते हुए ही मैंने कहा, “अमात्य मंडल कैसे बाँटा जा सकता है! वह तो सत्ता के विश्वास की ऐसी डोर से बँधा रहता है कि उसके कटने का तात्पर्य है सत्ता के विश्वास का कटना और जब विश्वास गया तो न अमात्य रह जाएगा, न अमात्य मंडल।”

“पर विश्वास खोने के बाद भी मैं कौरव सभा का अमात्य हूँ।” वे बोले।

मुझे उनके और दुर्योधन के बीच का संघर्ष याद हो आया। पर मैंने कोई टिप्पणी नहीं की। उनकी इच्छा भी खांडवप्रस्थ जाने की थी।

इस विषय में उन्होंने यह भी कहा, “बड़ा जंगली प्रदेश है। जीवन के लिए संकटग्रस्त है। अनेक प्रकार के विषधारी सर्पों को वासुकि ने वहाँ बसाया है। इनमें द्रोण, कालिय, कर्कोट, पुंडरीक, धनंजय (यह सब सर्पों के प्रकार) आदि तो अपनी भयंकरता के लिए विश्व-विख्यात हैं। धन्वंतरि और मनसा सर्पराज युद्ध की कथा तो आपने सुनी ही होगी (ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णखंड)। इस दृष्टि से वहाँ एक बड़े औषधालय की परमावश्यकता है।” इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी बताया—“तक्षक अपने पूरे परिवार के साथ खांडवप्रस्थ में रहता है। यह तो कहिए कि वह इस समय नहीं है, अन्यथा आपका वहाँ प्रवेश कठिन हो जाता।”

स्थिति की भयावहता मेरे सामने थी। मैंने उनकी बात का पूरा समर्थन किया और बड़े विनीतभाव से बोला, “अमात्य और अमात्य मंडल तो हर राजा का अपना होता है। इस दृष्टि से तो अंतिम निर्णय पांडवों को ही करना है।”

मुझे आशीर्वाद देते हुए वैद्यराज चले गए; पर मेरे मन में कुछ समस्याएँ अवश्य पैदा कर दीं। ये सारी समस्याएँ प्रजा के स्थानांतरण से संबंधित थीं। मथुरा छोड़ने का अनुभव मुझे था; पर पांडव तो इस विषय में अनुभवहीन थे। हर बात में उन्हें टोकने और निर्देश देने के लिए उपस्थित हो जाना न तो उचित था और न मेरी मर्यादा के अनुकूल।

मैंने चंद्रसेन को बुलाकर सारी बातें स्पष्ट कीं। उसने भी अनुभव किया कि समस्या तो है ही। प्रत्येक परिवार



कितना सामान ढो सकेगा? प्रतिदिन की आवश्यक वस्तुएँ या अनाज के भरे कितने बोरे कितने लोग ले जा सकेंगे? यदि वहाँ भूमि समतल कर खेती भी की जाए तो उसका प्रतिफल उसे छह मास के बाद ही मिलेगा। ऐसी स्थिति में भोजन और अन्न की अतिरिक्त व्यवस्था करनी पड़ेगी। यह राजकीय व्यवस्था होगी और यह हस्तिनापुर शासन की व्यवस्था के बिना संभव नहीं।

जो काम हम लोग सरल और सहज समझते थे, वह उतना सरल और सहज था नहीं। मैंने इन सारी स्थितियों की सविस्तार चर्चा विदुरजी से की। उनके सिवाय मेरे पास कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था, जिससे मैं यह सब कह सकता। फिर हस्तिनापुर के आधे कोष की बात हुई थी। उसका व्यावहारिक पक्ष क्या होगा? कैसे वह विभाजित होगा? कैसे खांडवप्रस्थ जाएगा? वहाँ कहाँ रखा जाएगा? आदि-आदि।

इसके लिए विदुरजी की सलाह थी कि मैं शीघ्र ही युधिष्ठिर के साथ धृतराष्ट्र से मिलूँ।

“यदि युधिष्ठिर स्वयं मिलें या अपने भाइयों के साथ मिलें, तो कैसा हो?”

“युधिष्ठिर के अकेले मिलने पर मामा अपने भानजों के साथ उन्हें घेर लेगा। फिर मैं नहीं समझता कि कोई निष्कर्ष पांडवों के पक्ष में निकलेगा।” विदुरजी ने बताया—“युधिष्ठिर का अपने भाइयों के साथ मिलना भी खतरे से खाली नहीं है। फिर तो कौरव जानबूझकर खटपट कर सकते हैं, जिससे झगड़ा हो और अब तक के किए-धरे पर पानी फिर जाए। कौरव रोज ही सोच रहे हैं कि जो कुछ हो गया है, उसे कैसे उलटा जाए। मामा ने तो शपथ ले ली है कि पांडवों को मैं कभी सुख की नींद सोने नहीं दूँगा।”

इस स्थिति में मुझे ही सोचना पड़ा, तो क्या मैं ही चलूँ? क्या हर बात में मेरा टाँग अड़ाना अच्छा होगा? पर मिलना तो पड़ेगा ही। यहाँ तक नाव खेकर उसे धारा के भरोसे छोड़ना उचित नहीं। तब तो मुझे नाटकीयता के अतिरिक्त झूठ का भी सहारा लेना होगा। पर इससे क्या! राजनीति में तो झूठ वैसे ही रहता है जैसे मेघ में उपल या हिम में वाष्प।

मैंने विदुर चाचा के आवास पर ही युधिष्ठिर को बुलवाया। उन्हें खूब अच्छी तरह से समझाया या प्रशिक्षित किया और कहा, “हमें अभी महाराज के यहाँ धमक पड़ना चाहिए। हमारे पहुँचने की गंध भी किसीको नहीं लगनी चाहिए।”

“पर क्या इस समय महाराज अपने कक्ष में आ गए होंगे?”

मैंने हँसते हुए कहा, “इसकी चिंता आप न करें। मैंने सब पता लगा लिया है।”

चलते समय मैंने उन्हें समझाया—“आप अपनी बात करेंगे और मैं अपनी। ऐसा न लगे कि हम दोनों एक ही बात के लिए आए हैं।”

और हम चल पड़े।

राजभवन में पहुँचते ही एक थरथराहट पैदा हो गई। हम दोनों का एकत्र होना और राजभवन में पहुँचना असाधारण घटना थी। एक अदृश्य तरंग जैसी सबको छू गई। सब स्तब्ध थे, अवाक् थे।

मैंने पहुँचते ही महाराज से कहा, “आपको प्रणाम करने और आशीर्वाद लेने आया हूँ।”

“क्यों, ऐसी क्या बात हो गई?”

“अब हम द्वारका जा रहे हैं। सोचा, आपसे बिदा ले लें।”

महाराज मुसकराए। युधिष्ठिर से बोले, “तुमने इन्हें रोका नहीं?”

“मैंने तो इन्हें बहुत रोका; पर अब ये अपनी बात पर अड़े हैं। आप मेरी ओर से इन्हें आदेश दें। उसका तो इन्हें पालन करना ही पड़ेगा।”

“मैं इन्हें तो आदेश दे सकता हूँ, पर द्वारकाधीश को आदेश देने की स्थिति में मैं नहीं हूँ। (मैं नहीं समझ पाया कि ऐसा उन्होंने क्यों कहा।) मैं भी अनुभव करता हूँ कि तुम्हें इनकी बड़ी आवश्यकता है। अभी तो बहुत से काम बाकी हैं।”

युधिष्ठिर को मौका मिला। वे तुरंत बोल पड़े—“अभी तो कोष का भी विभाजन नहीं हुआ है।”

“कोष यदि जाएगा तो रखा कहाँ जाएगा?” मेरे कथन पर इसी संदर्भ में बातें आगे चलीं।

महाराज ने बड़ी प्रसन्नता से इसका हल निकाला। उसी समय राज्य के निर्माण अधिकारी को बुलाकर महाराज ने खांडवप्रस्थ के प्राचीन कोषागार को अच्छी तरह सुरक्षित और व्यवस्थित करने का कार्य सौंप दिया।

□

उस दिन पांडवों को खांडवप्रस्थ की धरती का पूजन करना था और राजभवन प्रवेश भी। अतएव हम लोगों ने ब्राह्म मुहूर्त से ही तैयारी आरंभ कर दी। पांचाल से आई सेना और वहाँ के व्यक्ति तो पहले से तैयार थे। स्थिति को देखते हुए उनकी मानसिकता ऐसी बन गई थी कि हस्तिनापुर को वे मार्ग का एक पड़ाव समझते थे। बहुतों ने तो पूरा सामान भी अभी नहीं खोला था। शिविर में ही रह रहे थे। वस्तुतः राजभवन में या उसके किसी दुर्ग में ठीक से उनके रहने की व्यवस्था ही नहीं की गई थी। उन्हें तैयार होने में देर नहीं लगी।

जैसे हम पांचाल से लौटकर आए थे, ठीक उसी तरह पूरी सज-धज के साथ हम लोग यहाँ से चले। अंतर इतना ही था कि वहाँ से लौटते समय हमारी संख्या कम थी। केवल पांचाल से मिली हमारी सेना थी और हमारे कुछ हितैषी थे; पर यहाँ से चलते समय हस्तिनापुर की आधी सेना भी थी और प्रजा का एक दल भी। ये लोग तो हमारे साथ चल ही रहे थे, इनके अतिरिक्त वे लोग भी थे, जो अश्रुपूरित नेत्रों से हमें बिदाई देने कुछ दूर तक के ही साथी थे। इनमें कुछ लोग वे भी थे, जो उन्हें बिदाई देने चल रहे थे, जो हमारे साथ खांडवप्रस्थ में बसने चल रहे थे।

राजभवन भी हस्तिनापुर की नगर सीमा तक हमें बिदाई देने आया। इनमें प्रपितामही, पितामह, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, महाराज धृतराष्ट्र, गांधारी और उनके अनेक पुत्र तथा विदुर चाचा के नेतृत्व में पूरा अमात्य मंडल था।

आशीर्वाद देने के लिए आचार्य धौम्य और कौरवों के पुरोधा कल ही आ गए थे। उन लोगों के नेतृत्व में हस्तिनापुर के ब्राह्मणों के एक विशाल समूह ने हमारा स्वस्तिवाचन किया। वैदिक मंत्रों के साथ आशीर्वाद देते हुए जब उन्होंने समवेत स्वर में ‘शिवा थे पन्थानः’ कहा तो ऐसा लगा जैसे आकाश से देवध्वनि हो रही हो।

हस्तिनापुर की स्त्रियों और कुमारियों ने हमारे लिए मंगल गान गाए। पुष्प-वर्षा की। अचानक मुझे विरजा की याद आई। वह उद्धव को सौंपा गया था; पर उद्धव इस समय था नहीं। उसने उसका कोई अता-पता भी नहीं बताया था। पता नहीं उसे हमारे प्रयाण का ज्ञान है या नहीं। कहीं ऐसा न हो कि हम सब चले जाएँ और वह हस्तिनापुर में ही रह जाए। मैंने उसकी खोज आरंभ की। भैया से कहा। अन्य लोगों से कहा।

थोड़ी देर बाद देखा कि दो सैनिक उसे सहारा देकर ले आ रहे हैं। बात यह थी कि वह मेरे रथ के पास आना चाहता था; पर भीड़ धक्के देकर उसे पीछे कर दे रही थी। मैंने उसे अपने रथ पर बिठाया। उसकी जान में जान आई। मृत्यु के थपेड़े से निकलकर अब वह वृद्ध मेरी शरण में था।

हस्तिनापुर में जो कुछ हो रहा था, वह सब तो व्यावहारिक था, होना चाहिए था, इसलिए हुआ; पर जब प्रपितामही ने भावविह्वल होकर कुंती बुआ को वक्ष से लगाते हुए कहा कि यह मत समझना कि हम तुम्हें बिदा कर रहे हैं, वरन् हम एक और घर बसा रहे हैं, तब हम सब भावविह्वल हो गए थे। मेरी आँखों में भी आँसू आ गए थे।

हस्तिनापुर की नगर सीमा तक छोड़ने सब आए, पर उसमें शकुनि मामा कहीं नहीं था।

□

जब हम लोग खांडवप्रस्थ के पुनर्निर्मित राजभवन के निकट पहुँचे, तब सूर्य यमुना के उत्तरी छोर में डूब रहा था। संध्या की लाल चूनर नील जल में डूबकर बैंगनी हो गई थी।

मैं समझता था कि आदिवासियों, संन्यासियों और वानप्रस्थी लोगों को छोड़कर वहाँ कोई हमारा स्वागत नहीं करेगा; पर यह क्या! राजभवन में मशालें भी जलाई जा रही हैं। द्वार पर प्रहरी भी खड़े हैं। मुझे लगा कि सारी व्यवस्था महाराज धृतराष्ट्र की ओर से कर दी गई होगी।

मैं कुछ आगे निकल आया था। वहीं रुक गया। युधिष्ठिर को संदेश भिजवाया कि हमें यहीं रुक जाना चाहिए और देखना चाहिए कि बात क्या है। यह भी हो सकता है कि पांडवों ने कुछ सैनिक और अधिकारियों को व्यवस्था के लिए पहले भेज दिया हो।

इसी बीच पीछे के लोग भी साथ आ गए। अब मार्ग में जगह न रही, वे जंगल की ओर फैलने लगे। जबकि हर व्यक्ति यह जान रहा था कि उधर बढ़ने से खतरा है। पीछे के लोगों में एक विचित्र सुगबुगाहट हुई—“आगे भी खतरा लगता है और जंगल में भी।”

“आगे कैसा खतरा?” उन्हींमें से किसीने पूछा।

“यदि खतरा न होता तो हम रोक क्यों दिए जाते?” दूसरे व्यक्ति ने कहा, “लगता है, पुनर्निर्मित भवन पर किसीने अधिकार कर लिया है। हो सकता है, इसमें भी कौरवों की कोई चाल हो।”

शंका मन को भयभीत भी करती है और दुर्बल भी। उसे सामान्य स्थिति में भी संकट ही दिखाई देता है। अब मैं युधिष्ठिर की ओर बढ़ते-बढ़ते उनकी बगल में आ गया था। शेष पांडव भी हमारे पार्श्व में थे। आशंका और कुतूहल ने हमारी सारी व्यवस्था तोड़ दी थी।

तब तक उधर से एक सैनिक अधिकारी आया। बोला, “महाराज आपके स्वागत के लिए आतुर हैं।”

“महाराज!” हमारी प्रश्नवाचक मुद्राएँ एक-दूसरे को देखने लगीं। मन ने कहा, ‘महाराज धृतराष्ट्र तो हमारे साथ आए नहीं। फिर वे यदि आए तो किस मार्ग से आए और हमसे पहले पहुँचे?’

बात कुछ समझ में नहीं आई। मैंने उसी सैनिक अधिकारी से प्रश्न किया—“कौन महाराज?”

“पांचाल नरेश महाराज द्रुपद!”

हम लोग एकदम पहाड़ से गिरकर धरती पर आ गए। द्रौपदी अप्रत्याशित रूप से चहक उठी। पिताजी आ गए, तब तो भैया भी आ गए होंगे। अब वह एक क्षण रुकनेवाली नहीं थी। हमारी भी यही स्थिति थी। द्रुपद का आगमन असोचित और अघोषित था। हमें भी चकित कर गया। आखिर उन्हें हमारे कार्यक्रम की सूचना कैसे मिली और वे आए तो आए कैसे?

पहुँचते ही मुख्य द्वार पर वे हमें मिले। परम प्रसन्न और आह्लादित। उन्होंने स्वयं कहा, “तुम लोग मुझे देखकर आश्चर्य में पड़े होगे; पर मैं जानता था कि तुम लोगों को मेरी आवश्यकता है। अब तक तो तुम लोग दूसरों के बनाए भवन में ही रहते आए हो। अपना भवन तो कभी बनाया नहीं।”

“साँप भी अपना घर नहीं बनाता और दूसरों के विविर में ही रहता है।” यह आवाज किसकी थी, किधर से आई, कुछ मालूम नहीं। पर थी बड़ी जोरदार।

इसका उत्तर भी महाराज द्रुपद ने ही दिया—“दूसरों के विविर में रहने के लिए विषधर होना आवश्यक है; पर ये तो धर्मराज हैं। यदि विषधर होते तो रोना किस बात का!”

हम महाराज के गूढ़ार्थ को समझते रहे। इसी बीच उन्होंने एक और घोषणा की—“अब आप लोग राजभवन, राजभवन के अतिथिगृह और जहाँ चाहें वहाँ स्वच्छंद विहार कर सकते हैं।”

द्रुपद का यह स्वर विश्वास भरा और चिंतामुक्त था।

उन्होंने ही बताया कि वे प्रातः ही यहाँ पहुँच चुके थे। सुरक्षा की दृष्टि से एक-एक कक्ष को उन्होंने देख लिया है। यहाँ आते ही उन्होंने अपने सेनापति को आदेश दिया कि कोना-अँतरा सब देख डालो। हर दीवार की परीक्षा करो। संदेह हो तो अग्निपरीक्षा करो। कहीं यह दूसरा लाक्षागृह न हो।

“यदि आप वारणावत में आ गए होते तो वह दुर्घटना न होती।” भीम की मूर्खता बोली और छंदक जोर से हँस पड़ा।

युधिष्ठिर ने तुरंत उसे डाँटा भी—“उस समय इनसे हमारा संबंध क्या था, जो ये वहाँ आते! तुम्हारे शरीर की तरह तुम्हारी बुद्धि भी मोटी है।”

वातावरण काफी देर तक खिलखिलाता रहा। भीम भी खिसियाकर रह गया।

फिर स्थिति को सामान्य किया द्रुपद ने ही। वे बोले, “मनुष्य अनुभव से ही सीखता है। यदि लाक्षागृह का अनुभव न होता तो मैं सूर्योदय के पूर्व ही आकर भवन की परीक्षा आरंभ न कर देता। मैं जानता था कि तुम लोग इतने सीधे और सरल हो कि तुम्हारी दृष्टि इस ओर जाना दो दूर, तुम इस बारे में सोच भी नहीं सकते।”

“पर ऐसी बात है नहीं। मैंने छंदक को कल ही भेज दिया था।” मैंने कहा, “और केवल यही कार्य सहेजकर।”

“आखिर आप भी चिंतित हुए।” द्रुपद बोले, “मैं जानता हूँ कि हमारे जामाताओं के हर शुभचिंतक को चिंता होगी; पर उन्हें जीवन की कोई चिंता नहीं है।”

“जब आप लोग चिंता करनेवाले हैं ही, तब हमें चिंता करने की आवश्यकता क्या!” युधिष्ठिर ने कहा।

“हम लोग कब तक चिंता करेंगे और कहाँ-कहाँ करेंगे?” द्रुपद बोले।

“इसीलिए तो हमने अपनी सारी चिंता कन्हैया को समर्पित कर दी।” युधिष्ठिर ने कहा।

मैं खुलकर तो नहीं बोला, पर भुनभुनाया अवश्य—“बड़े चतुर हो भाई, द्रौपदी को स्वयं हड़प लिया और चिंता मेरे हवाले कर दी।”

अर्जुन मेरी ही बगल में था। उसने मेरी बात सुन ली और जोर से हँसा। लोग उसके अट्टहास को कुतूहलपूर्ण दृष्टि से देखते रह गए।

इसके बाद धीरे-धीरे सबकुछ व्यवस्थित हो गया। द्रुपद भी एक दिन चले गए। राज्यारोहण न होने पर भी युधिष्ठिर राजा मान लिये गए। खांडवप्रस्थ एक राज्य के रूप में विकसित होने लगा। हस्तिनापुर जैसी सुविधा तो यहाँ नहीं थी, पर इन असुविधाओं में भी बड़ी शांति थी, आत्मीयता थी, निर्विद्वता थी। हम प्रसन्न थे। जो लोग हस्तिनापुर से आए थे, उनके अतिरिक्त बहुत से आदिवासी हमारी प्रजा थे। वे सहज थे, सरल थे। उनका जीवन निर्वैयक्तिक था। वे अपने समूह के लिए ही जीते और मरते थे। उनमें अपना-पराया नहीं था। सब मिलकर दुःख-सुख झेलते थे। नैसर्गिक जीवन जीते थे। राजनीति की समझ से दूर थे। वे इतना ही जानते थे कि हमारे प्रदेश में कोई राजा आया है।

वन-संपदा ही उनकी संपदा थी। उसीसे वे भोजन की व्यवस्था करते थे। जंगली फल, मधु, दूध, वन्य पशुओं का आखेट और मछली पकड़ना, वनौषध इकट्ठी करना और पास के गाँव तक ले जाना उनकी जीविका थी। बहुधा राजभवन में ये वस्तुएँ वे उपहारस्वरूप ले आते थे।

मधु और चावल से वे एक प्रकार की मदिरा भी बनाते थे, जिसका पता सबसे पहले भैया को लगा था। मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार मन की वस्तु तो खोज ही निकालता है।

बाद में जब उन्हें पता चला कि मैं दूध का नहीं, नवनीत का प्रेमी हूँ, तब उनके समूह का मुखिया रोज सवेरे मेरे

यहाँ मधु और नवनीत पहुँचा जाता था। बहुत मना करने पर भी वह ले आता था और जिस प्रकार मुसकराते हुए झुककर ये वस्तुएँ वह समर्पित करता था कि मैं 'नहीं' न कह पाता था, तब मेरा मन उसके झुकने से अधिक झुक जाता था।

हम लोगों को ऐसे आदिवासियों के संपर्क का पुराना अनुभव था; पर वह अनुभव एक राजा के रूप में नहीं था, एक सामान्य किंतु संभ्रांतजन के रूप में था; पर यहाँ तो हम एक राजपरिवार के थे। इनकी सहजता भी भयाक्रांत होकर हमसे मिलती थी।

बहुधा संध्या के पहले वायु-सेवन के लिए हम लोग निकलते थे और घूमते-फिरते यमुना के किनारे-किनारे उनकी झोंपड़ियों की ओर चले जाते थे। वे हमारा पूजन करते थे, आरती उतारते थे, जो मुझे बहुत अच्छा नहीं लगता था।

मैंने एक दिन पांडवों से कहा भी—“देवदारु यदि अपना सीधापन छोड़ देगा तो वह जंगल के अन्य झाड़ों में खो जाएगा। इनका जीवन तो जंगल के देवदारु-सा सरल और पवित्र है। इसीलिए ये सबसे अलग और इनकी कला भी वैसी ही है।”

पांडवों ने तुरंत मेरी बात मान ली और कहा कि एक दिन इन्हें अपनी कला के प्रदर्शन के लिए आमंत्रित किया जाए। दिन निश्चित करके उनके बीच मुनादी फिरा दी गई।

उस दिन वे सुबह से ही राजभवन के उन्मुक्त प्रांगण में उपस्थित होने लगे। फूलों और पत्तियों से सजे-धजे, अपने प्रकृत वेश में अर्द्धनग्न। धीरे-धीरे उनके कई समूह एकत्र हो गए। अचरज यह था कि वे अपने साथ कला-प्रदर्शन के सामानों के अतिरिक्त भोजन का सामान भी लाए थे। हर समूह ने अलग-अलग आग जलाकर अपने आखेट भूने, मछली बनाने और भोजन तैयार करने का काम आरंभ किया। उनकी आवभगत में राजभवन को कुछ करना नहीं पड़ा। केवल दो-तीन बार हम लोगों ने वहाँ आकर उन्हें दर्शन दिए। उनका अभिवादन स्वीकार किया।

उन्हींसे यह पता चला कि अपराह्न तक वे अपना कला-प्रदर्शन आरंभ करेंगे। हम लोगों ने अपने बैठने की व्यवस्था आरंभ कराई। मंचक और सिंहासन लगाए गए। राजभवन ने जब उनसे यह पूछा कि हमसे आपको किसी वस्तु की आवश्यकता तो नहीं होगी, तब उन लोगों ने स्पष्ट कहा, “हमें किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है—और हमारी आवश्यकता की वस्तु आपके पास होगी भी नहीं।”

पश्चिमी आकाश की ओर सूर्य के ढुलकते-ढुलकते वे सभी खा-पीकर तैयार हो गए थे। सभी ने मैरेय पी। स्त्री-पुरुष-बच्चे—सभी ने थोड़ी-बहुत पी ली थी और इस समय तक हम लोगों ने भी अपने-अपने स्थान ग्रहण कर लिये थे।

पहले उन्होंने अपने व्यायाम के करतब दिखाए, फिर तीर-धनुष के। उनमें एक करतब तो अद्भुत था। निकट के पेड़ की डाल पर उन्होंने तीन मालाएँ टाँगीं और उन्हें लक्ष्य कर लगभग सौ हाथ की दूरी से एक बाण मारा गया। डाल टूटी। तीनों मालाएँ ऐसी गिरीं कि एक युधिष्ठिर के गले में, दूसरी द्रौपदी के गले में और तीसरी मेरे गले में आई।

हम लोग तो उनकी इस कला पर स्तब्ध रह गए। मैंने अर्जुन की ओर देखा। उसकी आँखों में भी विस्मय के भाव थे। हमारे सारे धनुर्ज्ञान का अभिमान क्षण भर में चूर हो गया। फिर पता नहीं क्यों, अचानक मेरे मन के सामने एकलव्य आ गया, जिसके अँगूठे से अब भी रक्त टपक रहा था। मेरी चेतना उसीमें उलझ गई। इन्हें कोई द्रोण नहीं मिला। पैतृकता ही इनका आचार्य रही और प्रकृति का प्रांगण ही इनकी अभ्यास-भूमि। नैसर्गिक परिवेश में पली

इनकी कला कितनी सहजता से हमारी ईर्ष्या और आश्चर्य का कारण बन गई।

मैंने सुना कि इस चमत्कार को देखकर द्रौपदी ने धर्मराज के कान में धीरे से कहा, “अच्छा हुआ कि ये लोग हमारे स्वयंवर में नहीं आए।”

फिर उनका नृत्य और संगीत आरंभ हुआ। एक विशेष प्रकार के पणव (ढोल) की थाप पर पहले कुछ स्त्री-पुरुषों ने नाचना आरंभ किया। ज्यों-ज्यों संगीत की गति बढ़ती गई, उनमें और लोग सम्मिलित होते गए। एक समय तो ऐसा आया कि सभी नाचते दिखाई दिए। गीत की लय भी उनकी अपनी पारंपरिक। मैं भी अपने को रोक न सका। उसी धुन पर वंशी बजाने लगा। मेरे भी पैर थिरकने लगे और शीघ्र ही मैंने स्वयं को भी उन्हींके बीच पाया। फिर तो उनका उत्साह आकाश चूमने लगा। मैरेय के ऊपर संगीत की मादकता और फिर इस आह्लाद के पागलपन का यह उद्रेक सारी रात छाया रहा। सारे लोग देखते रह गए। केवल राजपरिवार ही नहीं, सभी सैनिक और कर्मचारी भोर तक विभोर रहे।

मेरी मनःस्थिति कुछ विचित्र हो गई। एक तो यमुना का किनारा, फिर समूह गायन और नृत्य, फिर वंशी और यह आरण्यक प्रकृति—सबकुछ था; पर व्रज के करील के कुंज नहीं थे, राधा नहीं थी, गोपियाँ नहीं थीं, रास नहीं था। उस संगीत उत्सव में होते हुए भी मैं नहीं था। मैं तो व्रज के कुंजों में चला गया था।

इस पूरे वातावरण का प्रभाव एक अभाव ही पैदा कर गया। एक ऐसी स्मृति जगा गया, जो बड़ी देर तक मुझे कुरेदती रही। जब धीरे-धीरे लोग थककर दुलकने लगे, नृत्य और गीत मौन होने लगा तब मैं भी अपने मंचक पर चला आया। शिथिलता ने लगभग मुझे भी दुलका दिया। अदृश्य राधा के अंक का सहारा मिला। मन दूसरे ही जगत् में चला गया।

अचानक किसीने मेरे तन को हिलाया। मैं धरती पर आया। देखा तो अर्जुन था—“अब क्या सो रहे हैं? उषःकाल है।”

मैंने अँगड़ाई ली। थोड़ा प्रकृतिस्थ हुआ तो उसने कहा, “भैया याद कर रहे हैं।”

उठकर मैं युधिष्ठिर के पास आया।

“इन लोगों की बिदाई तो करनी ही चाहिए?” युधिष्ठिर ने पूछा।

“अवश्य करनी चाहिए। कम-से-कम एक निष्क।”

“प्रत्येक को?” युधिष्ठिर के नेत्र विस्फारित हो गए—“क्या कोष इस बोझ को सँभाल पाएगा?” उनके मुख से निकला।

युधिष्ठिर की इस चिंता ने मुझे सात्यकि की याद दिलाई। अभी तक वह आया नहीं। कितने दिन हो गए। कहीं कोई बात तो नहीं हुई? मेरा मन आशंकाओं में डूब गया।

इधर युधिष्ठिर ने खड़े होकर उन आदिवासियों का उद्बोधन किया। उनकी कला और करतब की सराहना की। उन्हें धन्यवाद तथा बधाई दी और कहा, “आप लोग थोड़ा विश्राम कीजिए। इस बीच हम लोग भी नित्यकर्म एवं संध्या-पूजन से निवृत्त हों लें, तब आप लोगों की बिदाई की जाए।”

□

रात भर थकने और जागने के बाद दिन में आँखें झपने लगी थीं। मैं शय्या पर लेटा भी; पर सात्यकि की चिंता काफी सता रही थी। अब तक तो उसे कभी का लौट आना चाहिए था। अवश्य ही कोई बात हो गई होगी। हो सकता है, वसूली लक्ष्य के अनुसार न हुई हो। ऐसा होना भी शुभ संकेत नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष हमारे आदेश का उल्लंघन है। यदि ऐसा हुआ तो सत्ता का अनुशासन प्रकंपित हो जाएगा। फिर हमारे वृद्ध पिता क्या करेंगे? अब सत्यक (सात्यकि के पिता) चाचा की आयु भी अधिक हो चुकी है; पर अब भी शासन पर उनकी पकड़ मजबूत

है। एक उन्हीं का तो भरोसा है। यद्यपि सत्राजित् अवश्य संकट उत्पन्न कर सकता है। पता नहीं क्यों, वह हम लोगों से वैर मानता है!

इन्हीं विचारों में खोया-खोया मैं सो गया।

जागा तो युधिष्ठिर के यहाँ बुला लिया गया। सभी भाई बैठे थे और सभी गंभीर थे। एक विचित्र समस्या उत्पन्न हो गई थी। उसका उल्लेख भी मेरे लिए उचित नहीं है। लोगों की इच्छा थी कि मैं कोई नियम बना दूँ, जिससे यह समस्या फिर न पैदा हो पाए। पर मैं इस झमेले में पड़ना नहीं चाहता था। केवल इतना कहा कि उस दिन नारद ने सुंद एवं उपसुंद की कथा सुनाई थी और जो आशंका व्यक्त की थी, वह व्यर्थ नहीं थी।

अपनी अप्रसन्नता व्यक्त करते हुए वहाँ से चला आया था। चलते समय इतना अवश्य कहा था कि जो लोग इस कांड को सुनेंगे, वे क्या कहेंगे? कुछ लोकापवाद का भी ध्यान रखिए।

बात इतनी सी थी कि गत रात के अंतिम चरण में जब नृत्य थमने लगा तो बहुत से लोग वहाँ से हटने-बढ़ने लगे। उसी समय द्रौपदी और अर्जुन भी चले आए थे; पर अन्य भाई वहीं रह गए थे। थोड़ी देर बाद भीम को जैसे कुछ खटका। वह भी उठकर चला आया और द्रौपदी के कक्ष में झाँककर जो कुछ देखा, उसी पर तांडव कर बैठा।

अब इस संदर्भ में मैं क्या कर सकता था! सिवाय इसके कि महर्षि नारद की दूरदर्शिता की प्रशंसा करता।

मध्याह्न भोजन पर हम फिर इकट्ठा हुए। हमारे साथ भैया भी थे। किसीने कुछ नहीं कहा। शायद इसलिए भी नहीं कि इस समय कुंती बुआ उपस्थित थीं—और न मैंने विशेष जानकारी की इच्छा ही व्यक्त की। पर प्रकारांतर से किसी संदर्भ में मैंने यह भी कहा कि शिव की महत्ता इसलिए भी है कि उन्होंने काम को भस्म कर दिया था।

“तो कौन सा तीर मार लिया था!” भैया तुरंत बोल पड़े। शायद उन्हें अपनी दाढ़ी में ही तिनका दिखाई दिया। वे कहते गए—“दिन भर श्मशान में अकेले पार्वती के साथ रहकर जीवन की एकरसता भोगते रहे। न वैभव का उपभोग किया और न अपनी प्रचंड काम-शक्ति का।” भैया की यह तात्कालिक अप्रसन्नता मुझे झेलनी पड़ी—“और यह तुम कहते हो, जिसने जीवन में किसी वर्जना को स्वीकार नहीं किया—न काम को, न क्रोध को, न लोभ को, न मोह को, न मत्सर को!”

मैं चुप हो गया। एक चुप हजार चुप। मैं यह भी न कह पाया कि आपके संदर्भ में मैंने नहीं कहा; क्योंकि तब वह तुरंत पूछते कि किसके संदर्भ में तुम कह रहे थे?

यह संदर्भ युधिष्ठिर की भी मानसिकता के अनुकूल नहीं था। उन्होंने एक दूसरी बात छेड़ दी—“आज प्रातः ही एक ऋषि पधारे थे। वह स्वयं को अंगिरा गोत्र का बता रहे थे।”

“आपने उनके आचार्य का नाम नहीं पूछा?” मैं बोला।

“हाँ, पूछा था। अग्निवेश्य बतलाया था।”

“तब तो आधुनिक ज्ञान और विज्ञान से भी वे परिचित होंगे।” मैंने कहा, “क्योंकि उन्हींके आश्रम में आचार्य द्रोण और महाराज द्रुपद ने भी शिक्षा पाई थी। शास्त्र से अधिक वह शास्त्रों के आचार्य थे। कई आग्नेय बाणों के संचालन और अभिमंत्रण का उन्हें विशेष ज्ञान था। अपना नाम क्या बताया उन्होंने?”

“यह न मैंने पूछा और न उन्होंने बताया।”

अग्निवेश्य का नाम सुनते ही मैंने और जिज्ञासा नहीं की।

युधिष्ठिर ने बताया—“वे इस समय इसी प्रदेश में रह रहे हैं; पर यहाँ के वन्य पशुओं और सर्पों से बहुत परेशान हैं। उनका विचार है कि इस प्रदेश के अरण्य को जब तक जलाकर भस्म नहीं किया जाएगा तब तक आप शांतिपूर्वक शासन नहीं कर सकते।”

“अपनी परेशानी को शासन के मत्थे मढ़ना बहुत उचित तो नहीं लगता।” मैंने कहा।

“उन्होंने पुनः पधारने का आश्वासन दिया है।” युधिष्ठिर बोले, “इस बार उनके आगमन पर मैं आपको बुला लूँगा।”

भोजन समाप्त करते ही मैं अपने कक्ष में आया। कल के जागरण के हिस्से की नींद अभी आँखों पर छाई थी। मैं शय्या पर दुलकते ही सो गया।

जब नींद खुली तो अपराह्न के सूर्य की किरणें गवाक्ष से झाँक रही थीं। एक कोलाहल-सा सुनाई दे रहा था।

किसीने कहा, “कौरव सेना ने चढ़ाई कर दी।”

दूसरे ने तुरंत शंका व्यक्त की—“पर पक्षी तो दक्षिण-पश्चिम के आकाश से उड़ते चले आ रहे हैं। सेना भी उसी दिशा से आ रही होगी। हो सकता है, कौरवों ने स्वयं आक्रमण न करके अपने किसी मित्र राज्य से कराया हो।”

मैं उठा और भवन के अलिंद पर आया। मुझे भी लगा कि यदि कोई सेना है तो वह दक्षिण-पश्चिम से ही आ रही है।

मैंने छंदक से पूछा, “तुम्हें क्या लगता है?”

“मुझे नहीं लगता कि आपके रहते कोई आक्रमण की नीयत से यहाँ आएगा।”

“तो और नीयत क्या हो सकती है?”

“यह तो उनके आने पर ही पता चलेगा।” छंदक बोला।

मेरा मन भी सोच में पड़ गया। कुछ परिस्थितियाँ ऐसी बन गई थीं और बनती जा रही थीं कि हर व्यक्ति के मन में कौरवों के प्रति विरोधभाव स्थायी हो गया था। हम इतने आशंकित हो गए थे कि कोई संभावित घटना की कल्पना किसी संकट का पूर्वाभास-सी लगती थी। जबकि संकट बाहर से आता है और आशंकाएँ भीतर से। आशंकाएँ पूर्वघटित घटनाओं का मनजन्य परिणाम हैं और संकट वर्तमान की उपलब्धि। इसीलिए कभी-कभी मनुष्य अपने वर्तमान से अधिक अतीत से परेशान होता है।

मुझे लगता है कि इस समय भी ऐसी ही स्थिति होगी। हम अपने भीतर से ज्यादा परेशान थे। युधिष्ठिर भी अपनी सेना को तैयार रहने का आदेश देकर किसी विशेष निर्देश की प्रतीक्षा में मेरे पास आ गए थे।

थोड़ी देर बाद पता चला कि जिस पहाड़ को हम खोद रहे थे, उससे चूहा ही निकला है। वस्तुतः आनेवाली सेना किसी आक्रामक की नहीं वरन् सात्यकि के साथ आ रही सेना है, जिसे कोष की सुरक्षा की दृष्टि से उसने अपने साथ ले लिया होगा। क्षण भर में सारा आतंक अपनत्व में बदल गया। भयाक्रांतता हमारी मूर्खता पर स्वयं मुसकराने लगी।

आते ही सात्यकि ने कोष को पांडवों को सौंपा। साथ आए सैनिक अब भी यमुना के किनारे खड़े थे। सात्यकि ने मेरे पास आकर कहा, “आप बड़े भैया को लेकर जल्दी चलिए।”

“क्यों?”

“सेनापति का कहना है कि हम लोगों ने बहुत दिनों से उन लोगों को देखा नहीं है। हम उनका दर्शन करके और आशीर्वाद लेकर ही विश्राम करेंगे।”

मैं भैया को लेकर वहाँ पहुँचा। हमें देखते ही पूरी सेना गद्गद हो गई। उनके औपचारिक सैनिक अभिवादन से कहीं अधिक प्रभावकारी उनके भीगे नेत्रों का असैनिक अभिवादन था। मेरी दृष्टि हर सैनिक की आकृति को छूती निकल गई। मुझे ऐसा लगा जैसे उनके सामने कोई अदृश्य दृश्य हो गया है।

मैंने सेनापति से पूछा, “आप सब प्रसन्न तो हैं? द्वारका कुशल से तो है?”



“सब कुशल है। केवल एक आशंका हमारे मन में है।”

“क्या?”

“यही कि जहाँ से आप जाते हैं, वहाँ फिर लौटकर नहीं आते।” सेनापति ने कहा, “वृंदावन से लौट आए तो फिर उधर झाँका तक नहीं। मथुरा छोड़ी तो उधर मुँह नहीं किया। द्वारका आशंकित है कि आपका यही व्यवहार कहीं हमारे प्रति भी न हो जाए।”

मैंने मुसकराते हुए कहा, “आप सब चलकर विश्राम करें और विश्वास रखें, मैं द्वारका की आशंका को शीघ्र ही निर्मूल करूँगा।”

भोजन के बाद रात्रि में सात्यकि से मेरी विधिवत् वार्ता हुई। उसने अपनी बात निराशा से ही आरंभ की—“जैसी आशंका थी वैसा ही हुआ। अपना हिस्सा कौन कहे, सत्राजित् ने एक निष्क भी नहीं दिया। और तो और, उसने औरों को भी न देने के लिए भड़काया—‘केवल दो-चार व्यक्ति को हम सभी यादवों की ओर से कोई निर्णय लेने का क्या अधिकार है? यदि उन लोगों ने निर्णय लिया है तो जितना देना हो, अपने कोष से दें। अपना धन दोनों हाथ से लुटाएँ। हमें क्या! पर उनके निर्णय से हम बँधे नहीं हैं।’

“पिताजी ने उन्हें समझाया कि ‘कन्हैया केवल कुछ व्यक्तियों में से एक नहीं हैं। वे हमारे नेता हैं, नायक हैं। उनका निर्णय हमें शिरोधार्य करना चाहिए।’

“‘तो करो न तुम शिरोधार्य—और होगा वह तुम्हारा नेता।’ उसने छूटते ही कहा, ‘मैं उसे अपना नेता नहीं मानता।’

“‘पर वे तो आपको मानते हैं।’ पिताजी (सत्यक) बोले, ‘आपको अपना समझते हैं। इतना महत्त्वपूर्ण निर्णय लेते समय क्या आप उनके मस्तिष्क में न रहे होंगे? वे आप पर बड़ा गर्व करते हैं। बहुधा कहा करते हैं कि हम यादवों में एक ऐसा राजा है, जिसके पास स्यमंतक मणि है। हमें कभी धन का अभाव नहीं हो सकता।’ तब सत्राजित् बोला, ‘उस दुष्ट की दृष्टि तो सदा मेरी स्यमंतक मणि पर ही रही है। वह मणि तो व्यक्तिगत मेरी अपनी है। उससे यादवों का क्या!’”

सात्यकि ने बताया—“उसने इसके अतिरिक्त भी बड़ी अंड-बंड बातें कीं। हम लोगों के बारे में उसका मन साफ नहीं है। वह बहुधा हम लोगों के बारे में प्रचार किया करता है कि ‘वे लोग तो यहाँ के हैं भी नहीं। भगोड़े हैं। आज यहाँ, कल वहाँ। वह तो ककुद्मिन की विक्षिप्तता का लाभ उठाकर द्वारकाधीश बन बैठा है। वस्तुतः द्वारकाधीश होने का असली अधिकारी तो मैं ही हूँ। देखना, आज नहीं तो कल, द्वारका का सर्वेसर्वा मैं ही होऊँगा।’”

“हाँ, महत्वाकांक्षी तो वह है ही।” मैंने कहा।

“तो उसकी महत्वाकांक्षा सिर उठाए, इसके पहले ही उसे चूर कर देना चाहिए।” भैया तुरंत आवेश में आ गए।

मैंने उन्हें मुसकराते हुए शांत किया—“महत्वाकांक्षा का मुकुट यदि मूर्खता के सिर पर हो तो बुद्धि से काम लेना चाहिए।”

“क्या बुद्धि से काम लोगे!” भैया ने एकदम मुझे झिड़क दिया।

जब उन्हें क्रोध आता था तब वे किसीको कुछ नहीं समझते थे। मैं तो उनका छोटा भाई ही था।

मैंने फिर मुसकराते हुए ही उत्तर दिया—“मैं उसे मधु चटाऊँगा और वही उसके लिए विष हो जाएगा।”

लोग हँसने लगे और भैया का आवेश भी थमा।

मैंने सत्राजित् के विषय में एक दूसरा प्रश्न किया—“वह मुझसे जलता है, यह बात तो समझ में आती है; पर वह तुम लोगों से क्यों नाराज है? चाचा (सत्यक) से उसकी क्यों नहीं पटती?”

“पहली बात तो यही है कि हम लोग उसके निकट होकर भी आपको महत्त्व देते हैं और...” फिर वह कहते-

कहते रुक गया।

“और दूसरी बात?”

“वह मुझसे मत सुनिए।” इतना कहते-कहते उसमें लज्जा और संकोच दोनों दिखा—“द्वारका चलने पर आप सबकुछ जान जाइएगा।”

कुछ तो मैं समझ गया; पर मैंने बात आगे नहीं बढ़ाई, क्योंकि रात काफी जा चुकी थी। राजभवन के मंदिर की शयन आरती के घंटे बजने लगे थे। निष्कर्ष यही था कि द्वारका से बहुत दिनों तक बाहर रहना अब उचित नहीं होगा।

चलते-चलते मैंने सात्यकि से कहा, “एक जिज्ञासा तो रह ही गई।”

“क्या?”

“कोष तो तुम हमारे संकल्प के अनुसार पूरा ले आए हो। फिर सत्राजित् का हिस्सा किसने दिया?”

“पिताजी ने अपने कोष से दिया।”

“तब तो उन्हें अभाव का भी सामना करना पड़ सकता है।”

“अब तो जो सामने आएगा, उसे देखना ही पड़ेगा।”

□

आज ज्यों ही प्रातःकालिक संध्या से मैं निवृत्त हुआ त्यों ही एक परिचर ने आकर कहा कि महाराज युधिष्ठिर आपको स्मरण कर रहे हैं। यों कई खांडवप्रस्थवासी (जो पहले हस्तिनापुरवासी थे) दूसरे कक्ष में मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे अपनी-अपनी समस्याएँ लेकर आए थे। लोगों से मिलने का मेरा समय भी यही था।

“थोड़ी देर में यदि मैं आऊँ तो?” मैंने परिचर से कहा।

“महाराज ने कहा है कि उन्हें अभी साग्रह लेकर आओ।” वह बोला।

तब तो अवश्य ही कोई बहुत आवश्यक कार्य होगा। मैंने आगंतुकों से क्षमा माँगी और चल पड़ा।

यहाँ आकर देखा कि एक दिव्य विभूति महाराज के सिंहासन पर विराजमान हैं और महाराज उन्हींके चरणों के निकट एक सामान्य मंचक पर बैठे हैं। उन्हींकी बगल में उनके भाई भी बड़े शांतभाव से स्थित हैं। मैंने उन्हें देखते ही समझ लिया कि युधिष्ठिर जिन महर्षि की चर्चा कर रहे थे, ये वे ही हैं। मैंने भी उन्हें सादर प्रणाम किया और युधिष्ठिर के निकट ही बैठ गया।

विशाल लंबी पिंगल जटाएँ और श्मश्रु के अधपके बालों से युक्त कंचनवर्णी गौरता से सारा व्यक्तित्व जैसे अग्नि-सा भभक रहा था। वस्तुतः उन्हें देखते ही मेरा मस्तक झुक गया।

उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा, “मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे यहाँ रहते यह कार्य हो जाए। इसीलिए मैं दो दिनों पूर्व भी यहाँ आया था और आज भी आया हूँ।” ऐसा लगा जैसे वे मुझे जानते हों।

महाराज ने अब उनका विस्तार से परिचय दिया और बताया कि महर्षि की एक इच्छा है।

हम लोगों की दृष्टि प्रश्नवाचक हुई। मैंने बड़े गौर से महर्षि की ओर देखा।

वे कुछ बोले नहीं वरन् युधिष्ठिर ने ही कहा, “महर्षि की इच्छा है कि खांडव वन भस्म कर दिया जाए।”

हम लोग कारण पूछें, इसके पहले ही महर्षि बोल उठे—“क्योंकि यह वन राक्षसों, हिंसक पशुओं और विषैले नागों का स्थायी निवास हो गया है। कई बार उन्हें मारने और भगाने का प्रयत्न किया गया। कई बार उन्हें जलाने का भी प्रयास किया गया; पर सब व्यर्थ हुआ।”

“जलाने का भी प्रयत्न व्यर्थ हुआ!” अब मैं साश्चर्य बोल उठा—“जब अब तक सारे प्रयत्न व्यर्थ हो गए तब अब वह हम लोगों से कैसे सार्थक होगा?”

इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने विस्तार से बताया—“यहाँ तक्षक नाग अपने बहुत बड़े परिवार के साथ रहता है। उसने इंद्र को प्रसन्न कर रखा है। उसीके आग्रह पर इंद्र घनघोर वर्षा कर जलती हुई आग को बुझा देता है।”

“आपकी आज्ञा का पालन करते हुए यदि हम लोगों ने भी उसे पुनः भस्म करने की चेष्टा की, तो फिर वही होगा। इंद्र उसे बुझा देगा।” युधिष्ठिर ने अत्यंत विनीत स्वर में कहा।

“इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि जब तक कृष्ण यहाँ हैं, यह कार्य पूरा करना चाहिए।” महर्षि बोले, “मैं जानता हूँ कि एक बार इन्होंने इंद्र का गर्व चूर किया था। यहाँ भी यदि आवश्यकता पड़ेगी तो यह उसे अपना पराक्रम दिखाएँगे।” फिर कुछ सोचकर महर्षि की आकृति पर एक मुसकराहट उगी—“हो सकता है, कृष्ण का नाम सुनकर इंद्र इस झमेले में पड़े ही नहीं।”

“ऐसा क्यों?”

“क्योंकि इंद्र राजनीतिज्ञ भी है, चतुर भी है और भीतर से भीरु भी।” महर्षि बोले, “वह अपने से दुर्बल पर सिंह की तरह झपटता है, पर सिंह का सामना होने पर वह बिडाल बन जाता है।”

“किंतु खांडव वन को भस्म करने में कई शास्त्रीय वर्जनाएँ हैं।” मैंने कहा, “भारतीय संस्कृति में जो भी श्रेष्ठ है, आश्चर्यजनक है, पवित्र है, पूजनीय है वह सब इन प्राचीन तपोवनों की स्मृति से विजटित है।”

“पर यह तपोवन नहीं है।” महर्षि ने बड़े विश्वास से कहा, “तपोवन तो वह होता है, जहाँ तपस्वियों का वर्चस्व हो, जहाँ वृक्षों में मंत्रों की अनुगूँज हो, जहाँ के वायु में यज्ञ की साकल्य सुरभि हो; पर यहाँ तो विषधरों का राज है, राक्षसों का वर्चस्व है। तपस्वी हर दृष्टि से प्रताड़ित हैं। उनकी रक्षा करना तो आपका धर्म है।”

सब चुप हो गए। मैंने दबी जबान पूछा, “वन को विदग्ध किए बिना इन विषधरों और हिंस्र जीवों का सफाया नहीं किया जा सकता?”

“नहीं, कदापि नहीं।” महर्षि की आवाज और तेज हुई—“यही समझो कि अग्नि उन्हें निगलने के लिए भूखी है।”

मेरी दृष्टि फिर उनकी ओर गई। उनकी आँखों से जैसे ज्वाला निकल रही थी। फिर भी मैंने कहा, “वृक्षों में भी जीवात्मा है। उनको नष्ट करने की वर्जना मनुष्य वैदिककाल से स्वीकार करता आ रहा है।”

महर्षि अट्टहास कर बैठे—“आपको वृक्षों की महत्ता का ज्ञान है; पर आप यह नहीं जानते कि सबसे बड़ा धर्म मानव धर्म है। मनुष्य की रक्षा के लिए कुछ भी करना पाप नहीं है।” फिर उन्होंने मुझे ध्यान से देखा—“आपका जन्म ही धर्म की रक्षा और स्थापना के लिए हुआ है।”

मैं कुछ बोला नहीं, केवल मुसकराकर रह गया। मुझे आश्चर्य था कि वे मेरे संबंध में इतना जानते कैसे थे। यह भी पूछने का मेरा साहस न हुआ; क्योंकि मुझे लगा कि इस ऋषि के मुँह लगना आग से खेलना है।

फिर उन्होंने युधिष्ठिर से पूछा, “आखिर तुम राज किसपर करोगे? मनुष्यों पर या राक्षसों पर अथवा विषधरों पर? यदि उनका अंत नहीं किया गया तो हस्तिनापुर से तुम्हारे साथ आए लोग धीरे-धीरे समाप्त हो जाएँगे। प्रजा के साथ ही तुम्हारे राज्य का अस्तित्व भी संकट में पड़ जाएगा।”

अब हमारे पास महर्षि के आदेश के विरुद्ध कोई तर्क नहीं था, सिवाय इसके कि मैं आदिवासियों की चर्चा करूँ। मैंने उनकी बात चलाते हुए कहा, “उनकी जीवनरक्षा होनी चाहिए। उनमें हमारी आदि संस्कृति सुरक्षित है।” “उनकी रक्षा तो अवश्य होनी चाहिए। आखिर वे भी मानव हैं।” महर्षि ने कहा, “इसके लिए पूरे खांडव वन में उन्हींकी भाषा में सूचना प्रसारित करानी चाहिए कि वन अब अग्नि की हवि बनने वाला है। आप लोग यमुना के किनारे समतल प्रदेश में चले आएँ। और तपस्वियों, वानप्रस्थियों एवं तांत्रिकों को सूचित करने का कार्यभार मैं अपने ऊपर लेता हूँ।”

इसके बाद उन्होंने युधिष्ठिर से विशेष रूप से कहा, “इसमें मेरा स्वार्थ तो है ही, सबसे बड़ा तुम्हारा स्वार्थ है। इस वन के रहते कभी तुम्हारा राज्य हस्तिनापुर की बराबरी नहीं कर सकता। नए निर्माण के लिए यह ध्वंस आवश्यक है।”

मैंने बहुत कुछ आगा-पीछा सोचा और फिर इस निष्कर्ष पर आया कि यदि पांडवों को खांडवप्रस्थ में जमना है, तो महर्षि की आज्ञा का पालन करना ही पड़ेगा।

मैंने अत्यंत विनम्रता से कहा, “हमें आपका आदेश शिरोधार्य है और पहले भी था। हम लोगों ने ये सारी बातें तो मात्र जिज्ञासावश की हैं; पर हमें यह कार्य अब भी कठिन लगता है।”

“बिल्कुल कठिन नहीं है।” महर्षि बोले, “हमारे पास कुछ अभिमंत्रित अग्निबाण हैं और तुम्हारे पास अर्जुन जैसा धनुर्धारी। फिर कठिनाई किस बात की?”

“कठिनाई तो अभी भी है।” अब अर्जुन बोला, “मैं उन अग्निबाणों का संचालन तो जानता हूँ; पर उसके लिए जैसा उपयुक्त धनुष चाहिए वैसा धनुष मेरे पास नहीं है—और न हमारे सामान्य रथ से ही काम चलने वाला है। खांडव वन के दाह के लिए ऐसा रथ चाहिए, जिसका अक्ष (रथ का धुरा) तथा ईषामुख और ईषादंड (रथ के अंग विशेष) कुछ विशेष प्रकार के हों, जिससे यथाशीघ्र उसे घुमाया और मोड़ा जा सके।”

“इस समस्या का समाधान भी मैं करने की चेष्टा करूँगा।” ऋषि मुसकराए और आशीर्वाद देकर उस समय चले गए।

हम लोग जैसा समझते थे, महर्षि उससे अधिक तेजस्वी और यशस्वी थे। कहाँ उनकी पहुँच नहीं थी! दूसरे ही दिन वे एक दिव्य रथ पर पधारे। उसके अश्व परम शक्तिशाली और श्वेत थे। उसकी रक्षा शक्ति (रथ की पताका का दंड) स्वर्ण की थी। उसपर वानर के चिह्न की श्वेत पताका लहरा रही थी। उसका चमचमाता अभीषु (लगाम) सँभाले वे स्वयं रथ का संचालन कर रहे थे। उनका व्यक्तित्व और भी भव्य लग रहा था।

ऐसा दिव्य रथ निश्चित ही किसी देवपुरुष का होगा, हमने सोचा; पर हमारा साहस नहीं हुआ कि हम पूछें कि यह किसका रथ है और आप इसे कहाँ से लाए हैं। उन्होंने स्वयं कहा कि यह वरुण का रथ है। उन्होंने महाराज सोम से लिया था।

जिज्ञासा तो बहुत थी; पर हम यह नहीं पूछ पाए कि यह महाराज सोम कौन हैं? इसके पहले ही उन्होंने अर्जुन से कहा कि अब यह तुम्हारे लिए है।

अर्जुन परम प्रसन्न हो गया। फिर उन्होंने अक्षय तूणीर और गांडीव धनुष भी दिया। हम सब उसे देखते ही रह गए। ऐसा दिव्यास्त्र हमने बहुत कम देखा था।

भैया ने मेरे कान में कहा, “अवश्य ही यह देवलोक की वस्तु है।”

“यह सब वरुण का था; पर अब तुम्हारा है।” उन्होंने अर्जुन से मुसकराते हुए पूछा, “अब तुम प्रसन्न हो?”

अर्जुन ने कृतज्ञता भरे आह्लाद से आभार व्यक्त किया।

इसके बाद उन्होंने मुझे भी एक चक्र दिया और कहा, “यह चक्र तुम्हारे चक्र से अधिक शक्तिशाली तो नहीं है, पर इसकी मारक क्षमता अद्भुत है।”

हम सभी चमत्कृत थे; पर भैया सबसे अधिक चमत्कृत थे। उनका अनुमान सही लग रहा था कि इतने दिव्यास्त्र देवलोक के अतिरिक्त और कहीं के हो नहीं सकते। तब तक महर्षि ने रथ के भीतरी भाग में रखी एक गदा निकाली। वज्र जैसी कठोर कनकवर्णी यह गदा किसी विशेष धातु की लगी।

वे उसे मुझे देते हुए बोले, “यह अपराजेय ‘कौमोदकी’ गदा है। इसे तुम रखो या अपने भैया को दे दो।”

भैया ने तुरंत उसे उनके हाथ से ले लिया। मुझे लेने का अवसर ही नहीं दिया। वे हँसने लगे। इसके बाद वे बोले, “अब तुम लोगों की समस्या हल हुई। अब मेरी समस्या हल करने में कोई कठिनाई तो नहीं आनी चाहिए?”

“कठिनाई अभी तो नहीं आनी चाहिए।” युधिष्ठिर ने धीरे से कहा।

“दबी जबान से नहीं वरन् साहस और विश्वास से कहो।” वे हँसते हुए बोले।

और हम सबने उन्हें विश्वास दिलाया। वे इस बार खुलकर हँसे। मुझे अचानक लोहिता की याद आई। मैंने कहा, “जब हम लोग पांचाल से हस्तिनापुर आए थे तो हमारे स्वागत में आए एक बूढ़े ने भी हमें पाँच अभिमंत्रित बाण दिए थे।”

महर्षि की आँखों में जिज्ञासा चमक उठी। वे साश्चर्य बोले, “पाँचों अभिमंत्रित! कौन है वह बूढ़ा?”

“मथुरा का एक बहुत पुराना अस्त्र निर्माता। उसका नाम है लोहिता।” मैंने बताया—“अस्त्र-शस्त्र का निर्माण तो उसका गृह उद्योग है।”

“गृह उद्योग और अभिमंत्रित अस्त्र!” महर्षि बोले, “मैं तो समझता था कि आश्रम की शिक्षा के बिना अभिमंत्रित अस्त्रों का निर्माण किया ही नहीं जा सकता।”

“मनुष्य के सामर्थ्य और उसकी संकल्प शक्ति का पूरा अनुमान न होने के कारण हम बहुत से भ्रम पाले रहते हैं।” मैंने कहा, “ऐसा ही भ्रम आचार्य द्रोण को भी था; पर जब उन्होंने एकलव्य को देखा तो एक आदिवासी बालक की साधना और तपस्या के समक्ष उनके आचार्यत्व के अहं के साथ-साथ शिक्षा की पूर्णता के लिए आश्रम की अनिवार्यता का विश्वास भी चूर हो गया।”

महर्षि बड़े आश्चर्य से मेरी बात सुनते रहे। पर एकलव्य की बात सुनते ही अर्जुन की दृष्टि नीची हो गई। फिर भी मैं बोलता रहा—“जब आदिवासी बिना किसी व्यवस्थित शिक्षा के धनुर्विद्या की सारी कलाएँ सीख सकता है तब परंपरा से चले आए कुटीर उद्योग में भी अग्निबाण बनाया जा सकता है।”

महर्षि का विस्मय शिखर पर था।

□

दो दिनों तक मुनादी कराई गई।

खांडव वन भस्म किए जाने का समाचार वन के हर निवासी तक पहुँच गया। तपस्वियों की तो यह योजना ही थी। उन्होंने सरलता से वन त्याग दिया; पर आदिवासियों के लिए यह अधिक कठिन था। वनों पर उनका जीवन निर्भर था। जंगल उनका था और वे जंगल के थे। उनकी सारी संस्कृति वनों की उपज थी और उससे जुड़ी थी। उनका उससे भावात्मक लगाव था। वे उसे जल्दी छोड़ नहीं पा रहे थे। उन्होंने तरह-तरह की समस्याएँ रखीं। उनका समाधान किया गया, तब कहीं वे तैयार हुए और अपनी झोंपड़ियाँ यमुना किनारे बनाने लगे।

एक व्यक्ति को भी आवास छोड़ने में कठिनाई होती है, पर यहाँ तो छोटी-मोटी आबादी के ही अरण्य छोड़ने का प्रश्न था। बड़ी शीघ्रता करने पर भी अर्द्ध पक्ष लग गए। इतना होने पर भी तांत्रिक उसे छोड़ने को तैयार नहीं थे। यह तो आप जानते ही हैं कि तांत्रिकों का एक बड़ा समूह उन वनों में था।

उनका एक शिष्टमंडल आकर महाराज युधिष्ठिर से मिला भी। उन्होंने महाराज से कहा, “यह हमारी तपोस्थली है। हमारी सिद्धभूमि है। हमने बड़ी साधना कर इस भूमि को सिद्धता दी है। दूसरे स्थान पर हमारी विद्या फलवती नहीं होगी।”

“वन भस्म होने के बाद आपका स्थल तो रहेगा ही। आप वहीं जाकर बस जाइएगा।” महाराज ने कहा, “हमारा उद्देश्य किसीको उजाड़ने का नहीं है।”

“हम उजड़ने से नहीं डरते।” उनका नेता बोला, “हमारी समस्या यह है कि जब वन जल जाएगा तब हमारी भूमि

की सिद्धता भी उस अग्नि की हवि हो जाएगी।”

इसके बाद उन तांत्रिकों ने महाराज को डराया भी—“कुछ ही दिनों में चातुर्मास आरंभ हो जाएगा। ऐसे समय में लोग पक्षियों को भी अपने घोंसले से अलग नहीं करते। आप हम अरण्यवासियों को अरण्य से अलग करना चाहते हैं! आप तो धर्मराज हैं न! क्या यही धर्म है आपका?”

तांत्रिकों के नेता ने महाराज के व्यक्तित्व के नितांत दुर्बल पक्ष पर उँगली धर दी थी। वे असमंजस में पड़े। उन्होंने तुरंत मुझे बुलाया।

मैंने पहुँचते ही देखा, युधिष्ठिर बड़े गंभीर हैं। उनके शेष भाई भी चुप बैठे हैं। महाराज ने उन तांत्रिकों से मेरा परिचय कराया। नकुल ने मेरे कान में धीरे से कहा, “इन तांत्रिकों का नेता वही व्यक्ति है, जो हम लोगों के विरुद्ध अभिचार कर रहा था।”

मैंने बड़े ध्यान से उसकी बातें सुनीं, तब महाराज का पक्ष रखा—“महाराज ने महर्षि अग्नि को वचन दिया है। यदि वे ऐसा नहीं करते तो उन्हें वचन-भंग का पाप लगेगा।”

“तो आपको हमारे पाप-शाप का भय नहीं है!” उन्होंने मुझे भी धमकाना चाहा।

“हम लोग या तो स्वयं से डरते हैं या भगवान् से—और किसीसे नहीं डरते।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“यदि ऐसा है तो हम लोग इंद्र को प्रसन्न करने के लिए एक विराट् यज्ञ करेंगे। वह ऐसी वर्षा करेगा कि आपकी सारी अग्नि बह जाएगी।”

“इसके लिए आप स्वतंत्र हैं।” मैंने बड़े सहजभाव से कहा।

“शायद उसके परिणाम का आपको अनुमान नहीं है।” तांत्रिकों का नेता कुछ तेज आवाज में बोला।

“यदि हमें अनुमान नहीं है तो आप क्यों चिंता करते हैं? आप अपना काम करें और हमें अपना काम करने दें।” मेरी आवाज उससे भी तेज थी।

इसका प्रभाव युधिष्ठिर पर भी पड़ा। उन्होंने तुरंत उन तांत्रिकों से कहा, “अब आप जा सकते हैं।”

वे चुपचाप उठे और चले गए। इसके बाद हम लोग हस्तिनापुर से आए लोगों के आवासस्थल पर गए। उन्हें हमें समझाना था कि आग भयंकर और प्रलयंकर भी हो सकती है। यों तो हम आपके बचाव की पूरी व्यवस्था करेंगे, फिर भी आपको सावधान तो रहना ही चाहिए।

फिर मैंने उन्हें विस्तार से इस होनेवाले अग्निकांड की अनिवार्यता बताई और कहा कि यह सारा ध्वंस एक नए निर्माण के लिए हो रहा है। यह योजनाबद्ध है।

“इसमें हमारी भागीदारी क्या होगी?” महापौर चंद्रसेन ने पूछा।

“आपकी भागीदारी सावधानी के निर्वाह तक सीमित है तथा एक काम आपको और करना है।” मैंने कहा।

“क्या?”

उसको किनारे ले जाकर मैंने तांत्रिकों का आज का पूरा प्रसंग सुनाया और बताया—“उनका नेता वही था, जो हम लोगों के विरुद्ध अभिचार कर रहा था। वह शकुनि मामा का अपना व्यक्ति है। उसका विश्वास नहीं। वह पांडवों को संकट में डालने के लिए कुछ भी कर सकता है। उसपर आपको ध्यान रखना होगा। वह जिस तरह से राजभवन से अपमानित और क्रुद्ध होकर निकला है, उससे स्पष्ट है कि वह हमारा अनिष्ट करने में कोई भी कमी नहीं रखेगा। यहाँ तो उसे हमारे सैनिक देख लेंगे; पर आप इसका ध्यान रखिए कि वह हस्तिनापुर न जाने पाए। उसके पीछे लगी आपकी सजग और सतर्क दृष्टि की हमें बड़ी आवश्यकता है।”

हम लोग एक नई स्थिति का सामना करने में लगे थे। उधर अर्जुन प्रसन्नता में यमुना के किनारे अपना नया रथ

दौड़ा रहा था। उसने कभी इतना विलक्षण रथ देखा नहीं था। वायु की गति से चलनेवाला रथ—और वह भी संकेत पाते ही मोड़ ले लेता था। चक्र और अक्ष (जुआ) ऐसे कि जहाँ भी चाहिए, रथ को मोड़ लीजिए। वह सारथि के बिना स्वयं रथ चला रहा था। हवा के पंखों पर कपोत की तरह चक्कर मार रहा था।

धनुष पर भी वह मुग्ध था। जब उसकी प्रत्यंचा खींचकर उसे छोड़ता, तब उसकी टंकार भीषण होती थी। उसकी प्रतिध्वनि की गूँज-अनुगूँज बहुत देर तक सुनाई देती थी। हो सकता है कि वह अतिशयोक्ति ही हो; पर लोग तो यहाँ तक कहते थे कि यदि वायु अनुकूल हो तो गांडीव की टंकार हस्तिनापुर तक सुनाई देती है।

मैंने अर्जुन के इस पागलपन को रोका—“तुम जानते हो, इसका परिणाम क्या होगा?”

वह शांत हो मेरा मुख देखने लगा।

मैंने कहा, “जब हस्तिनापुर तुम्हारे धनुष की टंकार सुनेगा तो वह समझेगा कि हमें युद्ध के लिए ललकारा जा रहा है—और यदि इस स्थिति में वे तुमपर आक्रमण कर दें तो तुम्हारे लिए भीषण संकट उत्पन्न हो जाएगा और तुम युद्ध के अपराधी भी घोषित किए जाओगे।”

“किंतु नए धनुष के संचालन के लिए पहले उसका अभ्यास तो करना ही पड़ेगा।”

“तो अब कर चुके न!” मैंने कहा, “अब उसे रख दो और खांडव दाह के समय ही उसका अभ्यास करना।”

उसने मेरी बात मान ली।

उसी संध्या को गुप्तचरों से पता चला कि कुछ तांत्रिकों ने सिद्धस्थल पर इंद्र को प्रसन्न करने का यज्ञ आरंभ कर दिया है। युधिष्ठिर ने सूचित किया; पर यह भी बताया कि बहुत से तांत्रिक वन छोड़कर यमुना के किनारे आ गए हैं। कुछ ने राजभवन के प्रांगण में भी शरण ली है।

“पर बहुत से सिद्ध तांत्रिक वहीं रह गए हैं। पिछले अनुभव के आधार पर उन्हें विश्वास है कि इस बार भी इंद्र की सहायता से उनकी रक्षा हो जाएगी।” गुप्तचर ने बताया—“वह यह भी सोचते हैं कि हम किसी तरह टालते जाएँगे और फिर चातुर्मास आरंभ हो जाएगा, तब धर्म भी हमारी रक्षा करेगा और प्रकृति भी।”

मैंने तुरंत अर्जुन को बुलाया और सारी स्थिति समझाकर कहा, “महाराज की अनुमति लेकर यह कार्य कल प्रातः से ही आरंभ कर दो, नहीं तो फिर यज्ञ का प्रभाव आरंभ हो जाएगा—और इस योजना का समाचार किसी तरह तक्षक को लगा तो वह भी लौट सकता है। अभी तो वह कुरुक्षेत्र में है।”

उसी रात योजना बनी कि केवल मैं और अर्जुन इस कार्य को संपन्न करेंगे। अन्य लोग राजभवन में रहेंगे। वे किसी भी परिस्थिति का सामना करने के लिए तैयार रहेंगे। जब भीतर आग लगती है तब बाहर की तलवारों का खतरा बढ़ जाता है। इस समय भीतर और बाहर, धरती और आकाश—सबका हमें सामना करना पड़ सकता है। इसलिए आधी सेना राजभवन में रहेगी और आधी यमुना के किनारे उन लोगों की सेवा और सुरक्षा में रहेगी, जिन्होंने वन प्रदेश छोड़कर वहाँ शरण ली है।

“आधी सेना उनकी देखभाल में रहेगी!” महाराज ने आश्चर्य व्यक्त किया।

“जी हाँ, आधी सेना।” मैंने फिर जोर देकर कहा, “उन्हें एक-एक व्यक्ति को वर्षा और यमुना की बाढ़ से बचाना होगा।”

महाराज कुछ नहीं बोले।

अगले ब्राह्म मुहूर्त में मैं अर्जुन के साथ निकल पड़ा। दिव्य रथ, अक्षय तूणीर, गांडीव धनुष और लोहिता के दिए हुए बाण हमारे पास थे। अब समस्या थी कि रथ का संचालन कौन करे। मैं अपने सारथि दारुक को अभीष्ट (लगाव) थमा नहीं सकता था; क्योंकि इस प्रकार के रथ के संचालन का उसे अनुभव नहीं था। अर्जुन ने अभ्यास

कर लिया था। वह इसका संचालन कर सकता था; पर यदि वह रथ ही चलाएगा तो गांडीव कौन धारण करेगा? अर्जुन का आग्रह तो यही था कि कन्हैया, इसे आप ही धारण कीजिए।

“उस दिव्य पुरुष द्वारा तो गांडीव तुम्हें ही दिया गया है। उन्होंने कुछ सोच-समझकर ही ऐसा किया होगा। फिर मैं किसीकी वस्तु क्यों धारण करूँ?” मैंने कहा, “तो मैं अभीषु ही थामता हूँ।”

“पर उस दिव्य पुरुष ने यह रथ भी मुझे ही दिया है।” अर्जुन ने मुसकराते हुए कहा।

“हाँ, भाई, यह रथ तुम्हारा ही है। मैं इसका स्वामी बनने की आकांक्षा भी नहीं रखता; पर इसका सारथि तो बन सकता हूँ।” मैं भी हँसा और वह भी।

हँसते हुए ही हम रथ पर सवार हुए।

यमुना के किनारे से ही खांडव वन पर सूर्योदय के पूर्व प्रथम अग्निबाण मारा गया। पहले ही बाण में धधकती हुई अग्निशिखा आकाश चूमने लगी।

मैंने अर्जुन से पूछा, “यह अक्षय तूणीर का बाण था या लोहिता का दिया हुआ?”

“अक्षय तूणीर का।”

“यह तो अद्भुत है! यह धधकती ज्वाला कालाग्नि ज्ञात होती है। यह तो बुझाए नहीं बुझेगी। खांडव वन निश्चित भस्म हो जाएगा।” मैंने कहा, “अब मैं रथ को उत्तर की ओर मोड़ता हूँ। उधर से भी एक बाण मारो; क्योंकि हमें चारों दिशाओं से इसपर आक्रमण करना होगा, अन्यथा इसमें रहनेवाले हिंसक जंतु विषधर और राक्षस या तो दूसरी ओर से भाग निकलेंगे या सभी मिलकर हमपर आक्रमण कर देंगे।”

हमने ऐसा ही किया। सारा वन धू-धू कर जलने लगा। उसमें रहनेवाले जीव चीत्कार कर भागने लगे। जैसे धरती को फोड़कर ज्वालामुखी का लावा निकलता है, जैसे चट्टानों को तोड़ती पहाड़ी नदी की उन्मत्त धारा निकलती है और जैसे सीधे हृदय में बाण लगने पर रक्त का फव्वारा निकलता है वैसे ही चारों ओर से खांडव वन से अपनी जीवनरक्षा के लिए जीव निकलने लगे। अग्नि की गगनचुंबी लपटों की तरह उन जीवों की रक्षा की पुकार और चीत्कार भी गगनचुंबी थी। मैंने तो कभी कल्पना भी नहीं की थी कि इस घने वन में इतने जीव होंगे।

इस अकल्पनीय घटना का यथार्थ बड़ा भयानक था। इसे देखकर अर्जुन विस्मयाकुल तो था ही, मोहग्रस्त भी हो गया। उसका अपराधबोध जागा। इतने जीवों की हत्या का पाप मैं क्यों ले रहा हूँ? इसके बाद ही वह अत्यंत भावुक हो बोला, “एक राज्य के निर्माण के लिए इतनी हत्याएँ और उनकी, जो निरपराध हैं, जो अनाक्रामक हैं, जो शांति से अपना जीवन जी रहे थे? कष्ट दिया होगा उन्होंने किसीको, पर हमारे विरोध में तो अभी तक उन्होंने कुछ नहीं किया। कन्हैया, किसलिए यह सब?”

इतना कहते-कहते उसने धनुष रख दिया। पर मैंने रथ रोका नहीं, दौड़ाता चला गया। जब एक सुरक्षित स्थान पर आया तब मैंने रथ की गति धीमी की और जोर से हँसा।

“यह हँसने का अवसर तो है नहीं।” अर्जुन बोला, “और आप हँसे जा रहे हैं।”

“तुम्हारी मूर्खता पर।” हँसते-हँसते ही मेरा स्वर और गंभीर हुआ—“तुम सोचते हो कि इन जीवों को तुम मार रहे हो। इस कृत्य का कर्ता मैं हूँ। यही तुम्हारी मूर्खता है।”

“जब ये मेरे बाण से मारे जा रहे हैं, तब क्या मैं इस कृत्य का कर्ता नहीं हुआ?”

“बिल्कुल नहीं।” मैंने कहा, “पहले तो ये बाण भी तुम्हारे नहीं हैं। तुम जिन्हें अपने बाणों से मरनेवाला समझते हो, वे तुम्हारे मारे जाने के पहले ही मर चुके हैं। (बाद में ‘गीता’ में विस्तार से व्यक्त होनेवाला यह विचार उसी समय जन्म ले चुका था।) ये उसी समय मारे जा चुके थे, जिस समय महर्षि ने तुम्हें दिव्य अस्त्र दिए थे। जैसे यह



धनुष, ये बाण, यह रथ—ये सब कर्ता नहीं, करण हैं; इनके द्वारा किया जा सकता है, किया जा रहा है, ये माध्यम हैं वैसे ही तुम भी करण हो, निमित्त मात्र हो। कर्ता तो कोई और है, वह सब कर चुका है।”

हमारी वार्ता चल रही थी कि अपनी रक्षा में चिंघाड़ते हुए जंगल से हाथियों का एक झुंड निकला चला आ रहा था। इन्हींके आगे-आगे तक्षकपुत्र अश्वसेन भागता निकला। मैंने अर्जुन को ललकारा कि चूकना मत। यदि यह बचकर निकल गया तो हमेशा तुम्हारा जीवन खतरे में रहेगा।

अर्जुन ने साधकर बाण मारा। वह फन नीचे कर एकदम लेट गया। हमें लगा कि यह ‘शेष’ का वंशज वहीं शेष हो गया। फिर उसकी माँ भी जीवन की आशा छोड़ बैठी। वह तो बाहर ही नहीं निकली।

इसके बाद हम थोड़ा और आगे बढ़े होंगे कि एक नितांत करुण-सा क्रंदन सुनाई पड़ा—“बचाओ, बचाओ! हे श्रेष्ठ धनुर्धर, मुझे अपना निशाना मत बनाओ।”

मैंने तुरंत रथ को घुमाया और उत्तर की ओर से अरण्य में प्रवेश करने की चेष्टा की। उधर से भी वही आर्तनाद सुनाई दे रहा था।

उधर जंगल जल नहीं रहा था; पर जिधर आग थी, वह भयंकर थी। लपटें इधर भी लपक रही थीं। ताप झुलसा देनेवाला था। वायु की गति भी अत्यंत तीव्र थी। थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर एक व्यक्ति भागता हुआ आकर अर्जुन के चरणों पर गिर गया। उसने उसे अभयदान दिया।

उसे देखते ही अर्जुन के मुख से निकल पड़ा—“अरे, यह तो राक्षस है!”

मुझे भी लगा कि मैंने इसे कहीं देखा है। अर्जुन का अभयदान तो उसे मिल ही चुका था। मैंने उसे अपने रथ पर बिठाया और जंगल से निकलते हुए उससे कहा, “लगता है, मैंने तुम्हें कहीं देखा है।”

“आपने मुझे नहीं देखा होगा।” वह कुछ प्रकृतिस्थ होते हुए बोला, “आपने मेरे भाई-बंधु को देखा होगा। उन्हीं लोगों ने आपकी राजधानी द्वारका बनाई थी।”

“तो तुम मय की वंश परंपरा के हो?”

“हाँ।”

“तब तो तुम अवध्य हो।” मैंने कहा, “इसलिए नहीं कि तुम्हारे वंश के लोगों ने द्वारका बनाई है, वरन् तुम शिल्पी हो। शिल्पी कलाकार होता है—और मेरी दृष्टि में कलाकार अवध्य होता है; भले ही वह राक्षस ही क्यों न हो!”

“अवध्य तो केवल ब्राह्मण है।” अर्जुन बीच में ही बोल पड़ा।

“किसी प्रकार की कला भी ब्राह्मण कर्म की अभिव्यक्ति है।” मैंने कहा, “समाज में चातुर्वर्ण्य की रचना गुण-कर्म के अनुसार हुई, जन्म के अनुसार नहीं। जन्म के अनुसार तो यह राक्षस ही है।” मुझे याद है कि यह बात मैंने फिर ‘गीता’ में दुहराई थी। वस्तुतः ‘गीता’ एक निश्चित समय में नहीं पैदा हुई वरन् उसका एक-एक बिंदु जीवन के अनुभवों से टपकता रहा और बाद में समुद्र बनकर युद्धस्थल में मोहग्रस्त अर्जुन के समक्ष लहराने लगा।

इसे मैंने और जोर देकर अर्जुन से कहा, “इसे अच्छी तरह समझो, पार्थ, कि कलाकार किसी राष्ट्र की विभूति है। उसका नष्ट होना राष्ट्र की अस्मिता की एक इकाई का नष्ट होना है। फिर इसके वंश के कलाकारों की कृतियाँ धरती की अमूल्य निधि हैं।” इतना कहने के बाद मैंने उसीसे पूछा, “तुम्हारे ही पूर्वजों ने सोने की लंका बनाई थी न?”

उसने बड़े गर्व के साथ स्वीकार किया और बोला, “मंदोदरी हमारे ही परिवार की थी। हमारे पूर्वजों ने लंका ही नहीं, कैलास पर्वत के उत्तर में, मैनाक पर्वत के समीप बिंदु सरोवर पर राजा वृषभवर्मन का विशाल सभागृह भी

बनाया था, जिसे देखकर इंद्र भी चकित हो गया था।”

बड़े गौरव से वह अपने परिवार की गाथा सुनाता रहा।

अब पूरा जंगल धू-धू कर जलने लगा था। ऐसा विलक्षण अग्निकांड मैंने तो नहीं देखा था। लंका का जलना सुना अवश्य था। सुना था कि उसकी लपटें रामेश्वरम् से भी दिखाई पड़ रही थीं। हो सकता है, इसकी भी लपटें हस्तिनापुर तक देखी जा सकी होंगी। उसकी धूमशिखा सारे आकाश में फैल गई थी। लगता था कि अमावस की कालिख पोतकर महामेघ छा गए हों।

मैंने अर्जुन से कहा, “इस स्थिति में इंद्र के कोप के आभास का भी हमें ज्ञान नहीं हो सकेगा। वास्तविक मेघों का दर्शन तो दूर, उनका भान भी हमें नहीं होगा।”

“पर वह कर क्या सकता है?”

“इस भ्रम में मत रहना। तुमने इंद्र जैसा महत्वाकांक्षी, स्वार्थी और ईर्ष्यालु चरित्र नहीं देखा होगा। उसे इस कांड की सूचना भर मिल जाएगी तो वह व्यग्र हो उठेगा। उसे लगेगा कि उसका प्रभुत्व खतरे में है। बस वह आक्रमण कर बैठेगा। फिर तांत्रिकों के यज्ञ की कुछ-न-कुछ तो प्रतिक्रिया होगी ही।”

“अब यज्ञ कैसा?” अर्जुन बोला, “यह अग्नि सबको निगल गई होगी।”

“यह हो सकता है कि उनका यह प्रयास असफल हो गया हो; पर हर असफलता अपना कुछ-न-कुछ प्रभाव छोड़ ही जाती है और कभी असफलताओं से बने सोपान ही हमें सफलता तक पहुँचाते हैं।” मैं कहता रहा—“फिर महर्षि की बात क्यों भूलते हो? खांडव दाह से तो इंद्र का अपना अहं भी जुड़ा है।”

बस इसके बाद ही भयानक कड़क हुई। फिर लगा कि हमारे धूम के मेघों को चीरती हुई कोई अग्नि की लपट निकल गई हो, अंधकार में प्रकाश का तक्षक दौड़ गया हो। और फिर घनघोर वर्षा शुरू हुई। वायु वेग इतना बढ़ा कि हमारे रथ के घोड़ों का बढ़ना भी कठिन हो गया।

मैंने अर्जुन को ढाढ़स बँधाया—“घबराना मत। इस वर्षा से भी यह कालाग्नि बुझने वाली नहीं है। आज इंद्र का अहंकार चूर होकर रहेगा; पर अपनी ओर से हमें चूक नहीं करनी चाहिए। महर्षि के निर्देशानुसार इस स्थिति का सामना करने के लिए हमारे अक्षय तूणीर में बाण हैं। तुम उन्हींसे प्रहार आरंभ करो।”

अब हमारा युद्ध आकाश से चलने लगा। पहले दो-तीन बाण तक तो मेघों का गर्जन-वर्षण बढ़ता ही गया, पर जब चौथा और अंत में पाँचवाँ बाण मारा गया तब सारे बादल एक धमाके के साथ वैसे ही फट गए जैसे भूकंप के साथ धरती फटती है। वर्षा बंद हुई।

“देखना, अब यही इंद्र किसी-न-किसी बहाने तुम्हारे सामने मित्रता का हाथ बढ़ाएगा।”

“ऐसा ही तो हमारे पूर्वजों के साथ भी हुआ है।” मय ने बताया और वह कथा सुनाई, जिसके अनुसार वह कभी मय परिवार का शत्रु था, पर पराजय की संभावना मात्र से उसने मित्रता कर ली।

“इसका तात्पर्य यह है कि इंद्र को आत्मसम्मान नहीं?” अर्जुन बोला।

“सत्ता की लिप्सा आत्मसम्मान के शव पर भी खड़ी हो सकती है, पार्थ!” मैंने मुसकराते हुए कहा।

□

कई दिनों तक खांडव वन जलता रहा। जैसीकि संभावना थी, उसकी लपटें हस्तिनापुर तक देखी गईं। हस्तिनापुर का राजभवन आशंकाओं में डूब गया। इतना भयंकर अग्निकांड कैसे हो गया? क्यों हो गया? पहले उन्हें कुछ मालूम नहीं। फिर उनका गुप्तचर विभाग सक्रिय हुआ; क्योंकि सबसे बड़ी चिंता शकुनि, दुर्योधन और उसके साथियों को थी। उन लोगों ने अघोषित रूप से इस वन को षड्यंत्र स्थल बना रखा था। शायद वे भविष्य में भी इसी वनगर्भ में पांडवों को परेशान करने का केंद्र बनाते।

पहले तो मैं सोचता था कि इस कांड में मय के अतिरिक्त और कोई नहीं बचा होगा, पर बाद में पता चला कि तक्षकपुत्र अश्वसेन भी बच गया है। आश्चर्य है कि वह बच कैसे गया! अर्जुन ने सीधे उसके फन पर बाण मारा था, उस समय मुझे लगा कि यह मर गया; किंतु उसके बचने की सूचना मिली। कई लोगों ने कहा कि हमने उसे उत्तर की ओर भागते देखा है।

मैंने अर्जुन को सचेत किया—“उससे सदा सावधान रहना। वह तुम्हारा स्थायी शत्रु है। चोट खाया साँप है। कभी-न-कभी बदला अवश्य लेगा।”

अर्जुन ने उस समय कोई ध्यान नहीं दिया। बात आई-गई और खत्म हो गई।

लगभग सात-आठ दिनों तक खांडव वन की ओर कोई नहीं गया; पर उसकी वर्तमान स्थिति देखने की इच्छा तो थी ही। एक संध्या को मैं अपने मित्रों और पांडवों के साथ चल पड़ा। जीवों की जली-भुनी लाशों से पटा खांडव वन ठंडा पड़ने लगा था। निराश और हताश मन से निकली आह की तरह बुझती हुई लकड़ियों से धुआँ अब भी निकल रहा था। लकड़ियों के बुझने के बाद भी कुछ का कोयला सुलग रहा था।

मैंने मुसकराते हुए अर्जुन से कहा, “जहाँ भी होगा, अश्वसेन ऐसा ही सुलग रहा होगा।”  
“आप अश्वसेन को लेकर अत्यधिक चिंतित हैं?” अब भी अर्जुन ने मेरे कथन की गंभीरता नहीं समझी।  
“मनुष्य उपकार भूल सकता है, पर अपकार नहीं भूलता।” मैंने कहा, “और सर्प! वह तो मृत्यु के क्षण तक नहीं भूलता। सर्प में प्रतिशोध की भावना भयंकर होती है; क्योंकि उसका क्रोध भयंकर होता है। लगता है, परमात्मा ने अपने कोष का आधा क्रोध सर्प को दिया और आधे में संसार के सारे जीवों का हिस्सा लगा दिया।”

अर्जुन ने सुना अवश्य; पर ‘जो कुछ होगा, देखा जाएगा’ की भावना से ही भावित रहा।  
“वनों की सघनता में इस क्षेत्र की विशालता छिपी रही।” युधिष्ठिर बोले, “अब यह कितना प्रशस्त हो गया! एक छोर से चलिए तो दूसरे छोर तक पहुँचना कठिन।”

युधिष्ठिर के विचार से अब एक सुंदर नगरी का निर्माण किया जा सकता है। एक ऐसी सुरक्षित नगरी, जो चारों ओर ऊँची-ऊँची प्राचीरों और कृत्रिम जलधारा से घिरी हो।

“ध्वंस पर ही कोई निर्माण संभव है।” अचानक और अप्रत्याशित अपनी प्रकृति के विरुद्ध भीम बोल पड़ा।

युधिष्ठिर ने भी अपनी प्रकृति के विरुद्ध ही चुटकी ली—“अच्छा, तो तुम यह भी जानते हो! अभी तक तो मैं समझता था कि भोजन के स्वाद के अतिरिक्त तुम बहुत अधिक नहीं जानते।”

एक खिलखिलाहट सबको छूती हुई निकल गई।

थोड़ी देर बाद अर्जुन ने गांडीव पर हाथ फेरते हुए कहा, “यदि आप लोगों की राय हो तो वर्षा आमंत्रित की जा सकती है।”

“इसकी क्या आवश्यकता है?” मैंने कहा।

“सुलगती अग्नि को शांत करने के लिए।”

“यदि ऐसा किया गया तो जीवों की अधजली लाशें दुर्गंध फैकने लगेंगी। फिर एक भयंकर समस्या खड़ी हो जाएगी।” मैंने कहा, “मेरी राय तो यह है कि अब इस वन को सैनिकों को सौंप देना चाहिए और उन्हें आदेश देना चाहिए कि इन अधजली लाशों को वन की अग्नि से जहाँ तक हो, जला डालने की व्यवस्था करें। फिर इस अग्नि को बुझाना शास्त्र-वर्जित भी है। यह कालाग्नि है। इसके कारक तुम्हीं बने और इसके संहारक भी तुम्हीं बनना चाहते हो! इस कालाग्नि को स्वयं शांत होने दो। शीघ्रता की कोई आवश्यकता नहीं।”

संध्या होते-होते हम लोग उस भस्मित वन्य प्रदेश की सीमा से भी बाहर हो चुके थे। महाराज की इच्छा थी कि

कल अपराह्न हम लोग फिर मिलें और आगे के कार्यक्रम पर विचार करें।

युधिष्ठिर ने यह प्रस्ताव विशेष रूप से मेरे ही लिए रखा था और मैं ही चुप रह गया।

“तुम मौन क्यों हो, माधव?” उन्होंने मुझसे पूछा।

“मुझे यथाशीघ्र द्वारका जाना चाहिए।” जैसे द्वारका प्रस्थान का भूत मुझपर सवार हो चुका था।

“यथाशीघ्र न, शीघ्र तो जाना नहीं चाहते।” युधिष्ठिर ने मुसकराते हुए कहा। मैं अपने ही शब्दों के घेरे में आ गया। मुसकराते हुए चुप होने के अतिरिक्त अब मेरे लिए कोई उपाय नहीं था।

वस्तुतः अब मेरा मन यहाँ लग नहीं रहा था। गत रात मैंने एक विचित्र स्वप्न देखा था। देखा कि मैं खांडवप्रस्थ की अग्नि में जल रहा हूँ। मेरे माता-पिता, नाना और अन्य लोग मुझे बाहर आने के लिए पुकार रहे हैं। फिर भी मैं निकल नहीं पा रहा हूँ। वहीं से उन्हें आश्वस्त कर रहा हूँ—‘घबराइए नहीं। अग्नि मुझे जला नहीं सकती। पवन मुझे सुखा नहीं सकता।’ मैं उनके अज्ञान पर हँस रहा हूँ।

फिर एक काँपते स्वर ने मुझे हिला दिया—‘आखिर तुम कब आओगे? जब मैं मर जाऊँगा तब? मेरी अंत्येष्टि करने? क्योंकि वह तुम्हारे सिवाय कोई कर नहीं सकता।’

इसके बाद मैंने देखा कि वे स्वयं आग में कूद पड़े। मैं घबराकर जाग गया। प्रातः मैंने सात्यकि, भैया, उद्धव आदि से इस स्वप्न की चर्चा की। सबने कहा कि अब हमें द्वारका चलना चाहिए।

उद्धव बोला, “कब से आपसे कह रहा हूँ। वस्तुतः नानाजी के रूप में द्वारका के अस्तित्व ने आपको पुकारा है।”

“नानाजी का स्वास्थ्य तो ठीक है?” मैंने पूछा।

“अब उनके स्वास्थ्य के बारे में क्या कहा जाए!” उद्धव बोला, “वास्तव में कंस के कारावास में ही वे काफी जीर्ण हो गए थे। अब तो वयोवृद्ध हैं। अब उनकी स्वस्थता एवं अस्वस्थता के बीच की रेखा अत्यधिक क्षीण हो गई है। बहुधा शय्या सेवन करते हैं। इस बार वे आपको बहुत याद कर रहे थे। उनकी आँखें भर आई थीं।”

“लगता है, कल रात भी वह मुझे याद कर रहे होंगे। मैं बहुधा अनुभव करता हूँ कि जब कोई मुझे हृदय से याद करता है तब मैं ऐसा ही व्यग्र हो जाता हूँ। अब हम लोगों को खांडवप्रस्थ शीघ्रातिशीघ्र छोड़ देना चाहिए।”

“प्रश्न हमारे छोड़ने का नहीं है।” उद्धव बोला, “क्या खांडवप्रस्थ हमें छोड़ेगा?”

“उसके न छोड़ने पर भी हम उसे छोड़ सकते हैं।” मैंने कहा, “मोह को भोगते हुए भी मैं मोह को छोड़ना जानता हूँ।” इसके बाद मैंने बड़ी दृढ़ता से कहा, “आप लोग तैयारी करें।” मैंने रक्ताक्ष को भी बुलाकर निर्देश दिया—“साथ चलनेवाले सैनिकों से भी तैयार रहने को कहें, हम किसी भी समय द्वारका के लिए प्रस्थान कर सकते हैं।”

मैंने मन में सोचा कि अब विलंब करना उचित नहीं है। चातुर्मास भी निकट आता जा रहा है और जहाँ तक हो, चातुर्मास के पूर्व ही हमें द्वारका पहुँच भी जाना चाहिए। मैंने यह भी मन-ही-मन निश्चय किया कि महाराज द्वारा बुलाई बैठक में अपनी स्थिति बता दूँगा।

मैं अपने सभी साथियों के साथ सभा में उपस्थित था। यहाँ तक कि रक्ताक्ष को भी लेता गया था। इससे महाराज प्रसन्न ही थे। युधिष्ठिर की एक विशेषता थी कि हर राजनीतिक समस्या सहमति से सुलझाना चाहते थे; क्योंकि उनके पास कुछ भी गोपनीय नहीं था।

इस समय भी बस एक ही विषय था। खांडवप्रस्थ भस्म हो गया, अब वहाँ नया नगर कैसे बसाया जाए। अभी बहुत से लोग ऐसे थे, जो हस्तिनापुर से आना चाहते थे; पर यहाँ उन्हें उपयुक्त जगह नहीं मिल रही थी। यों स्थान

तो बहुत था, वह सभी रह सकते थे; पर हर व्यक्ति की इच्छा थी कि वह राजभवन के समीप ही रहे। जनता की इसी मानसिकता ने स्थान-संकोच पैदा किया था।

महाराज चाहते थे कि खांडवप्रस्थ को एक व्यवस्थित नगर के रूप में विकसित किया जाए। इस विषय में उन्होंने सीधे मुझसे कहा, “आप लोगों ने तो समुद्र के वक्ष पर द्वारका निर्मित की है। मैं अभी तक उसे देख तो नहीं पाया हूँ, पर उसके विचित्र और दर्शनीय होने की चर्चा हर व्यक्ति से सुनी है। हमारा सौभाग्य होता, यदि उतना अच्छा वास्तुकार हमें मिलता।”

“आपको तो मिला ही है।” मैंने कहा। फिर अर्जुन से पूछा, “तुमने मय को इस बैठक में नहीं बुलाया?”

अब अर्जुन ने महाराज की ओर देखा।

युधिष्ठिर बोले, “उसका बुलाया जाना उचित नहीं था। एक तो वह विजातीय, राक्षस और दूसरे हम उससे पूरे परिचित भी नहीं। वह इस अग्निकांड के समय ही आप लोगों की शरण में आया है।”

“पर वह परंपरागत श्रेष्ठ वास्तुकार है। उसके पूर्वजों ने बड़े-बड़े नगर बसाए हैं।” मैंने कहा।

“यदि आप लोगों की इच्छा हो तो उसे बुलाया जाए।” अर्जुन बोला, “अभी वह अतिथिभवन में ही है।”

इसके बाद वह तुरंत बुलाया गया। वह जिस स्थिति में था उसी स्थिति में चला आया। भीतर से डरा-डरा और भयभीत। खांडव दाह ने उसके मन में हमारी छवि एक प्रलयंकर के रूप में अंकित की थी। वह आशंकित था, पता नहीं मैं क्यों सभा के मध्य में बुलाया गया? हो सकता है, मेरे प्रति कोई निर्णय लिया गया हो।

वह आकर हाथ जोड़कर काँपता हुआ खड़ा हो गया। महाराज ने तुरंत उसे उचित मंचक पर बिठाने की व्यवस्था की और स्वयं ही कहा, “हम लोग आपसे सहयोग चाहते हैं।”

“आज्ञा कीजिए, महाराज।” मय बोला और फिर अर्जुन की ओर देखकर कहने लगा, “आपने मुझे जीवनदान दिया है। हम जीवन भर आपके उपकृत रहेंगे।”

“जीवन भर कौन उपकृत रहता है! और वह भी एक राक्षस!” युधिष्ठिर मुसकराते हुए बोले।

“मैं राक्षस अवश्य हूँ, महाराज! पर यह भी जानिए कि राक्षसों में हजार अवगुण हों, पर वे वचन के पक्के होते हैं। जो कहते हैं, उससे पीछे नहीं हटते। मैं अपने सामर्थ्य भर आपकी सेवा करने को तैयार हूँ; क्योंकि जीवनदान से बड़ा कोई दान नहीं होता।”

यह निश्चित था कि महाराज का उसे ‘राक्षस’ कहना छू गया था। इस प्रसंग में मैं और समय नष्ट करना नहीं चाहता था। मैंने बीच में ही हस्तक्षेप करते हुए कहा, “खांडव वन तो जल गया। अब हम इसके स्थान पर अद्वितीय विशाल नगर का निर्माण चाहते हैं।”

“नगर ही क्यों, राजभवन भी ऐसा हो कि हस्तिनापुर का भी वैभव उसके चरण चूमे।” इस बार द्रौपदी बोली। वस्तुतः उसके मुख से एक नारी की ईर्ष्या मुखरित हुई थी।

“ऐसा ही होगा, पट्टमहिषी।” मय बोला। फिर उसके अहं ने अपनी उपलब्धियाँ गिनानी आरंभ कीं—“हमारे पूर्वजों ने लंका बनाई थी। मैनाक पर्वत के निकट वृषभराज का अद्भुत राजभवन बनाया था। अभी कुछ दिनों पूर्व हमारे बंधु-बांधवों ने द्वारका बनाई थी। हम खांडवप्रस्थ को भी बनाएँगे, फिर से बनाएँगे और बहुत अच्छा बनाएँगे।”

मय बोलता गया—“पर हमारी एक कठिनाई है। हम वास्तुकार हैं। हम आपके अप्रतिम नगर और राजभवन की कल्पना पहले मानचित्र पर उतारेंगे, उसके अनुसार निर्माण भी कराएँगे; पर स्वयं तो हम नगर का निर्माण कर नहीं सकते। हमें कुशल और अकुशल श्रमिक चाहिए। हमें सामग्री चाहिए।”

“श्रमिकों की व्यवस्था तो हो जाएगी।” महाराज का स्वर थोड़ा गंभीर हुआ—“पर वे कितने कुशल होंगे, इसे तो भगवान् ही जानें।”

“इसकी चिंता आप न करें। इसे मैं देख लूँगा।” मय बोला, “आपको मात्र सामग्री की व्यवस्था करनी है।” फिर इसके बाद उसने अपेक्षित वस्तुओं के नाम गिनाने आरंभ किए। ऐसा लगा कि उसे सब मौखिक याद हो। इससे उसकी योग्यता का अनुमान तो लग गया; पर अब भी प्रश्न अपने स्थान पर ही था कि इसे उपलब्ध कहाँ से किया जाए।

“कुछ की व्यवस्था तो मैं वृषभवर्मन के राज्य से करा दूँगा और कुछ की व्यवस्था आपको करनी पड़ेगी।” मय ने कहा।

“पर मेरे लिए यह कठिन है।” युधिष्ठिर बोले।

“आप लोगों के पराक्रम के आगे कुछ भी कठिन नहीं है।” फिर मय ने कहा।

“पराक्रम से वस्तुएँ जीती जा सकती हैं, लूटी जा सकती हैं, जिसे हम करना नहीं चाहते।” युधिष्ठिर ने कहा, “वैसे और कोई देने को तैयार नहीं होगा।”

“लोग भयभीत होकर भी देने को तैयार होते हैं।” मय बोला, “आप सोचते होंगे कि हमसे कौन भयभीत होगा; पर भय तो आंतरिक वस्तु है, वह आपको दिखाई नहीं देगा।” इतना कहने के बाद मय की मुद्रा बदली—“क्षमा करें, महाराज, मैं एक बात कहना भूल गया था।”

हम कोई जिज्ञासा व्यक्त करते, इसके पहले ही वह बोल पड़ा—“जब मैं आया था तब एक तपस्वी देवता बाहर खड़े थे। वे महाराज से मिलना चाहते थे; पर प्रहरियों ने उन्हें रोक रखा है।”

महाराज ने प्रहरियों के अज्ञान पर माथा ठोंका—“अरे, वे महर्षि अग्नि ही रहे होंगे। अब क्या होगा? उनके क्रोध का ताप उनके स्नेह की शीतलता से कई गुना अधिक होगा।” चिंतातुर महाराज स्वयं अपने सिंहासन से उठे उन्हें लिवा लाने के लिए। पर पता नहीं क्या सोचकर रुक गए और अर्जुन को यह कहते हुए भेजा कि क्षमा माँगकर उन्हें ससम्मान लिवा लाओ।

अर्जुन गया भी और तुरंत आकर सूचना दी कि वहाँ कोई नहीं है। प्रहरियों का कहना है कि एक ब्राह्मण आए अवश्य थे; पर जब उन्हें यह मालूम हुआ कि महाराज आवश्यक मंत्रणा में व्यस्त हैं, तो वह यह कहकर चले गए कि मैं बाद में आऊँगा।

“यह अच्छा नहीं हुआ।” महाराज की पहली प्रतिक्रिया थी—“यदि उन्होंने मिलने की बात कही है तो वे अवश्य ही आसपास कहीं होंगे।” उन्होंने खोजकर ससम्मान लाने के लिए अर्जुन को पुनः आदेश दिया और कहा, “इसके लिए यदि तुम चाहो तो मय को भी अपने साथ ले जा सकते हो।”

मय और अर्जुन दोनों चले गए।

अब मुझे अवसर मिला। मैंने द्वारका जाने की इच्छा पुनः व्यक्त की। सभा में एकदम सन्नाटा छा गया। मेरा यह कथन उन्हें आकस्मिक लगा। इतनी जल्दी उन्हें इस सूचना की अपेक्षा न थी। पांडव परिवार मुझे छोड़ने को तैयार नहीं था।

युधिष्ठिर ने बड़े भरे मन से कहा, “जिस बिरवे को आपने लगाया है, उसे आपकी देखभाल की आवश्यकता है।”

मैंने बलराम भैया की ओर देखा। फिर सबकी ओर से बोला, “यह आपकी महती कृपा है कि आप हमारी आवश्यकता का अनुभव करते हैं। वस्तुतः इसमें आवश्यकता कम और आपका हमारे प्रति मोह अधिक है। समय

के साथ-साथ एक स्वस्थ पौधे की तरह मोह भी दृढ़ होता जाता है। और इसकी कोई सीमा नहीं होती। आखिर किसी-न-किसी दिन आपको छोड़ना ही होगा और हमें जाना ही होगा।”

“पर उस दिन को अभी नहीं आना चाहिए।” महाराज ने कहा।

“काल पर यदि हमारा नियंत्रण होता तो वह अभी न आता।” मैंने हँसते हुए कहा, “पर वह आ गया। जिस वृक्ष को हरा-भरा और लहराता हुआ हम छोड़कर आए थे (मेरा संकेत द्वारका से था), अब झुलसती आँधियों के चपेट में है। अब इधर की समस्याएँ भी लगभग हल हो चुकी हैं। हस्तिनापुर का विभाजन हो चुका। दोनों के बीच में दीवार खड़ी हो गई। आप अलग, कौरव अलग। खांडव वन भी भस्म हो गया। अब न बाहर से डर, न आंतरिक भय। प्रजा आज्ञाकारी और हर प्रकार के सहयोग के लिए तैयार। नियति भी अनुकूल दीखती है। उसने मय जैसा शिल्पी आपको भेज दिया। ईश्वर चाहेगा तो ऐसा नगर बनेगा, जिससे बहुतों को ईर्ष्या हो। फिर जब आवश्यकता पड़ेगी, हम उपस्थित हो जाएँगे। इस समय तो हमें जाने दीजिए। द्वारका छोड़े बहुत दिन हो गए हैं।”

सभी सोच में पड़ गए। उस गंभीर मौन में एक सिसकन रेंग गई और द्रौपदी आँचल में मुँह ढके उठकर अंतःपुर में चली गई।

“इसका तात्पर्य है कि आप सीधे यहाँ से द्वारका जाएँगे?” महाराज बोले।

“नहीं, अभी हम हस्तिनापुर जाएँगे। प्रपितामही, पितामह, विदुर चाचा का आशीर्वाद लेने। महाराज और कौरवों से भी मिलूँगा। मामा के मस्तिष्क को पढ़ने की चेष्टा करूँगा। फिर आप लोगों के पुरोधा महर्षि धौम्य से भी मिलूँगा।” मैंने कहा, “आप विश्वास रखें, आप लोगों के विषय में पूर्ण आश्वस्त होने के बाद ही मैं जाऊँगा।”

पांडवों की व्यग्रता शमित दिखी। अब द्रौपदी को ढाढ़स बँधाना था। मैं चुपचाप उठा और अंतःपुर की ओर गया। मुझे देखते ही कंचुकी (अंतःपुर के प्रहरी) हट-बढ़ गए।

द्रौपदी के कक्ष में आकर देखा। वह आस्तरण में मुँह गड़ाए सिसक रही है। सिरहाने कुंती बुआ बैठी उसे धीरज बँधा रही हैं। मुझे देखते ही वह बोल पड़ी—“लो, कन्हैया आ गया।”

अब वह एकदम उठकर बैठ गई। उसकी सिसकन भभकने लगी—“आपने सारी समस्या तो देख ली, पर अब मेरी समस्या का क्या होगा?”

“तुम्हारी मूल समस्या के संबंध में नारदजी उपदेश कर गए हैं।” मैंने कहा, “अब क्या है तुम्हारी समस्या?”

“मेरी समस्या तो मेरे पति स्वयं हैं। उनकी धर्मभीरुता और उनकी सत्यनिष्ठा है। आप देख नहीं रहे हैं, वे अपना संकट स्वयं बुला लेते हैं।”

मैं हँस पड़ा।

“तुम अपने पतियों की विशेषताओं को ही अपनी समस्या मान रही हो!” मैंने कहा।

“इसलिए कि आज की जो नैतिक पतन की स्थिति है, उसमें जीवन के शाश्वत मूल्य सार्थक नहीं रहे।”

“जीवन के जो शाश्वत मूल्य हैं, वे हमेशा सार्थक रहेंगे। सामाजिक नैतिकता तो समयसापेक्ष और परिस्थितिजन्य है। वे बदलती रहेंगी, उनका उत्थान-पतन होता रहेगा; पर जीवन के शाश्वत मूल्य हमारे आदर्श हैं। आदर्श नहीं बदलता, मार्ग बदलता है। लक्ष्य नहीं बदलता, गति बदलती है।”

मैंने फिर एक नाटकीय मुसकराहट अपने अधरों के बीच उगाई—“फिर पति की समस्या का हल तो पत्नी ही ढूँढ़ सकती है या तो फिर...”

“भगवान् ढूँढ़ता है।” मेरे वाक्य को उसीने पूरा किया—“और मैं आपको अपना भगवान् मानती हूँ।”

“पत्नी के लिए तो पति ही भगवान् होता है। फिर भी यदि तुम मुझे भगवान् समझती हो तो सबकुछ मुझे समर्पित

कर दो और चिंताहीन हो जाओ।”

वह कुछ शांत अवश्य हुई, किंतु तुरंत ही बोल पड़ी—“पर व्यासजी की भविष्यवाणी का क्या होगा?”  
“वह तो होनी है, होगी ही। भवितव्यता है। तुम्हारा भोग है। उसे तो तुम्हें भोगना ही है। उस समय तुम्हारे पतियों के यही सत्य, धर्म और पराक्रम काम आएँगे, जो तुम्हें भोग लगते हैं।”

“फिर क्या तुम काम नहीं आओगे?” इतना कहकर वह मेरे तन से लिपटकर फफक पड़ी।

मुझे लगा कि सुभद्रा के अतिरिक्त मेरी एक बहन और भी है। मेरे मुख से निकला—“मैं अवश्य काम आऊँगा। जब भी तुम किसी संकट में होना, मुझे याद करना। मुझसे जो भी बनेगा, उठा नहीं रखूँगा।”

इसके बाद उसके आँसू थमने लगे। शायद वह मुझसे यही आश्वासन चाहती थी। फिर वह मुझे द्वार तक छोड़ने आई। मैंने देखा, सामने से अर्जुन आ रहा है। संभव है, वह मुझे बुलाने ही आ रहा हो।

“बस तुम यहीं तक।” छोड़ने आ रही द्रौपदी से भावभीने और स्नेहसिक्त स्वर में मैंने कहा। वह वहीं रुक गई। मैंने कुंती बुआ के चरण छुए और अर्जुन के साथ हो लिया।

अर्जुन ने राजभवन में ब्राह्मण देवता के पधारने का समाचार दिया और कहा, “मुझे तो कुछ विचित्र लगता है।”  
“क्यों?”

“उनकी आकृति पर ब्राह्मण की तपस्या नहीं, उसका कृत्रिम आवरण दिखाई देता है और उसके नीचे से झलकती है वैभव-विलास की गहरी रेखाएँ।”

“तुमने उनसे परिचय और पधारने का प्रयोजन नहीं पूछा?”

“पूछा था। उन्होंने कहा, ‘प्रयोजन केवल महाराज को बताऊँगा।’” अर्जुन बोला, “परिचय पूछने पर तो वे मानो अट्टहास ही करने लगे। बोले, ‘कहीं पुत्र पिता से परिचय पूछता है!’ फिर उन्होंने मुझसे ही प्रश्न किया—‘अच्छा बताओ, मैं तुम्हें पिता जैसा नहीं लगता?’

“‘लगते तो हैं, उससे भी अधिक।’”

अर्जुन ने बताया—“मैंने कह तो दिया, पर...”

“पर क्या? तुम तो ऐसा कहते हो कि तुमने उन्हें ‘पिता जैसा’ कहकर कोई बहुत बड़ी भूल की हो।” मैंने कहा, “किसीको पिता जैसा कहने का यह तात्पर्य तो नहीं है कि वह तुम्हारा पिता हो ही गया।”

इसी क्रम में अर्जुन ने एक बात और बताई—“मेरे और उस ब्राह्मण देवता के वार्तालाप के बीच मय बड़े रहस्यमय ढंग से मुसकरा रहा था। लगता है, वह ऐसा कुछ जानता है, जिसे हम नहीं जानते।”

“हो सकता है।” मैंने कहा और पूछा, “वे इस समय हैं कहाँ?”

“राजभवन में पधारे हैं, पर दरबार में खड़े ही हैं। महाराज ने उनसे बैठने के लिए बड़ा आग्रह किया; पर वे बैठे नहीं और कहा, ‘जब तक द्वारकाधीश नहीं आ जाते, मैं बैठूँगा नहीं।’”

अब मेरी जिज्ञासा के साथ ही मेरी गति भी तेज हुई। दरबार में आकर देखा तो अर्जुन की धारणा ठीक लगी। उनके व्यक्तित्व के किसी अंग में भी ब्राह्मण की तेजस्विता नहीं थी। उनकी पुष्ट एवं मांसल भुजाओं से पौरुष और पराक्रम की स्पष्ट आभा थी; पर उसमें तप की दाहकता नहीं थी।

मेरे पहुँचते ही अभिवादन के बाद वे बैठ गए।

फिर हम सबकी जिज्ञासा महाराज ने मुखर की—“कहिए, आप कैसे पधारे?”

“ब्राह्मण तो कुछ माँगने ही आता है।”

“माँगिए; पर यह समझ लीजिएगा कि मैं क्या देने की स्थिति में हूँ।” महाराज युधिष्ठिर के स्वर में अकिंचनता थी।



“मैं कुछ और नहीं, केवल आपकी मित्रता माँगता हूँ।”

“यह ब्राह्मणों की तरह माँगना तो हुआ नहीं।” मैंने तुरंत उन्हें टोका—“सत्ताधारी की मित्रता तो कोई सत्ताधारी ही माँग सकता है।”

इसपर मय जोर से हँस पड़ा।

लोग मय का अट्टहास देख रहे थे और मेरी दृष्टि उस ब्राह्मण पर थी। मुझे याद आ रही थी मय की कही बात—‘देखिएगा, इंद्र पराजित होते ही मित्रता का हाथ आपकी ओर बढ़ाएगा।’

“यह मेरा सौभाग्य है कि आप मेरी मित्रता चाहते हैं।” महाराज के कथन में बड़ी सहजता थी—“यों मैं किसीको भी अमित्र नहीं समझता।”

“पर आप अजातशत्रु भी नहीं हैं।” उस तथाकथित ब्राह्मण ने हँसते हुए कहा, “कदाचित् मुझसे अधिक मित्रता की आवश्यकता आपको है।”

मुझे आश्चर्य था कि युधिष्ठिर की सरलता अब तक अपने इस नए मित्र को पहचान नहीं पाई थी। वे बड़े सहजभाव से उसे देखते रह गए।

अब मैंने हस्तक्षेप किया।

“इन्हें आपका सहयोग चाहिए।” मैंने कहा, “सद्यः समस्या तो इनकी यह है कि हम लोग इस खांडवप्रस्थ को आधुनिक नगरी के रूप में विकसित करना चाहते हैं। इसके निर्माण में मय जैसे वास्तुकार की कला लगेगी। अब प्रश्न यह है कि सामग्री कहाँ से उपलब्ध की जाए?”

“जो भी आवश्यकता हो, मेरे यहाँ से माँगा लो।” उन्होंने मय से कहा, “और इसे आर्यावर्त का सर्वश्रेष्ठ नगर बना दो। हस्तिनापुर भी इसके पग की धूल लगे।”

“यही होगा।” मय ने सिर झुकाते हुए कहा, “फिर खांडवप्रस्थ खांडवप्रस्थ न रह जाएगा।”

“फिर क्या होगा?” युधिष्ठिर की सरलता एक नादान शिशु की तरह पूछ बैठी।

“तब यह इंद्रप्रस्थ हो जाएगा।” मैंने कहा और वह ब्राह्मण जोर से हँस पड़ा।

हममें से अनेक का अज्ञान अब भी उन्हें ब्राह्मण देवता ही समझ रहा था।

□□□